

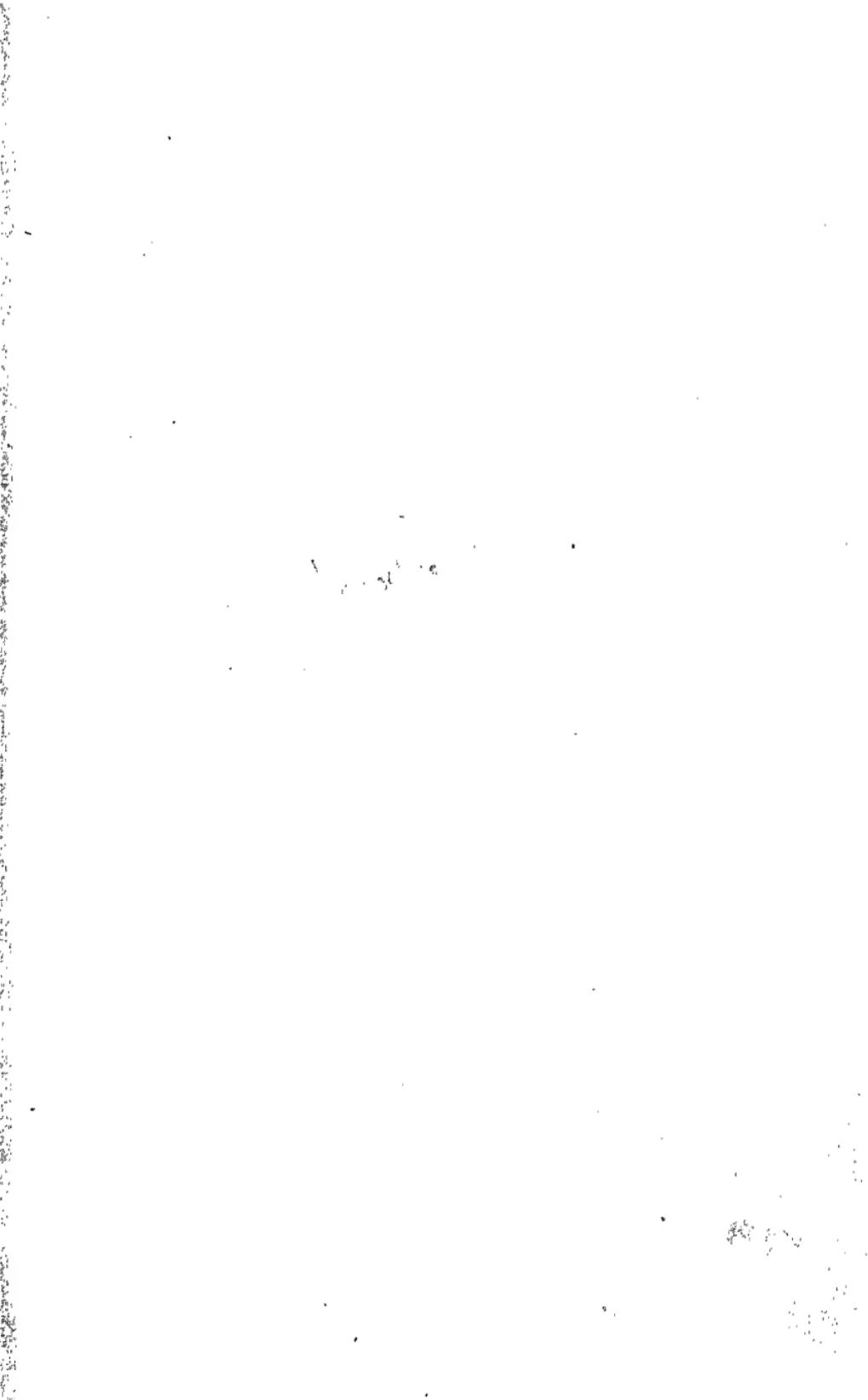
GOVERNMENT OF INDIA
DEPARTMENT OF ARCHAEOLOGY
**CENTRAL ARCHAEOLOGICAL
LIBRARY**

CLASS _____

4848

CALL NO. Sa8K.Asv/cha

D.G.A. 79.





अश्वघोष-कृत

बुद्धचरित

प्रथम भाग, संग १-१४

जन्मसे बुद्धत्व-प्राप्तिक

(सानुवाद)

4848



सम्पादक और अनुवादक

सूर्यनारायण चौधरी, एम० ए०

Sa8K
Asutcha

दृतीय संस्करण]

जनवरी १९५५ हॉ

{ मूल्य २।
सजिल्ड ३।

MUNSHI RAM MANOHAR LAL

SANSKRIT & HINDI BOOK-SELLERS

NAI SARAK, DELHI-6.

प्रकाशक
संस्कृत-भवन, कठोरिया
पो० काशा, जिला पूर्णिया
(बिहार)

**CENTRAL ARCHAEOLOGICAL
LIBRARY, NEW DELHI.**

Acc. No. 4848.

Date. ... 27/7/56.

Call No. Sa 8K/Asv/Ch.....

प्रथम संस्करण १०००

पौष १९९९ वि० सं०
२४८६ बु० सं०

द्वितीय संस्करण १०००

पौष २००४ वि० सं०
२४९१ बु० सं०

तृतीय संस्करण १६००

पौष २०११ वि० सं०
२४९८ बु० सं०

मुद्रक

ओमप्रकाश कपूर

ज्ञानमण्डल यन्त्रालय, वनारस,

४६२५-३१

निवेदन

जिस पवित्र इक्षवाकु-वंशमें दाशरथी रामका जन्म हुआ था, उसीमें शौद्धो-दनि सिद्धार्थ भी पैदा हुए थे। राम प्राग् ऐतिहासिक कालके हैं और सिद्धार्थ (= बुद्ध) आजसे लगभग ढाई हजार वर्ष पहले हुए थे। हजारों वर्षोंसे करोड़ों व्यक्ति प्रतिदिन राम और बुद्धको श्रद्धापूर्वक स्मरण करते हुए अपनेको उपवित्र करते आ रहे हैं। रामने कौटुम्बिक जीवन और सुराज्यका आदर्श उपस्थित किया, जब कि बुद्धने कुटुम्ब एवं राज-पाटको छोड़कर सत्य और सन्मार्गका स्वयं दर्शन किया और लोगोंको भी उसका उपदेश दिया।

बुद्धके परमभक्त साकेत-निवासी महाकवि अश्वघोषने “बुद्धचरित” नामक बुद्धका जीवनचरित लिखा है। “बुद्धचरित” एक उत्तम काव्य है, कलाकारकी कृति है। इससे भी बढ़कर इसमें सन्मार्गसे भटके हुए लोगोंके लिए कल्याण-कारी सन्देश है। कविके शब्दोंमें ही “मनुष्योंके हित व सुखके लिए, न कि विद्वत्ता या काव्य-कौशल दिखानेके लिए यह काव्य रचा गया”। वास्तवमें संस्कृत या पालिमें बुद्धकी ऐसी सुन्दर जीवनी और दूसरी देखनेमें नहीं आती।

अवश्य ही हमने “बुद्धचरित”की उपेक्षा की है। यही कारण है कि “बुद्धचरित” हमें अधूरा ही मिला और इसकी टीका एक भी उपलब्ध नहीं है। राष्ट्र-भाषा हिन्दीमें इसका कोई अनुवाद न देखकर, मैंने यह अनुवाद करनेकी कृष्टता की है, जिसके लिए, आशा है, उदार विद्वान् पाठक मुझे क्षमा करेंगे।

सुमनजीके परामर्श एवं प्रेरणासे अनुवादके साथ मूल संस्कृत भी देंदिया गया है। अनुवाद करनेमें डा० जौन्सटन-कृत अंग्रेजी अनुवादसे मुझे बड़ी सहायता मिली है। सातवें सर्ग तथा आठवेंके शुरूका अनुवाद सुधार्याशुजीने मेरे साथ बैठकर दुहरा देनेकी कृपा की है। पहले और चौदहवें सर्गके अप्राप्त १०० श्लोकोंके हिन्दी-अनुवादका आधार है डा० जौन्सटनका अंग्रेजी अनुवाद, जो कि तिब्बती अनुवादके आधारपर किया गया है और जो “बुद्धचरित”के द्वितीय भागमें पञ्चाब विश्वविद्यालय द्वारा प्रकाशित हुआ है।

अनुवादके कुछ अंश “धर्मदूत”, “प्राचीन भारत”, “आरती” और “जीवन-साहित्य”में छप चुके हैं।

तृतीय संस्करण

मैं संस्कृत साहित्य और बौद्धधर्मका विद्वान् तो नहीं हूँ; किन्तु संस्कृत साहित्यके लिए मेरे हृदयमें अनन्य अनुराग है और बौद्धधर्मके लिए अत्यन्त आदर। इस अनुपम मनोहर काव्यके माध्यमसे वर्णित बुद्धके पादन चरितके लिए मेरे चित्तमें अगाध श्रद्धा है।

बुद्धचरितकी प्रशंसामें चीनी यान्नी इर्सिंगने जो उद्वार* व्यक्त किया है उसमें कुछ भी अत्युक्ति नहीं है। विगत पन्द्रह वर्षोंमें मैंने बार-बार इस काव्य-चरितको पढ़ा है और अनुभव किया है कि इसमें सौन्दर्य, संगीत और पादनाथ है। इसे बार-बार पढ़कर भी पुनः-पुनः पढ़नेकी इच्छा बनी ही रहती है।

सम्पूर्ण पुस्तकका सावधानीसे अवलोकन कर मैंने अनुवाद और अन्य स्थलोंमें कुछ परिवर्तन और संशोधन किया है। यदि इस कार्यके लिए कुछ अधिक समय दे पाता तो इसमें कुछ और भी सुधार हो पाता। अनेक स्थलोंपर मैं इस द्विधिधासे मुक्त नहीं हो सका कि अनुवाद को अविकल और शाब्दिक ही रहने दिया जाय या उसमें कुछ परिवर्तन कर उसे सरल और भावात्मक बनाया जाय।

“अश्वघोष और उसकी कृतियाँ” शीर्षक भूमिकामें कोई विशेष परिवर्तन नहीं किया गया है। सौन्दरननदकी भूमिका बुद्धचरितकी भूमिकाकी अपेक्षा विस्तृत है और उसका पूरक भी। अतः विशेष जानकारीके लिए उसे भी देखना चाहिए।

पुस्तकके अन्तमें शब्दानुक्रमणी दी गई है। इसमें अप्रचलित अल्प-प्रचलित एवं व्याकरण-विरुद्ध शब्दोंके अतिरिक्त सांस्कृतिक बातोंपर प्रकाश डालनेवाले शब्दोंका समावेश है। विद्यार्थियोंके लिए उपयोगी लुड्ड व लिट लकारके अनेक प्रयोग एवं सञ्चन्त तथा क्षु-प्रत्यान्त शब्द भी अनुक्रमणीमें समाविष्ट हैं। अश्वघोषके प्रयुक्त कुछ साधारण शब्द भी इस सूचीमें रखे गये

* आगे पृष्ठ १० पर उद्धृत।

हैं, जो प्रथम सर्गके पुनरुद्धार-कार्यमें उपयुक्त हुए हैं या उसके लिए उपयोगी समझे गये हैं ।

प्रथम सर्गके आरम्भके अप्राप्त सात श्लोकोंमेंसे प्रथम श्लोकका पूरा तथा दूसरे श्लोकसे सातवें श्लोक तकका आंशिक मूलोद्धार जौनरटन-कृत है । पिछले छः श्लोकोंके अवशिष्ट अंशोंकी पूर्ति मैंने कर दी है । प्रथम सर्गके अप्राप्त श्लोक २५ से ४० ग तककी रचना मैंने अनुवादके आधारपर की है । मैंने इन श्लोकोंका मूलोद्धार तो नहीं किया है, किन्तु रिक्त स्थानोंकी पूर्तिमात्र कर दी है । सम्भव है कुछ अंशोंकी रचना बहुत-कुछ मूलके समान भी हुई हो ।

इस संस्करणमें एक परिशिष्ट भी जोड़ा गया है, जिसमें कई उपयोगी टिप्पणियाँ और पाठान्तर हैं ।

१९५० ई० के ९ अप्रैलको संरकृत-भवनमें आग लगी, जिससे बुद्धचरित प्र० भा० द्वितीय संस्करणकी १०१ प्रतियाँ जल गईं । आग लगनेसे हानि तो हुई ही, किन्तु यह लाभ भी हुआ कि बुद्धचरित प्र० भा० का यह नया संस्करण इस रूपमें कुछ पहले ही प्रकाशित हो सका ।

दिसम्बर
१९५४ ई० } }

सूर्यनारायण चौधरी

अश्वघोष और उसकी कृतियाँ

संस्कृतके अधिकांश कवियोंकी जीवनीके बारेमें हम बहुत कम जानते हैं। उन्हींमेंसे अश्वघोष भी एक है। इस कविका समय निरूपण करनेमें निष्ठ-लिखित बातें विचारणीय हैं :—

१—बुद्धचरितका चीनी अनुवाद पाँचवीं सदी के आरम्भ में हुआ था; अतः इसके पहले अश्वघोषने बुद्धचरित लिखा।

२—बुद्धचरितके अन्तिम सर्ग (२८१६३-६७) में अशोकका जो उल्लेख है उससे निश्चित है कि अश्वघोष अशोक (२७३-२३२ ई० पू०) के पीछे हुआ।

३—अश्वघोष और कालिदासकी शैलीसे प्रमाणित होता है कि अश्वघोष कालिदाससे शताब्दियों पूर्व हुआ था। साधारणतः कालिदास गुप्तकालका बताया जाता है।

४—चीनी परम्परागत कथाओंके अनुसार अश्वघोष कनिष्ठका समकालीन और अभिधर्मकी व्याख्या 'विभाषा' का लेखक बताया जाता है। कनिष्ठके राज्य-कालमें विभाषाकी रचना हुई थी, ऐसा कहा जाता है।

५—अश्वघोष-कृत शारिषुत्रप्रकरणकी पाण्डुलिपिके हस्त-लेख या लिपि को देखनेसे पता चलता है कि यह कनिष्ठ या हुविष्कके समयकी है—प्रो० ल्युडर्स (Lüders)।

६—“व्यवसायद्वितीयोऽथ……सोऽश्वत्थमूलं प्रथयौ”—बु० च० बारह ११५। नामसङ्गीतिकी व्याख्यामें मातृचेट्का यह वाक्य सुरक्षित है—“व्यवसाय-द्वितीयेन प्रासं पदमनुच्चरम्।” मातृचेट् द्वारा किया गया ‘व्यवसाय-द्वितीय’ पदका प्रयोग अच्छा नहीं है, क्योंकि उत्तम पद (= बुद्धत्व) प्राप्त करनेमें साथीकी जरूरत नहीं है। संभवतः मातृचेटने अश्वघोषका अनुकरण किया है। मातृचेट्-कृत ‘शतपञ्चाशतिक’ की शैली को देखते हुए भी यह कहा जाता है कि वह अश्वघोषकी शैलीसे पीछेकी है। मातृचेटने कनिष्ठको

एक पत्र लिखा था। अतः मातृचेट् कनिष्ठका समकालीन था और अश्वघोष कनिष्ठसे पहले हुआ था—डा० जौन्स्टन।

उपर्युक्त बातोंपर विचार कर हम कह सकते हैं कि अश्वघोष कनिष्ठका समकालीन था या उससे कुछ ही पूर्व हुआ था। कटिनाई० तो यह है कि कनिष्ठका समय भी निश्चित नहीं। बहुतसे लोग उसका समय प्रथम शताब्दीका अन्तिम चरण बताते हैं और द्वितीय शताब्दीके दूसरे चरणके बाद उसका समय कोई नहीं बताता। डा० जौन्स्टनका कहना है कि ५० ई० पू० और १०० ई० के बीच उस कविका प्रादुर्भाव हुआ था। आज १९४२ ई० में हम कह सकते हैं कि अश्वघोष आजसे प्रायः दो सहस्र वर्ष पूर्व हुआ था।

अश्वघोष सुवर्णाक्षीका पुत्र और साकेत-निवासी था*। उसका जन्म ब्राह्मण-कुलमें हुआ था और ब्राह्मण-धर्मकी ही शिक्षा-दीक्षा उसे मिली थी। उसके ग्रन्थोंको पढ़कर हम कह सकते हैं कि उसने हिन्दू धर्म-ग्रन्थों और शास्त्रोंका अवश्य अध्ययन किया होगा। बौद्ध-धर्मके गुणोंसे आकृष्ट होकर वह बौद्ध हो गया। स्वयं बौद्ध होकर ही वह सन्तुष्ट नहीं रहा; बल्कि उसका उपदेशक और प्रचारक भी हुआ। इस कामके लिए उसने काव्य और सङ्गीत का सहारा लिया था। उसके ग्रन्थ बौद्ध-धर्मके सुन्दर उपदेशोंसे भरे हैं और उनमेंसे कहींका मुख्य विषय तो धर्म-दीक्षा ही है। कहा जाता है कि गायकों और गायिकाओंकी टोली बनाकर बाजेके साथ जीवनकी अनित्यताके मनोहर गीत गा-गाकर वह लोगोंको अपने धर्मकी ओर आकृष्ट किया करता था। चीनी तीर्थ-यात्री इस्तिज्ज़, जिसने ६७१ ई० से ६९५ ई० तक भारत-भ्रमण किया था, बतलाता है कि अश्वघोष बौद्ध धर्मका प्रबल समर्थक था और उस समयके बौद्ध मठोंमें उसकी रचनाओंका गान हुआ करता था। ‘नागार्जुन’, ‘अश्वघोष’ और ‘देव’ को एक श्रेणीमें रखते हुए उसने यह भी कहा है कि ऐसे पुरुष प्रत्येक पीढ़ीमें एक या दो ही होते हैं। हुएनसाङ्गके अनुसार अश्वघोष, देव, नागार्जुन और कुमारलघु (= कुमारलात) चार सूर्य हैं, जिन्होंने विश्व को प्रकाशित किया था।

*“आर्यसुवर्णाक्षीपुत्रस्य साकेतकस्य भिक्षोराचार्यस्य भद्रनाश्वघोषस्य महाकर्वमहावादिनः कृतिरियम्”—कवि-कृत सौन्दरनन्दका अन्तिम वाक्य।

बौद्ध भिक्षु होनेके सिवा वह वाल्मीकि और कालिदासकी कोटिका महाकवि था । काव्य-विकासके क्रममें वह वाल्मीकिके बाद और कालिदासके पहले आता है । काव्यमें जिस तरह वह वाल्मीकिका ऋणी और उत्तराधिकारी था वैसे ही कालिदासं भी उसका ऋणी था । बौद्ध कवि होनेके हीं कारण वह भारतमें सदियों तक अज्ञात-सा रहा । गत कई दशकोंमें ही उसकी अधिकांश कृतियाँ खोज निकाली गई हैं, जिनमेंसे बहुत-सी, हमारे हुर्भाग्य-वश, खण्डित ही मिलीं ।

सूत्रालंकारः—

इसका मूल संस्कृत आज उपलब्ध नहीं है । ४०५ ई० में कुमारजीवने इसका चीनी भाषामें अनुवाद किया था । यह ग्रन्थ तत्कालीन पाली-जातकोंसे ली गई सुन्दर कथाओंका संग्रह है और बौद्ध धर्मके प्रचारका साधन है । इत्सिंगने भी सातवीं सदीके उत्तरार्द्धमें लिखे गये अपने यात्रा-विवरणमें अश्वघोष-प्रणीत सूत्रालङ्कारका उल्लेख किया है । आगे चलकर न मालूम कब मूल-ग्रन्थका लोप हो गया । हूवरने इसके चीनी भाषान्तरका फ्रैंच अनुवाद (पेरिस १९०८ में) किया है ।

मध्य एशियामें ल्युडस-द्वारा प्राप्त कुमारलातकी खण्डित कल्पना-मण्डितिका दृष्टान्तपंक्ति १९२६ ई० में प्रकाशित हुई । तबसे उस पुस्तक और सूत्रालङ्कारके प्रणेतृत्व और तादात्म्यके बारेमें भिन्न-भिन्न मत प्रतिपादित हुए हैं । मतान्तरोंका प्रधान कारण है इन दोनों ग्रन्थोंकी कथाओंका एक-सा होना । यहाँ इन सभी मतान्तरोंका उल्लेख और विवेचन न कर मैं केवल निष्ठ-लिखित मत उद्धृत करता हूँ—“कल्पनामण्डितिका दृष्टान्तपंक्ति और सूत्रालङ्कार एक नहीं हैं । पहली दूसरेका अनुकरण है, जो सौत्रान्तिकोंके उपयोगके लिए किया गया था । कुमारजीव-द्वारा अनूदित सूत्रालङ्कारका प्रणेता अश्वघोष है और क०८० का प्रणेता कुमारलात है ।”

महायानश्रुद्वोत्पादः—

महायान सम्प्रदायका एक दार्शनिक ग्रन्थ है । यह ग्रन्थ केवल दो चीनी संस्करणोंमें उपलब्ध है; इस ग्रन्थका प्रणेतृत्व विवादास्पद है । हुएनसांगकी जीवनीमें इसका प्रणेता ग्रसिद्ध अश्वघोष बताया गया है । किसी का कहना है

कि कवि अश्वघोष दार्शनिक अश्वघोषसे भिन्न है या यह किसी तीसरेका ही बनाया हुआ है और अश्वघोषकी प्रसिद्धिके ही कारण उसपर इसका प्रणेतृत्व आरोपित किया गया है। कुछ जापानी विद्वानोंके अनुसार यह संस्कृत-ग्रन्थ नहीं, वरन् चीनी ग्रन्थ है। जापानके स्कूलों और मठोंमें इसका खूब प्रचार है।

वज्र-सूचीः—

यह पुस्तक वज्रकी सूईकी तरह वर्ण-व्यवस्थाके समर्थकोंको चुभती है। इसमें श्रुति, स्मृति और महाभारतके उद्धरणोंसे ही वर्ण-व्यवस्थाकी कठोर आलोचना की गई है। “दुःख-सुख, जीवन-प्रज्ञा, व्यवसाय-व्यापार, जन्म-मरण, भय-काममें सब श्रेणीके लोग बराबर हैं।” इस तरह इस पुस्तकमें सभी मानव-श्रेणियोंकी जो समानता प्रतिपादित की गई है, इससे इस पुस्तकके यूरोपीय अनुवादक और सम्पादक मुग्ध हैं। इसके चीनी अनुवादकके अनुसार मूल-ग्रन्थका लेखक धर्मकीर्ति है।

गणडीस्तोत्र-गाथाः—

यह एक सुन्दर गेय कविता है; बुद्ध और संघकी स्तुति है। इसमें केवल २९ पद्य हैं। अधिकांश स्वग्भरा छन्द में हैं। एक यूरोपीय विद्वान् ने इसकी चीनी प्रतिलिपिके आधारपर फिर इसे मूल संस्कृतमें लिखा है।

राष्ट्रपालः—

स्वर्गीय सिलवाँ लेवीके अनुसार अश्वघोष शायद एक गेय नाटकका भी लेखक है। इसमें राष्ट्रपालकी कथा कही गई है।

शारिपुत्रप्रकरण आदि तीन नाटकः—

अत्यन्त प्राचीन समयमें ताल-पत्रपर लिखित तीन नाटकोंके अवशेष आप्त हुए हैं। एकके अन्तिम घाक्यसे इसका नाम, प्रणेताका नाम और अङ्ग-संख्या स्पष्ट है। ग्रन्थका नाम शारिपुत्रप्रकरण या शारद्वतीपुत्रप्रकरण है, प्रणेता है सुवर्णाक्षीका पुत्र अश्वघोष और अङ्गोंकी संख्या नौ है। शा० प्र० में उन घट-नाओंका वर्णन है, जिनके परिणामस्वरूप मौद्रगल्यायन और शारिपुत्र बुद्धद्वारा बौद्ध बनाये जाते हैं। अश्वजितसे मिलनेके बाद शारिपुत्र अपने मित्र विदूषकसे बुद्धके उपदेशक होनेके अधिकारके बारेमें बहस करता है। विदूषक कहता है कि शारिपुत्र-सरीखे ब्राह्मणको क्षत्रियका उपदेश ग्रहण नहीं करना चाहिए।

‘किन्तु जिस तरह जलसे ताप शान्त होता है उसी तरह नीच जातिके भी वैद्य-द्वारा दी गई दवा बीमारके लिए हितकर ही होती है’, यह कहकर शारिपुत्र अपने मित्रकी बात काट देता है। मौद्रगत्यायन शारिपुत्रसे मिलता है और उससे उसकी प्रसन्नताका कारण जानता है। दोनों बुद्धके पास जाते हैं। वह उनका सत्कार करते हैं और उनसे भावी ज्ञान-आदिके बारे में भविष्यद्वाणी करते हैं। प्रकरणके अन्तमें शारिपुत्र और बुद्धके बीच दार्शनिक वार्तालाप होता है। दोनों शिष्योंकी प्रशंसा कर बुद्ध भरत-वाक्य उच्चारण करते हैं।

रूपक अर्थात् ड्रामाके दस भेद हैं, उनमेंसे एक प्रकरण है। शारिपुत्रप्रकरण अधिकांश बातोंमें नाद्य-शास्त्रके और कुछमें व्यवहारके अनुकूल है। इस प्रकरणमें नौ अङ्क हैं; नायक धीर और प्रशान्त विप्र है; नायिका कुलजा स्त्री या वेश्या है, पता नहीं; कवि-कल्पना-द्वारा सच्ची घटना में परिवर्तन किया गया है:—ये बातें शास्त्रसम्मत हैं। अङ्कोंके नाम नहीं हैं, भरत-वाक्यके पहले ‘अतः परमपि प्रियमस्ति’ नहीं है और नायकके मुखसे भरत-वाक्यका उच्चारण नहीं हुआ—ये बातें व्यवहार-सम्मत हैं। सर्वज्ञ बुद्धके रहते हुए किसी औरके मुखसे भरत-वाक्यका उच्चारण उचित भी नहीं होता। अन्तिम अङ्कसे विदूषकं-का निकल जाना प्रकरण-कारकी सुरुचिका परिचायक है, वर्णोंकि बुद्धके उपदेश ग्रहणकर लेनेके बाद शारिपुत्रको विदूषक-जैसे मनोरञ्जक पात्रकी जरूरत नहीं रह जाती। दोनों नायक, बुद्ध और उनके शिष्य संस्कृत गद्य-पद्य में बोलते हैं। इन शिष्योंमें कौडिन्य और एक श्रमणक भी है। विदूषक प्राकृतमें बोलता है।

जिस ग्रन्थमें शारिपुत्रप्रकरण है उसीमें दो और रूपकोंके अवशेष हैं। अन्दाज किया जाता है कि इनका भी प्रणेता अश्वघोष ही होगा। इसके लिए कोई प्रबल प्रमाण नहीं है। दूसरे रूपकके अवशेष और अश्वघोषकी अन्य कृतियोंमें सादृश्य पाया जाता है। यह सादृश्य केवल शैलीमें ही नहीं, प्रत्युत उपमा लक्षमें पाया जाता है:—

“खे वर्षत्यम्बुधारं ज्वलति च युगपत् संध्याम्बुद् इव”—रूपक।

युगपञ्जवलन् ज्वलनवच्च जलमवसूजंश्च मेघवत्।

तत्कनकसदृशप्रभया स बभौ प्रदीप्त इव सन्ध्यया घनः ॥

यह नाटक एक खास तरहका है। बुद्धि, कीर्ति और धृति इसके पात्रोंमें से हैं। ये रङ्गमञ्चपर आकर बातचीत करती हैं और पीछे बुद्ध भी पधारते हैं। सभी पात्र संस्कृतमें ही बोलते हैं। बुद्धि कीर्तिसे कहती है—“नित्यं स सुस्त हृत यस्य न बुद्धिरस्ति”। इस नाटकका अवशेष अति अल्प है, अतः इसके बारेमें अधिक नहीं कहा जा सकता। ऐसा नाटक दसवीं शताब्दीतक, और कोई दूसरा नहीं मिलता। ग्यारहवीं शताब्दीमें कृष्ण मिश्रने इस तरहका प्रबोधचन्द्रोदय नामक एक नाटक लिखा था। बादमें ऐसे बहुतसे नाटक लिखे गये।

दूसरे नाटककी तरह तीसरेके नामका भी पता नहीं है। इसके पात्रोंमें मगधवती नामकी एक वेश्या, कौमुदगन्ध नामक एक विदूषक, शायद सोमदत्त नामक नायक, एक दुष्ट, धनञ्जय नामक शायद एक राजकुमार, एक दासी, शारिपुत्र और मौद्रगलयायन हैं। वेश्या, दासी और दुष्ट प्राकृतमें बोलते हैं और शेष संस्कृत में। एक जीर्ण उद्यान और वेश्याका घर नाटकके स्थान हैं, और पात्र-गण प्रवहण (= गाढ़ी)में चढ़ते हुए बताये जाते हैं—इन बातोंमें यह नाटक मृच्छकटिकसे मिलता-जुलता है। दूसरे नाटककी भाँति इसका भी अवशेष बहुत कम है, इसलिए इसके बारेमें भी अधिक नहीं कहा जा सकता; किन्तु यह नाटक भी बौद्ध-धर्म-विषयक है, इसमें सन्देह नहीं।

बुद्धचरित :—

यह एक महाकाव्य है, जिसमें बुद्धके सिद्धान्त और जीवन-वृत्तान्त हैं। संस्कृत-ग्रन्थमें केवल १७ सर्ग हैं जिनमें अन्तिम चार १९ वीं शताब्दीके आरम्भमें असृतानन्दद्वारा जोड़े गये हैं। पूरा ग्रन्थ नहीं मिलनेके कारण ही उसने ऐसा किया, यह वह स्वयं स्वीकार करता है। धर्मरक्ष, धर्मक्षेम या धर्माक्षर नामक एक भारतीय विद्वान् ने (४१४-२१ है०) इस काव्यका चीनी अनुवाद किया था, जिसमें २८ सर्ग हैं और कथा बुद्धके निर्वाणतक चली गई है। इसिंगके वर्णनसे भी पता चलता है कि उसे इस काव्यका यह बड़ा आकार मालूम था। सातवीं या आठवीं शताब्दीमें किये गये तिब्बती अनुवादमें भी २८ सर्ग हैं। महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री-द्वारा प्राप्त ग्रन्थ चौदहवें सर्गके मध्य तक ही जाता है। निस्सन्देह संस्कृत-बुद्धचरित अधूरा है। कहा जाता है कि

तिव्रती अनुवाद इतना अविकल है कि उसके आधारपर संस्कृतमें बुद्धचरितके अग्रास अंशोंका पुनरुद्धार हो सकता है।

बुद्धचरितकी मुक्तकण्ठसे प्रशंसा करता हुआ इत्सिग कहता है—“भारतके पाँचों प्रान्तों और दक्षिण सागरके देशों (= द्वीपों) में सर्वत्र इसका गान होता है। कविने कुछ ही शब्दोंमें अनेक अर्थ और भाव भर दिये हैं, जिससे पाठकका हृदय इतना आनन्दित हो जाता है कि वह इस काव्यको पढ़नेसे थकता ही नहीं।” निस्सनदेह यह एक कलाकारकी कृति है। विषयका प्रतिपादन सुन्दर और सुव्यवस्थित ढंगसे हुआ है। दृश्यवर्णन सजीव और प्रभावोत्पादक है। पाणिनिके व्याकरणसे कहीं-कहीं फर्क पड़ता है। कविता अनावश्यक अलङ्कारोंसे लदी नहीं है। चमत्कारपूर्ण या आश्र्यजनक घटनाओंके वर्णनमें कवि नियन्त्रित जान पड़ता है।

प्रणय-दृश्यका चित्रण महाकाव्यका एक आवश्यक अङ्ग माना जाता है। राजकुमारको लुभानेकी कोशिश करनेवाली सुन्दरियोंके निष्फल प्रयत्न दिखाकर ही कवि इस आवश्यकताकी पूर्ति करता है। महलसे निकलते राजकुमारको देखनेके लिए इकट्ठी हुई स्त्रियोंका सजीव चित्रण और महाभिनिष्क्रमणके समय सुस सुन्दरियोंका दृश्य कविके कामशास्त्र-विषयक ज्ञानका परिचायक है। चौथे सर्गमें कुलपुरोहितने राजकुमारको नीतिशास्त्रका जो उपदेश दिया है उससे कविके तत्सम्बन्धी ज्ञानका पता लगता है। युद्ध-वर्णन भी महाकाव्यका एक जरूरी अंग है। कविने मार और बुद्धका युद्ध दिखाकर काव्य-कौशलका परिचय दिया है।

अन्तिम पद्ममें ग्रन्थका प्रयोजन बताते हुए कविने कहा है कि काव्य-कौशल या पाण्डित्य दिखानेके लिए नहीं, किन्तु जगत्के सुख और उपकारके लिए यह ग्रन्थ रचा गया है। निरसनदेह इस ग्रन्थमें धनके पीछे उन्मत्त जगत् के लिए ओषधि है, विषय-सेवनके चिन्तनसे आकुल लोगोंके लिए सदुपदेश है और तृष्णासे दग्ध-संसारके लिए संतोष-न्युलका झरना है।

सौन्दरनन्दः—

यह एक अठारह सर्गोंका काव्य है। इसकी दो ही प्राचीन हस्तलिखित प्रतियाँ मिली हैं। दोनों दूषित तथा बुरी दशामें हैं और दोनों नेपाल महाराज

के पुस्तकालयमें सुरक्षित हैं। इनके आधारपर शुद्ध और कहीं-कहीं पूरा पाठ निश्चित करना असम्भव-सा है। सौन्दरनन्द बौद्ध धर्मके बहुमूल्य उपदेशोंसे भरा है। यह हीनयान सम्प्रदायका ग्रन्थ है, किन्तु कहीं-कहीं इसमें महायान-सम्प्रदायके सिद्धान्तोंका भी उल्लेख है। बुद्धके जीवन-सम्बन्धी जो कई दृश्य और घटनाएँ बुद्ध-चरितमें संक्षिप्त हैं या विलक्षण नहीं हैं वे ही सौन्दरनन्दमें विस्तारपूर्वक वर्णित हैं। इस दृष्टिकोणसे इसे बुद्धचरितका पूरक कहना बुरा न होगा।

सौन्दरनन्दमें सुन्दरी और नन्दकी ही कथा प्रधान है। सुन्दरी नन्दकी स्त्री थी और नन्द बुद्धका भाई था। नन्द सुन्दरीमें बड़ा आसक्त था। बुद्धने अनिच्छुक नन्दको अपने धर्ममें दीक्षित किया। पक्षीसे वियुक्त होकर नन्द बड़ा हुःखी हुआ, बहुत रोया और सुन्दरीके पास घर लौट जाना चाहा। भिक्षुओंने उपदेश-भरे शब्दोंमें उसे समझानेकी खूब कोशिश की, किन्तु सब व्यर्थ था। तब बुद्ध उसे लेकर हिमालयकी ओर गये। वहाँ एक कानी शाखामृगी दिखाते हुए उन्होंने पूछा—“हे नन्द, इस कानी बनरी और अपनी प्रियतमामेंसे तुम किसे अधिक रूपवती और विलासवर्ती समझते हो?” सुसकुराते हुए नन्द ने कहा—“हे भगवन्, कहाँ वह उत्तम स्त्री आपकी वधू और कहाँ यह पेड़को पीड़ा पहुँचानेवाली मृगी!” फिर इन्द्रलोकमें अप्सराओंको दिखाकर बुद्धने नन्दसे अप्सराओं और उसकी प्रियतमाके बीचका अन्तर पूछा। उसने उत्तर दिया—“हे नाथ, उस कानी मृगी और आपकी वधूमें जो अन्तर है वही है इन अप्सराओं और आपकी बेचारी वधूमें।” अब अप्सराओंपर मुग्ध होकर नन्द ने उन्हें पाना चाहा। बुद्धने बताया कि रूप, सेवा, बल या दानसे वे नहीं पाई जा सकतीं; उन्हें पानेका एकमात्र शुल्क या सफल साधन उत्तम तप है। तब वह तपस्वी हो गया और वीतरागकी भाँति आनन्द और विषादसे मुक्त हो गया। बुद्धके शिष्य आनन्दने नन्दको बताया कि स्वर्गके आनन्दोंका उपभोग क्षणिक है और स्वर्ग-निवास प्रवास-मात्र है, क्योंकि पुण्य क्षीण होनेसे लोग वहाँसे लौट आते हैं। आनन्दके वचनकी यथार्थता समझकर नन्द अप्सराओंसे विमुख हो गया। बुद्धके पास जाकर अपनी अवस्था बताते हुए उसने कहा—“(अब) मैं सभी हुःखोंके नाशक आपके परम धर्ममें ही आनन्द

पाता हूँ । अतः संक्षेप और विस्तारसे इसकी व्याख्या कीजिए, जिसे सुनकर मैं परम-पद पाऊँ ।” उसने बुद्धके उपदेश सुने, तदनुसार प्रयत्न किया और वह अर्हत् हो गया । कृतार्थ हो नन्दने बुद्धके दर्शन किये । गुरु और शिष्य एक दूसरेको देखकर प्रसन्न हुए । दोनोंने एक दूसरेकी हृदयसे तारीफ की । कृतज्ञ शिष्यने गुरुसे प्रतीकारका कुछ उपाय पूछा । गुरुने परोपकार करनेका आदेश दिया । शिष्यको सम्बोधित करते हुए उन्होंने कहा—“वही जन उत्तम से उत्तम माना जाता है जो उत्तम नैष्ठिक धर्म पाकर अपने परिश्रमका ख्याल न करता हुआ दूसरों को भी शम (=शान्ति) का उपदेश देता है । अतः, हे स्थिरात्मन्, रात्रिकालमें भटकते हुए तमोवृत जीवोंके बीच इस धर्म-प्रदीपको धारण करो । घरमें वधू भी तुम्हारा ही अनुकरण करती हुई स्थियोंको विरागका उपदेश देगी ।”

अन्तमें इस काव्यका प्रयोजन बताते हुए कविने कहा है—“प्रायः लोगों को विषय-रत् और मोक्ष-विमुख देखकर मैंने काव्यके बहाने सत्यका उपदेश दिया है । मोक्ष ही सबसे ऊपर है । इस (ग्रन्थ) में मोक्षके अतिरिक्त जो कुछ कहा गया है वह इसे काव्य-धर्मके अनुसार सरस बनानेके ही लिए (कहा गया है), जैसे कड़वी दवाको रुचिकर बनानेके लिए उसमें मधु मिलाया जाता है ।”

सङ्केत-सूची

अ० कौ० = अभिधर्म-कोष (राहुल सांकृत्यायन)

बु० वा० = बुद्धवाणी (वियोगी हरि)

सौ० = सौन्दरनन्द (सूर्यनारायण चौधरी)

क = श्लोकका प्रथम पाद

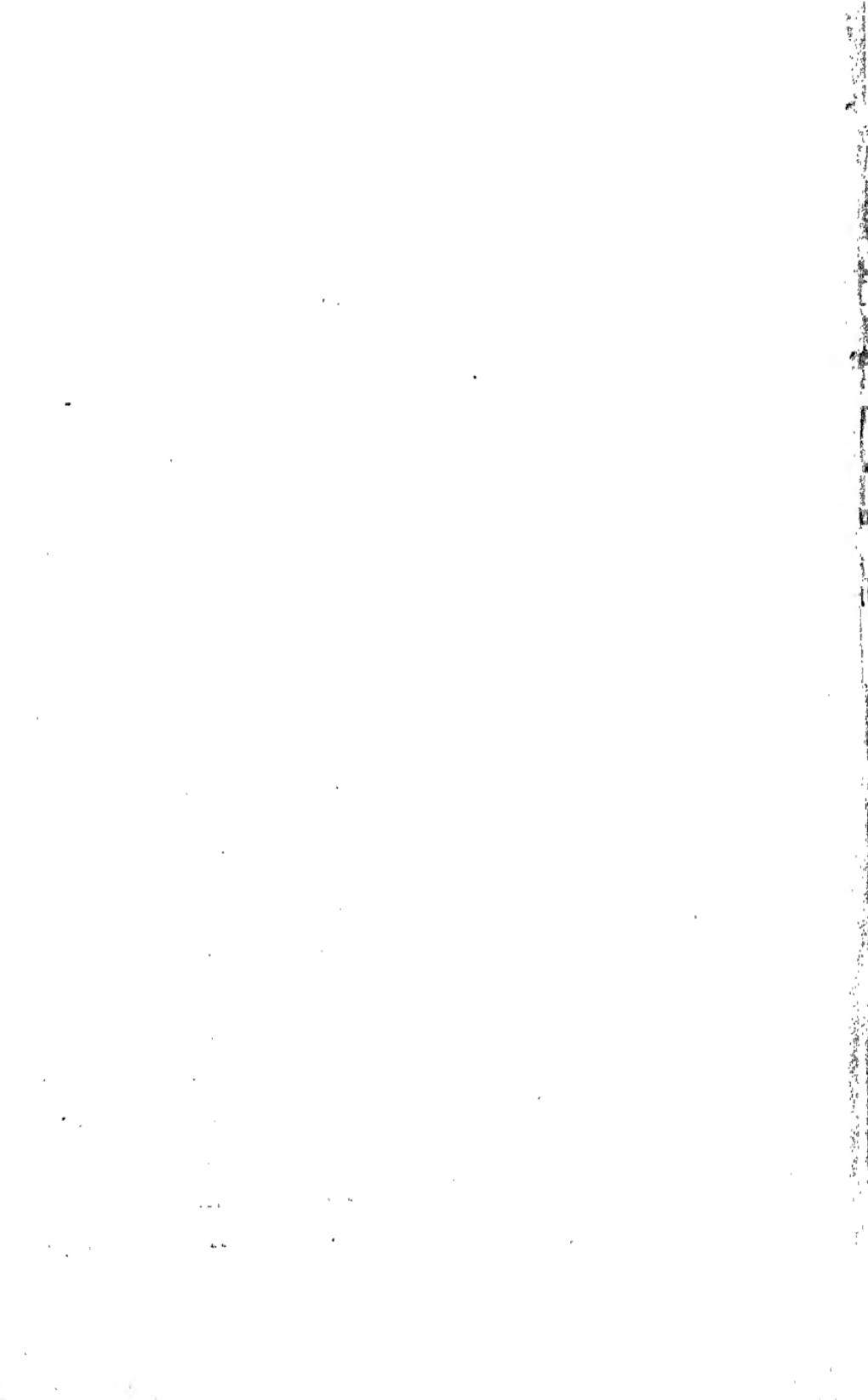
ख = „ द्वितीय पाद

ग = „ तृतीय पाद

घ = „ चतुर्थ पाद

विषय-सूची

विषय		पृष्ठ
निवेदन	...	१
अश्वघोष और उसकी कृतियाँ	...	४
संकेत-सूची	...	१२
विषय-सूची	...	१३
प्रथम सर्ग : भगवान्‌का जन्म	...	१
द्वितीय सर्ग : अन्तःपुर-विहार	...	१८
तृतीय सर्ग : संवेग-उत्सर्पन्ति	...	२९
चतुर्थ सर्ग : स्त्री-निवारण	...	४१
पञ्चम सर्ग : अभिनिष्क्रमण	...	५८
षष्ठ सर्ग : छन्दक-विसर्जन	...	७५
सप्तम सर्ग : तपोवन-प्रवेश	...	८७
अष्टम सर्ग : अन्तःपुर-विलाप	...	९८
नवम सर्ग : कुमार-अन्वेषण	...	११४
दशम सर्ग : बिस्बसारका आगमन	...	१२९
एकादश सर्ग : काम-निन्दा	...	१३७
द्वादश सर्ग : अराड-दर्शन	...	१५१
त्रयोदश सर्ग : मारकी पराजय	...	१७०
चतुर्दश सर्ग : बुद्धत्व-प्राप्ति	...	१८३
परिशिष्ट :	...	१९६
शब्दानुक्रमणी	...	१९९
शुद्धि-पत्र	...	२२८



बुद्धचरित

प्रथम सर्ग

भगवानका जन्म

[ऐश्वाक इश्वाकुसमप्रभावः शाकयेष्वशक्येषु विशुद्धवृत्तः ।
प्रियः शरचन्द्र इव प्रजानां शुद्धोदनो नाम वभूव राजा] ॥ १ ॥

इश्वाकु-वंशमें शुद्धोदन नामक राजा हुआ । वह अजेय शाक्योंका अधिपति था । इश्वाकुके समान प्रभावशाली था । उसका आचरण पवित्र था । अपनी प्रजाओंके लिए वह शरचन्द्रके समान प्रिय था ॥ १ ॥

[तस्येन्द्रकल्पस्य वभूव पत्नी] दीप्त्या नरेन्द्रस्य समप्रभावा ।
[पद्मेव लक्ष्मीः पृथिवीव धीरा मायेति नामनानुपमेव माया] ॥ २ ॥

उस इन्द्र-तुल्य राजाके शची-सदृश रानी थी, जिसकी दीप्ति राजाकी शक्ति-के समान थी । वह पद्माके समान सुन्दरी और पृथ्वीके सदृश धीर थी । अनुपम मायाके समान होनेके कारण उसका नाम महामाया हुआ ॥ २ ॥

—प्रथम सात मूल श्लोक अप्राप्त हैं । इन श्लोकोंके जो अंश [] कोष्ठके अन्तर्गत हैं वे जौन्स्टन-कृत मूलोद्धार हैं और शेषकी रचना अनुवादके आधारपर हमने की है । १ ‘ग’ के अन्तमें जौन्स्टनके ‘प्रजाम्यः’ के स्थानमें हमने ‘प्रजानां’ कर दिया है ।

सार्धं तयासौ विजहार राजा नाचिन्तयद्वैथ्रवणस्य लक्ष्मीं ।

[ततश्च विद्येव समाधियुक्ता गर्भं दधे पापविवर्जिता सा] ॥ ३ ॥

अपनी रानीके साथ विहार करते हुए उस नरपति ने मानो वैश्रवण (कुबेर) के परम ऐश्वर्यका उपभोग किया । तब वह निष्पाप (रानी) गर्भवती हुई, जैसे समाधि-युक्त विद्या फलवती होती है ॥ ३ ॥

प्रागगर्भधानान्मनुजेन्द्रपत्नी सितं ददर्श द्विपराजमेकं ।

स्वप्ने विशन्तं वपुरात्मनः सा [न तञ्चिमित्तं समवाप तापं] ॥ ४ ॥

गर्भधारण करनेसे पूर्व उसने स्वप्रमें एक श्वेत गज-राजको अपने शरीरमें प्रवेश करते देखा; किन्तु इससे उसे कुछ कष्ट नहीं हुआ ॥ ४ ॥

[सा तस्य देवप्रतिमस्य देवी गर्भेण वंशश्रियमुद्वहन्ती] ।

थ्रमं न लेभे न शुचं न मायां गन्तुं वनं सा निभृतं चकाङ्क्ष ॥ ५ ॥

उस देव-तुल्य राजकी रानी मायाने अपने गर्भमें अपने वंशकी श्रीको धारण किया । थ्रम, शोक और मायासे मुक्त होकर और विशुद्ध होकर, उसने पावन वन (जाने) की इच्छा की ॥ ५ ॥

[सा लुम्बिनीं नाम वनान्तभूमि चित्रद्रुमां चैत्ररथाभिरामां] ।

ध्यानानुकूलां विजनामियेष तस्यां निवासाय नृपं वभाषे ॥ ६ ॥

ध्यानके योग्य एकान्त वनकी इच्छासे, उसने विविध वृक्षोंसे युक्त चैत्ररथ उपवनके समान सुन्दर लुम्बिनी वनमें चलकर रहनेके लिए राजा से कहा ॥ ६ ॥

[आर्याशयां तां] प्रवणां च धर्मे [विश्वाय कौतूहलहर्षपूर्णः] ।

शिवात् पुरात् भूमिपतिर्जगाम तत्प्रीतये नापि विहारहेतोः] ॥ ७ ॥

भूपति ने कुतूहल और आनन्दके साथ उसकी धार्मिकतासे उसका उत्तम आशय जानकर, उसे प्रसन्न करनेके लिए, न कि विहार करनेके लिए, उस सुन्दर नगरको छोड़ा ॥ ७ ॥

३—क—या ‘प्रियासहायो विजहार राजा’

क—ख या ‘सार्धं तयासौ नृपतिश्च रेमे भेजे यथा वैश्रवणस्य लक्ष्मीं ।

४—ग—पा० ‘भूमिपतिः प्रतस्थे’ ।

तस्मिन्वने श्रीमति राजपती प्रसूतिकालं समवेक्षमाणा ।

शय्यां वितानोपहितां प्रपेदे नारीसहस्रैरभिनन्द्यमाना ॥ ६ ॥

उस सुन्दर वनमें प्रसव-काल समीप देखकर रानीने वितान-युक्त शस्याका आश्रय लिया । उस समय हजारों स्त्रियोंने उसका अभिनन्दन किया ॥ ८ ॥

ततः प्रसन्नश्च बभूव पुष्यस्तस्याश्च देव्या व्रतसंस्कृतायाः ।

पार्श्वात्सुतो लोकहिताय जश्वे निर्वेदनं चैव निरामयं च ॥ ९ ॥

तब पुष्य नक्षत्र प्रसन्न हुआ और व्रतसे पवित्र हुई रानीके पार्श्वसे लोक-हित-के लिए पुत्र उत्पन्न हुआ; रानीको न पीड़ा हुई और न रोग ॥ ९ ॥

ऊरोर्यथौर्वस्य पृथोश्च हस्तान्मान्धातुरिन्द्रप्रतिमस्य मूर्धनः ।

कक्षीवत इच्चैव भुजांसदेशात्तथाविधं तस्य बभूव जन्म ॥ १० ॥

जैसे और्वका जन्म जाँधसे, पृथुका हाथसे, इन्द्र-तुल्य मान्धाताका मस्तकसे, कक्षीवान्‌का काँखसे, वैसे ही उसका जन्म (पार्श्वसे) हुआ ॥ १० ॥

क्रमेण गर्भादभिनिःसृतः सन् बभौ च्युतः खादिव योन्यजातः ।

कल्पेष्वनेकेषु च भावितात्मायः संप्रजानन्सुषुप्ते न मूढः ॥ ११ ॥

काल-क्रमसे गर्भसे निकलनेपर, वह आकाशसे गिरे हुएके समान शोभित हुआ; (क्योंकि) वह जन्म-मार्गसे उत्पन्न नहीं हुआ था । अनेक कल्पोंमें उसने अपनेको पवित्र कर लिया था; अतः वह जागरूक होकर (स्मृति-संप्रजन्यके साथ) जन्मा, मूढ़ (मूर्ख, बेसुध) होकर नहीं ॥ ११ ॥ दीप्त्या च धैर्येण च यो रराज बालो रविर्भूमिमिवावतीर्णः ।

तथातिदीपोऽपि निरीक्ष्यमाणो जहार चक्षुंषि यथा शशाङ्कः ॥ १२ ॥

दीपि और धीरतामें वह भूतलपर अवतीर्ण बाल-सूर्यके समान शोभित हुआ । उस प्रकार अत्यन्त दीपिमान् होनेपर भी, देखे जानेपर, वह चन्द्रमाके समान आँखें हर लेता था ॥ १२ ॥

स हि स्वगात्रप्रभया ज्वलन्त्या दीपप्रभां भास्करवन्मुमोष ।

महार्हजाम्बूनदचारुवर्णां विद्योतयामास दिशश्च सर्वाः ॥ १३ ॥

अपने शरीरकी जलती प्रभासे उसने भास्करके समान दीप-प्रभाको हर लिया । बहुमूल्य-सुवर्ण-सूदश सुन्दर वर्णवाले (बालक) ने सब दिशाओंको प्रकाशित किया ॥ १३ ॥

अनाकुलान्युब्जसमुद्धृतानि निषेषवद्व्यायतविक्रमाणि ।
 तथैव धीराणि पदानि सप्त सप्तर्षितारासद्वशो जगाम ॥१४॥
 सप्तर्षि-तारा के समान वह सात पग चला, उसने ये लम्बे और अविचल
 पग धैर्यपूर्वक सीधे उठाकर दृढ़ताके साथ रखे ॥ १४ ॥
 वोधाय जातोऽस्मि जगद्वितार्थमन्त्या भवोत्पत्तिरियं ममेति ।
 चतुर्दिशं सिंहगतिर्विलोक्य वार्णो च भव्यार्थकरीमुवाच ॥१५॥

और उस सिंह-गतिने चारों ओर देखकर भविष्यद्वाणी की—“जगत्के
 हितके लिए ज्ञान अर्जन करनेके लिए मैं जन्मा हूँ, संसारमें मेरी यह अन्तिम
 उत्पत्ति है” ॥ १५ ॥

खात्प्रस्तुते चन्द्रमरीचिशुभ्रे द्रे वारिधारे शिशिरोणवीर्ये ।
 शरीरसंस्पर्शसुखान्तराय निषेततुर्मूर्धनि तस्य सौम्ये ॥१६॥

चन्द्र-किरण-सदृश दो जल-धाराएँ, एक शीतल और दूसरी गर्म आकाशसे
 स्वित हुईं और शरीर स्पर्शकर सुख देनेके लिए उसके सौम्य मस्तकपर
 गिरीं ॥ १६ ॥

श्रीमद्विताने कनकोउज्ज्वलाङ्के वैद्यर्यपादे शयने शयानम् ।
 यदगौरवात्काञ्चनपद्महस्ता यक्षाधिपाः संपरिवार्य तस्युः ॥१७॥

सुन्दर वितानसे युक्त, सुवर्णसे उज्ज्वल, वैद्यर्य मणिके पादवाले शयनपर
 वह पड़ा हुआ था । उसके गौरवके कारण यक्षपति-गण अपने हाथोंमें सुवर्ण-
 कमल लिए हुए उसे चारों ओर धेरकर खड़े हुए ॥ १७ ॥

(अदृश्यरूपाश्च) दिवौकसः स्वे यस्य प्रभावात्प्रणतैः शिरोभिः ।
 अधारयन् पाण्डरमातपत्रं वोधाय जेपुः परमाशिष्यश्च ॥१८॥

अदृश्य देवताओंने उसके प्रभावसे शिर छुकाकर आकाशमें श्वेत आतपत्र
 धारण किया और उसकी बुद्धत्व-प्राप्तिके लिए उत्तम आशीर्वाद दिये ॥ १८ ॥

महोरगा धर्मविशेषतर्षाद्बुद्धेष्वतीतेषु कृताधिकाराः ।
 यमद्यजन् भक्तिविशिष्टनेत्रा मन्दारपुष्पैः समवाकिरञ्च ॥१९॥

जिन्होंने अतीतके बुद्धोंकी सेवा की थी, उन बड़े-बड़े सर्पोंने धर्मविशेषकी
 प्याससे उसके ऊपर व्यजन हुलाये और भक्तिके कारण अपनी विलक्षण आँखोंसे
 (देखते हुए) मन्दार फूल बरसाये ॥१९॥

तथागतोत्पादगुणेन तुष्टाः शुद्धाधिवासाश्च विशुद्धसत्त्वाः ।
देवा ननन्दुर्विंगतेऽपि रागे मग्नस्य दुःखे जगतो हिताय ॥२०॥

तथागतके जन्मसे संतुष्ट होकर, विशुद्ध स्वभाववाले शुद्धाधिवास देव, स्वयं राग-रहित होनेपर भी, दुःखमग्न जगत्का (भावी) हित सोचकर, प्रसन्न हुए ॥२०॥
यस्य प्रसूतौ गिरिराजकीला वाताहृता नौरिव भूश्वचाल ।
सचन्दना चोत्पलपञ्चगर्भा पपात वृष्णिर्गगनादनभ्रात् ॥२१॥

उसके जन्ममें वह पृथ्वी, जो गिरिराज-रूप कीलसे स्थिर है, वायुसे आहत नावकी भाँति काँपी । मेघ-रहित आकाशसे चन्दन-मुवासित वृष्टि हुई, जिसमें लाल नीले कमल गिरे ॥२१॥

वाता वबुः स्पर्शसुखा मनोज्ञा दिव्यानि वासांस्यवपातयन्तः ।

सूर्यः स एवाभ्यधिकं चकाशो जज्वाल सौम्यार्चिरनीरितोऽग्निः ॥२२॥

स्पर्शसे सुख देनेवाली मनोहर वायु दिव्य बछोंकी वृष्टि करती हुई बहने लगी । वही सूर्य अत्यधिक चमका । विना सुलगाये ही आग सौम्य शिखाओंके साथ प्रज्वलित हुई ॥२२॥

प्रागुत्तरे चावसथप्रदेशो कूपः स्वर्य प्रादुरभूत्सिताम्बुः ।

अन्तःपुराण्यागतविस्मयानि यस्मिन् क्रियास्तीर्थं इव प्रचक्रुः ॥२३॥

आवास-भूमिकी उत्तर-पूर्व दिशामें सच्छ जलके कूपका आप ही आप प्रादुर्भाव हुआ, जहाँ विस्मित अन्तःपुर-वासियोंने उसी प्रकार क्रियाएँ कीं, जिस प्रकार तीर्थमें ॥२३॥

धर्मार्थिभूतगणैश्च दिव्यैस्तद्वर्णनार्थं वनमापुपूरे ।

कौतूहलेनैव च पादपेभ्यः पुण्याण्यकालेऽप्यवपातयद्धिः ॥२४॥

उसके दर्शनके लिए आये हुए धर्माभिलाषी दिव्य प्राणियोंसे वह वन भर गया । कुतूहल-वश उन्होंने पेड़ोंसे अकालमें भी (फूले) फूल गिराये ॥२४॥

भूतैरसौम्यैः (परित्यक्तहिंसै-) नरकारि पीडा स्वगणे परे चा ।

लोके हि सर्वाश्च विना प्रयासं रुजो नरणां शमयांबभूतुः ॥२५॥

२५—मूलके अप्राप्त इलोक २५-४० ग की पद्म-बद्ध रचना अनुवादके आधारपर हमने की है ।

उस समय विघ्नकारी प्राणी एकत्र हुए और उन्होंने एक दूसरेको क्लेश नहीं दिया। मानव-जातिके जो कुछ रोग थे सब अनायास ही दूर हो गये ॥२५॥

कलं प्रणेदुः सृगपक्षिणश्च शान्ताम्बुवाहाः सरितो बभूवुः ।
दिशः प्रसेदुर्विमले निरभ्रे विहायसे दुन्दुभयो निनेदुः ॥२६॥

मृग और पक्षी ऊँचे स्वरसे बोले नहीं और नदियाँ नीरव जलके साथ बहीं। दिशाएँ स्वच्छ हो गईं और आकाश निरभ्र होकर चमका। गगनमें देव-दुन्दुभियाँ बर्जीं ॥२६॥

लोकस्य मोक्षाय गुरौ प्रसूते शमं प्रपेदे जगदव्यवस्थं ।
प्राप्येव नाथं खलु नीतिमन्तं एको न मारो मुदमाप लोके ॥२७॥

जगत्के मोक्षके लिए गुरुका जन्म होनेपर संसार अत्यन्त शान्त हो गया, जैसे कुव्यवस्थाके बीच इसे शासक मिल गया हो। केवल कामदेवको आनन्द नहीं हुआ ॥२७॥

दिव्याद्भुतं जन्म निरीक्ष्य तस्य धीरोऽपि राजा बहुक्षोभमेतः ।
स्नेहादसौ भीतिप्रमोदजन्ये द्वे वारिधारे मुमुचे नरेन्द्रः ॥२८॥

अपने पुत्रका अद्भुत जन्म देखकर राजा धीर होनेपर भी वहुत क्षुब्ध हुआ और स्नेहके कारण आनन्द तथा भयसे उत्पन्न हुई दो अश्रु-धाराएँ (उसकी आँखोंसे) बहीं ॥२८॥

अमानुषीं तस्य निशम्य शक्ति माता प्रकृत्या (करुणाद्र्द्विचित्ता) ।
प्रीता च भीता च बभूव देवी शीतोष्णमिश्रेव जलस्य धारा ॥२९॥

ऊष्ण और शीतल जलके मिश्रणसे बनी धाराके समान रानी आनन्द और भयसे भर गई; क्योंकि एक ओर उसके पुत्रकी शक्ति (प्रभाव) अमानुषी थी और दूसरी ओर उसमें माताकी स्वामाविक दुर्बलता थी ॥२९॥

निरीक्षमाणा भयहेतुमेव ध्यातुं न शेकुः वनिताः प्रवृद्धाः ।
पूताश्च ता मङ्गलकर्म चकुः शिवं ययाच्चुः शिशवे सुरोद्यान् ॥३०॥

२९—क—वा ‘दृष्ट्वा विशालं तनय-प्रभावं’

ग—वा ‘प्रीत्या च भीत्या च बभूव युक्ता’

केवल भयके ही कारणोंको देखती हुई विशुद्ध बूढ़ी स्त्रियाँ ध्यान नहीं कर सकीं। अपनेको पवित्रकर तथा भाग्यनिर्माणकी क्रियाएँ कर, उन्होंने देवताओंसे सौभाग्यके लिए प्रार्थना की ॥३०॥

विप्राश्च खपाताः श्रतशीलवाग्मिः श्रुत्वा निमित्तानि विचार्य सम्यक्।

मुखैः प्रफुल्लैश्चक्तैश्च दीप्तैः भीतप्रसन्नं नृपमेत्य प्रोच्युः ॥३१॥

आचरण विद्या और वाग्मिताके लिए प्रसिद्ध ब्राह्मणोंने जब ये लक्षण सुने और उनपर विचार किया, तब उज्ज्वल, सार्थक और प्रसन्न मुखोंसे उन्होंने राजा से, जो भीत भी था और प्रसन्न भी, कहा:—॥३१॥

शमेष्पस्वो ये भुवि सन्ति सत्त्वाः पुत्रं विनेच्छन्ति गुणं न कञ्चित्।

त्वत्पुत्र एषोऽस्ति कुलप्रदीपः नृत्योत्सवं त्वद्य विधेहि राजन् ॥३२॥

“भूतलपर मनुष्य अपनी शान्तिके लिए पुत्रको छोड़कर कोई दूसरा गुण नहीं चाहते हैं। आपका यह प्रदीप आपके वंशका प्रदीप है, अतः आज आनन्द और उत्सव कीजिए ॥३२॥

विहाय चिन्तां भव शान्तचिन्तो मोदस्व वंशस्तव वृद्धिभागी ।

लोकस्य नेता तव पुत्रभूतः दुःखादितानां भुवि एष त्राता ॥३३॥

इसलिए पूरे धैर्यके साथ चिन्ता तजिए और प्रसन्न होइये; आपका वंश निश्चय ही उन्नत होगा। जो आपका पुत्र होकर उत्पन्न हुआ है, वह दुःखमें द्वंद्वे जगत्‌का उद्धार करेगा ॥३३॥

दीपप्रभोऽयं कनकोज्ज्वलाङ्गः सुलक्षणैर्यैस्तु समन्वितोऽस्ति ।

निधिर्गुणानां समये स गंता बुद्धर्षिभावं परमां श्रियं वा ॥३४॥

सुवर्णके समान उज्ज्वल और प्रदीपके समान चमकीले इस गुणवान्‌के लक्षणोंके अनुसार, वह निश्चय ही बुद्धर्षि होगा या पृथ्वीपर मनुष्योंके बीच चक्रवर्ती सम्राट् ॥३४॥

३१—ख—वा ‘श्रुत्वा निमित्तानि विचिन्त्य तानि’

३२—ख—पा० ‘कञ्चित्’के स्थानमें ‘तेऽन्यं’।

३३—ख—पा० ‘वृद्धिभागी’।

३४—क—पा० ‘दीपप्रदीपः’ ख—पा० ‘विभूषितोऽस्ति’।

इच्छेदसौ वै पृथिवीश्रियं चेत् न्यायेन जित्वा पृथिवीं समग्रां ।
भूपेषु राजेत् यथा प्रकाशः ग्रहेषु सर्वेषु रवेविभाति ॥३५॥

यदि वह पार्थिव सामाज्यकी इच्छा करे, तो अपने प्रभाव और धर्मके द्वारा पृथिवीपर सब राजाओंके ऊपर वह उसी प्रकार स्थित होगा, जिस प्रकार सब ग्रहोंके ऊपर सूर्यका प्रकाश ॥ ३५ ॥

मोक्षाय चेद्वा चन्मेव गच्छेत् तत्त्वेन सम्यक् स विजित्य सर्वान् ।
मतान् पृथिव्यां बहुमानमेतः राजेत् शैलेषु यथा सुमेहः ॥३६॥

यदि वह मोक्षकी इच्छा करे और वनको जाय, तो अपने ज्ञान और सत्य-के द्वारा सब सम्प्रदायोंको जीतकर वह पृथिवीपर उसी प्रकार स्थित होगा, जिस प्रकार पर्वतोंके मध्य गिरि-राज मेरु ॥ ३६ ॥

यथा हिरण्यं शुचि धातुमध्ये मेरुर्गीरीणां सरसां समुद्रः ।
तारासु चन्द्रस्तपतां च सूर्यः पुत्रस्तथा ते द्विपदेषु वर्यः ॥३७॥

जैसे धातुओंमें विशुद्ध सुवर्ण, पर्वतोंमें मेरु, जलाशयोंमें सागर, ग्रहोंमें चन्द्र और अग्नियोंमें सूर्य श्रेष्ठ है, वैसे ही मनुष्योंमें आपका पुत्र ॥ ३७ ॥

तस्याक्षिणी निर्निमिषे विशाले स्तिंघ्ये च दीप्ते विमले तथैव ।
निष्कम्पकृष्णायतशुद्धपक्षमे द्रष्टुं समर्थे खलु सर्वभावान् ॥३८॥

उसकी आँखें निर्निमेष होकर देखती हैं, वे निर्मल और विशाल हैं चम-कीली और स्तिंघ्य भी, स्थिर और खूब लम्बी काली पपनियोंवाली । उसकी आँखें सब कुछ देख सकती हैं” ॥ ३८ ॥

कस्मान्तु हेतोः कथितान्भवद्विः वरान्गुणान् धारयते कुमारः ।
प्रापुर्तं पूर्वं मुनयो नृपाश्च राजेति पृष्ठा जगदुस् द्विजास्तं ॥३९॥

तब राजाने द्विजोंसे कहा:—“क्या कारण है कि उत्कृष्ट गुण, जैसा आप कहते हैं, उसमें देखे जाते हैं, जब कि ये पहले के महात्मा राजाओंमें नहीं देखे गये ?” तब ब्राह्मणोंने उन्हें कहा:—॥३९॥

३६—घ—पा० ‘यथा हिमाद्रिः’ ।

३७—ग—या ‘तारासु चन्द्रो दहतां च भानुः’ ।

३८—घ—भाव = पदार्थः दे०—बु० च० ११४१; १२।२७

ख्यातानि कर्मणि यशो मतिश्च पूर्वं न भूतानि भवन्ति पदचात् ।
गुणा हि सर्वाः प्रभवन्ति हेतोः [निर्दर्शनान्यत्र] च नो निवोध ॥४०॥

“राजाओंकी बुद्धि, विख्यात कर्म और यशके सम्बन्धमें पहले और पीछेका प्रश्न नहीं है । यह बस्तु-स्वभाव है कि प्रत्येक कार्य कारणसे होता है, अतः हमारे दृष्टान्त आप सुनें ॥ ४० ॥

यद्राजशास्त्रं भृगुरङ्गिरा वा न चक्रतुर्वंशकरावृषी तौ ।
तथोः सुतौ सौम्य ससर्जतुस्तत्कालेन शुक्रश्च वृहस्पतिश्च ॥४१॥

हैं सौम्य, वंश चलानेवाले भृगु और अङ्गिरा नामक ऋषियोंने जिस राज-शास्त्रको नहीं बनाया उसे उनके पुत्रोंने—शुक्र और वृहस्पतिने—समय बीतनेपर सूजन किया ॥ ४१ ॥

सारस्वतश्चापि जगाद् नष्टं वेदं पुनर्यं ददृशुर्न पूर्वं ।
व्यासस्तथैनं बहुधा चकार न यं वसिष्ठः कृतवानशक्तिः ॥४२॥

(सरस्वतीके पुत्र) सारस्वतने नष्ट हुए वेदको कहा (= व्यक्त किया) जिसे पूर्वके लोगोंने देखा नहीं, और व्यासने इसे कई विभागोंमें (विभक्त) किया जिसे शक्तिहीन वसिष्ठने नहीं किया ॥ ४२ ॥

वाल्मीकिरादौ च ससर्ज पद्यं जग्रन्थ यद्य च्यवनो महर्षिः ।
चिकित्सितं यच्च चकार नात्रिः पश्चात्तदात्रेय ऋषिर्जगाद् ॥४३॥

पहले पहल वाल्मीकिने पद्य सूजन किया, जिसे महर्षि च्यवनने नहीं बनाया, और जिस चिकित्सा-शास्त्रको अत्रिने (सूजन) नहीं किया उसे बादको आत्रेय ऋषिने कहा ॥ ४३ ॥

यच्च द्विजत्वं कुशिको न लेभे तदगाधिनः सूनुरवाप राजन् ।
वेलां समुद्रे सगरश्च दध्रे नेक्षवाकवो यां प्रथमं बवन्धुः ॥४४॥

हे राजन् ! जिस द्विजत्वको (विश्वामित्रके पितामह) कुशिकने नहीं पाया उसे गाधीके पुत्र (विश्वामित्र)ने प्राप्त किया, और सगरने सागरकी वेला निश्चित की, जिसे शुरुमें इक्षवाकुओंने नहीं वाँधा ॥ ४४ ॥

४०—ग—पा० ‘धर्मा हि’ ।

४०—इलोक २५ से ४० ग तककी रचना हमारी है । ४० घ के [] कोषमें दो शब्द जौन्स्टनने रखे हैं ।

आचार्यकं योगविधौ द्विजानामप्राप्तमन्यैर्जनको जगाम ।
ख्यातानि कर्मणि च यानि शौरैः शूरादयस्तेष्वला बभूवुः ॥४५॥

योग-विधिमें द्विजोंका आचार्य होनेका जो पद दूसरोंको प्राप्त नहीं हुआ उसे जनकने पाया । शौरिने जो विख्यात कर्म किये उन्हें करनेमें शूर आदि असमर्थ हुए ॥ ४५ ॥

तस्मात्प्रमाणं न वयो न वंशः कश्चित्कच्चिच्छैष्यमुपैति लोके ।
राज्ञामृषीणां च हि तानि कृतानि पुत्रैरकृतानि पूर्वैः ॥४६॥

इसलिए प्रमाण न वयस है न वंश । संसारमें कोई भी कहीं भी श्रेष्ठता प्राप्त कर सकता है; क्योंकि राजाओं और ऋषियोंके पुत्रोंने वे वे काम किये जिन्हें उनके पूर्वजोंने नहीं किया ।” ॥ ४६ ॥

एवं नृपः प्रत्ययितैर्द्विजैस्तैराश्वासितश्चाप्यभिनन्दितश्च ।
शङ्कामनिष्टां विजह्वौ मनस्तः प्रहृष्टमेवाधिकमारुरोह ॥४७॥

उन विश्वस्त द्विजोंसे इस प्रकार आश्वासन और अभिनन्दन पाकर, राजा ने अपने मनसे अनिष्ट शंकाका त्याग किया और वह अत्यन्त प्रसन्न हुआ ॥४७॥

प्रीतश्च तेभ्यो द्विजसत्तमेभ्यः सत्कारपूर्वं प्रददौ धनानि ।
भूयादयं भूमिपतिर्यथोक्तो यायाज्ञरामेत्य वनानि चेति ॥४८॥

और प्रसन्न होकर उसने उन श्रेष्ठ द्विजोंको धन दिये, (जिससे) वह, उनके कथनानुसार राजा हो और बुद्धप्रेमें ही वनको जाय ॥४८॥

अथो निमित्तैश्च तपोबलाच्च तज्जन्म जन्मान्तकरस्य बुद्ध्वा ।
शाक्येश्वरस्यालयमाजगाम सद्वर्मतर्षादसितो महर्षिः ॥४९॥

तब निमित्तोंसे और तपोबलसे जन्मान्त-कर (जन्म-विनाशक) का वह जन्म जानकर महर्षि असित उत्तम धर्मकी प्याससे शाक्य-अधिपतिके घर आया ॥ ४९ ॥

तं ब्रह्मविद्ब्रह्मविदं ज्वलन्तं ब्राह्म्या श्रिया चैव तपःश्रिया च ।
राज्ञो गुरुर्गैरवसक्तियाभ्यां प्रवेशयामास नरेन्द्रसद्ग ॥५०॥

ब्राह्म तेज और तपःश्रीसे जलते हुए उस श्रेष्ठ ब्रह्मज्ञानीको राजगुरुने गौरव और सत्कारके साथ राजभवनमें प्रवेश कराया ॥ ५० ॥

स पार्थिवान्तःपुरसन्निकर्षं कुमारजन्मागतहर्षवेगः ।
विवेश धीरे वनसंहयेव तपःप्रकर्षाच्च जराश्रयाच्च ॥५१॥

कुमारके जन्मसे आनन्दित होकर वह राजाके अन्तःपुरके सभीप गया ।
अतिशय तपस्या तथा वृद्धावस्थाके कारण वह वहाँ इतना धीर था कि अपनेको
बनमें ही समझ रहा हो ॥५१॥

ततो नृपस्तं मुनिभासनस्थं पाद्यार्घ्यपूर्वं प्रतिपूज्य सम्यक् ।
निमन्त्रयामास यथोपचारं पुरा वसिष्ठं स इवान्तिदेवः ॥५२॥

तब मुनिके बैठनेपर, पाद्य और अर्घ्यके साथ उसकी सम्यक् पूजा कर,
राजाने उससे वैसे ही सविनय निवेदन किया, जैसे प्राचीन समयमें अन्तिदेवने
वसिष्ठसे ॥५२॥

धन्योऽस्यनुग्राहमिदं कुलं मे यन्मां दिवश्चुर्भगचानुपेतः ।
आज्ञाप्यतां किं करवाणि सौम्य शिष्योऽसि विश्रमिभतुर्महसीति ॥५३॥

“मैं धन्य हूँ और मेरा यह कुल अनुगृहीत है जो आप मुझे देखनेकी
इच्छासे आये हैं । हे सौम्य, आज्ञा कीजिए कि मैं क्या करूँ । आपका शिष्य
हूँ, मेरे ऊपर विश्वास कीजिए” ॥५३॥

एवं नुपेणोपनिमन्त्रितः सन्सर्वेण भावेन मुनिर्यथावत् ।
स विस्मयोत्कुलविशालद्विष्टम्भीरधीराणि वचांस्युवाच ॥५४॥

जब राजाने इस उचित रीतिसे समस्त सद्ग्रावके साथ मुनिसे निवेदन किया,
तब उसकी आँखें विस्मयसे विकसित तथा विशाल हो गईं और उसने ये
गम्भीर और धीर वचन कहे ॥५४॥

महात्मनि त्वद्युपपन्नमेतत्रियातिथौ त्यागिनि धर्मकामे ।
सत्त्वान्वयक्षानवयोऽनुरूपा स्तिरधा यदेवं मयि ते मतिः स्यात् ॥५५॥

“आप महात्मा, अतिथि-प्रिय, त्यागी और धर्मार्थीके ही यह योग्य है कि
अपने स्वभाव, वंश, ज्ञान और वयसके अनुरूप आपकी बुद्धि मेरे प्रति ऐसी
स्नेहमयी हो ॥५५॥

एतच्च तद्येन नृपर्षयस्ते धर्मेण सूक्ष्मेण धनान्यवाप्य ।
नित्यं त्यजन्तो विधिवद्वभूवुत्तपोभिराद्या विभवैर्दिद्राः ॥५६॥

और, यह वही मार्ग है जिसके द्वारा वे राजर्षि सूक्ष्म धर्मसे धन प्राप्त कर, नित्य विविवत् दान करते हुए, तपके धनी और धनके दरिद्र हो गये ॥५६॥
प्रयोजनं यत्तु ममोपयाने तन्मे शृणु प्रीतिमुपेहि च त्वम् ।
दिव्या मयादित्यपथे श्रुता वाग्वोधाय जातस्तनयस्तवेति ॥५७॥

किंतु मेरे आनेका जो प्रयोजन है उसे आप सुनिये और आनन्द पाइये ।
सूर्यके मार्गमें (आकाश-मार्गमें) मैंने (आपके प्रति कही गई) यह दिव्य-
वाणी सुनी — “तुझे पुत्र उत्पन्न हुआ है, जो बुद्धत्व प्राप्त करेगा” ॥५७॥
श्रुत्वा वचस्तच्च मनश्च युक्त्वा ज्ञात्वा निमित्तेश्च ततोऽस्मयुपेतः ।
दिव्यक्षया शाक्यकुलध्वजस्य शक्ख्वजस्येव समुच्छ्रुतस्य ॥५८॥

यह वचन सुनकर, मैंने मनोयोग किया और निमित्तों से बात जान ली ।
तब इन्द्रकी पताकाके समान शाक्य-कुलकी उन्नत पताकाको देखनेकी इच्छासे
यहाँ आया हूँ” ॥५८॥

इत्येतदेवं वचनं निशम्य प्रहर्षसंभ्रान्तगतिर्नरेन्द्रः ।
आदाय धात्र्यङ्कगतं कुमारं संदर्शयामास तपोधनाय ॥५९॥

इस प्रकार यह वचन सुनकर हर्षके कारण शीघ्रतासे राजाने धाईकी गोदसे
कुमारको लेकर तपस्वीको दिखाया ॥५९॥

चक्राङ्कपादं स ततो महर्षिर्जालावनद्वाङ्गुलिपाणिपादम् ।
सोर्णभ्रुवं वारणवस्तिकोशं सविस्मयं राजसुतं ददर्श ॥६०॥

तब उस महर्षिने राजाके पुत्रको विस्मयके साथ देखा, उसके पाँवोंमें चक्रके
चिह्न थे, अँगुलियाँ और हाथ-पाँव (रेखा-) जालोंसे भरे थे, भौंहें (धने)
बालोंसे युक्त थीं, मूत्राशय और (अण्ड-)कोश वैसे ही (भीतर धंसे) थे जैसे
हाथीके ॥६०॥

धात्र्यङ्कसंविष्टमवेक्ष्य चैनं देव्यङ्कसंविष्टमिवाग्निसूनुम् ।
वभूव पक्षमान्तविचञ्चिताश्रुर्निश्वस्य चैव त्रिदिवोन्मुखोऽभूत् ॥६१॥

देवीकी गोदमें सोये हुए अग्नि-पुत्रकी भाँति धाईकी गोद में सोये हुए इस
बालकको देखकर महर्षिकी पपनियोंपर आँखू आ गये और साँसें लेकर उसने
आकाशकी ओर सुख उठाया ॥६१॥

द्वष्टासितं त्वश्रुपरिप्लुताक्षं स्नेहाच्चनूजस्य नृपश्चकम्पे ।
सगद्रदं वाष्पकषायकण्ठः पप्रच्छ स प्राञ्जलिरानताङ्गः ॥६२॥

असितकी आँखें आँसूसे डबडबाई देखकर पुत्रके स्नेहसे राजा काँप उठा, उसका कण्ठ वाष्प (के अवरोध)से दुखने लगा और झुककर हाथ जोड़े हुए, उसने भग वाणीमें पूछा:—॥६२॥

अल्पान्तरं यस्य वपुः सुरेभ्यो वह्नदभुतं यस्य च जन्म दीप्तम् ।

यस्योच्चमं भाविनमात्थ चार्थं तं प्रेक्ष्य कस्माच्च धीर वाष्पः ॥६३॥

“जिसके शरीरमें देवताओं (के शरीर)से अल्प अन्तर है, जिसका उज्ज्वल जन्म बहुत अद्भुत है, जिसका भविष्य आप उत्तम कहते हैं, हे धीर, उसे देखकर आपको आँसू क्यों ? ॥६३॥

अपि स्थिरायुर्भगवन् कुमारः कच्छिन्न शोकाय मम प्रसूतः ।

लब्धा कथंचित्सलिलाञ्जिलमें न खलिवमं पातुमुपैति कालः ॥६४॥

हे भगवन्, कुमार निरायु तो है ? वह मेरे शोकके लिए तो नहीं जन्मा है ? किसी किसी तरह मुझे जो जलाञ्जिल प्राप्त होनेवाली है उसे पीनेके लिए काल तो नहीं आ रहा है (अर्थात् मेरे मरनेपर मुझे जलाञ्जिल देनेके लिए कुमार जीवित तो रहेगा) ? ॥६४॥

अप्यक्षयं मे यशसो निधानं कच्छिद्भ्रुवो मे कुलहस्तसारः ।

अपि प्रयास्यामि सुखं परत्र सुप्तोऽपि पुत्रेऽनिमिषैकचक्षुः ॥६५॥

मेरा यश-निधान अक्षय तो है ? मेरे वंश (-ज)के हाथमें राज्य श्रुत तो है ? सोये रहनेपर भी पुत्रके प्रति एक आँख खुली रखनेवाला मैं सुखपूर्वक परलोक तो जाऊँगा ? ॥६५॥

कच्छिन्न मे जातमफुलमेव कुलप्रवालं परिशोषभागि ।

क्षिप्रं विभो ब्रूहि न मेऽस्ति शान्तिः स्नेहं सुते वेत्सि हि वान्धवानाम् ॥६६॥

क्या मेरा यह वंशाङ्कुर, जो अभी जन्मा है, विना फूले ही सूखनेको है ? है विभु, शीघ्र कहिये, मुझे शान्ति नहीं है; क्योंकि पुत्रके लिए पिता का स्नेह तो आप जानते ही हैं ।” ॥६६॥

इत्यागतावेगमनिष्टबुद्ध्या बुद्ध्वा नरेन्द्रं स मुनिर्बभाषे ।

मा भून्मतिस्ते नृप काचिदन्या निःसंशयं तद्यदवोचमस्मि ॥६७॥

अनिष्टकी आशंकासे राजा आवेशमें आ गया है, ऐसा समझकर मुनिने कहा—“आप कुछ और न समझें। मैंने जो कहा है उसमें संशय नहीं है ॥६७॥

**नास्यान्यथात्वं प्रति विक्रिया मे स्वां वञ्चनां तु प्रति विकृतोऽस्मि ।
कालो हि मे यातुमयं च जातो जातिक्षयस्यासुलभस्य वोद्धा ॥६८॥**

इसके अनिष्टसे मुझे विकार नहीं हुआ है; मैं वञ्चित हो रहा हूँ, इसीलिए मैं विकल हूँ। मेरे (परलोक) जानेका यह समय आगया है, जब कि यह उत्पन्न हुआ है जो जन्म-विनाशके दुर्लभ उपायोंको जानेगा ॥६८॥

**विहाय राज्यं विषयेष्वनास्थस्तीवैः प्रयत्नैरधिगम्य तत्त्वम् ।
जगत्ययं मोहतमो निहन्तुं ज्वलिप्यति शानमयो हि सूर्यः ॥६९॥**

विषयोंसे विरक्त हो, राज्य छोड़, तीव्र प्रयत्नोंसे तत्त्वको ग्रास कर, यह शानमय सूर्य जगत्में मोहरूप तमको नष्ट करनेके लिए प्रज्वलित होगा ॥६९॥

दुःखार्णवादव्याधिविकीर्णफेनाज्जरातरङ्गान्मरणोग्रवेगात् ।

उत्तारयिष्यत्ययमुद्यमानमार्तं जगज्ज्ञानमहाप्लवेन ॥७०॥

दुःखरूप सागरसे—व्याधि ही जिसका फैला हुआ फेन है, वृद्धावस्था ही जिसकी तरंग है और मरण ही जिसका प्रचण्ड वेग है—बहते हुए आर्त जगत्को यह शानरूप महानौकाके द्वारा उबारेगा ॥७०॥

प्रज्ञाम्बुवेगां स्थिरशीलवप्रां समाधिशीतां व्रतचक्रवाकाम् ।

अस्योत्तमां धर्मनदीं प्रबृत्तां तृष्णादिंतः पास्थति जीवलोकः ॥७१॥

प्रज्ञा ही जिसका जल-प्रवाह है, स्थिर शील ही जिसके तट है, समाधि ही जिसकी शीतलता है और व्रत ही जिसके चक्रवाक है, उस उत्तम धर्म-नदीका वह प्रवर्तन करेगा और तृष्णासे पीड़ित प्राणि-जगत् (=जीवलोक) उस (के जल)को पीयेगा ॥७१॥

दुःखादितेभ्यो विषयावृतेभ्यः संसारकान्तारपथस्थितेभ्यः ।

आख्यास्यति ह्येष विमोक्षमार्गं मार्गप्रनष्टेभ्य इवाध्वगेभ्यः ॥७२॥

मार्गसे भटके हुए यात्रियोंके समान संसाररूप बनके पथमें पड़े हुए लोगोंको, जो दुःखसे पीड़ित और विषयोंसे लिप्त हैं, यह मोक्षमार्ग बतावेगा ॥७२॥

विद्वामानाय जनाय लोके रागाग्निनायं विषयेन्धनेन ।
प्रह्लादमाधास्यति धर्मवृष्ट्या वृष्ट्या महामेघ इवातपान्ते ॥७३॥

संसारमें विषयरूप इन्धनवाली रागाग्निसे जलते हुए लोगोंको यह धर्मवृष्टिसे बैसे ही आनन्दित करेगा, जैसे आतप (गर्भी)के अन्तमें (जल-) वृष्टिसे महामेघ ॥७३॥

तृष्णागर्लं मोहतमःकपाटं द्वारं प्रजानामपयानहेतोः ।
विपाटयिष्यत्ययमुत्तमेन सद्गर्मताडेन दुरासदेन ॥७४॥

प्राणियोंके निकलनेके लिए यह उस द्वार को, तृष्णा ही जिसका अर्गल है और मोहरूप अन्धकार ही जिसके किवाढ़ हैं, सद्गर्मके अप्रतिहत उत्तम प्रहारसे तोड़ डालेगा ।

स्वैर्मोहपाशैः परिवेष्टिस्य दुःखाभिभूतस्य निराश्रयस्य ।
लोकस्य संवृध्य च धर्मराजः करिष्यते बन्धनमोक्षमेषः ॥७५॥

बुद्धत्व प्राप्त कर, यह धर्मराज, अपने ही मोह-पाशोंसे परिवेष्टि, दुःखसे अभिभूत, और निराश्रय जगत्‌का बन्धन खोलेगा ॥७५॥

तन्मा कृथाः शोकमिमं प्रति त्वमस्मिन्स शोच्योऽस्ति मनुष्यलोके ।
मोहेन वा कामसुखैर्मदाद्वा यो नैषिकं श्रोष्यति नास्य धर्मम् ॥७६॥

अतः आप इसके लिए शोक न करें; इस मनुष्य-लोकमें उसके लिए शोक करना चाहिए जो काम-सुखसे होनेवाले मोहसे, या मदसे इसका नैषिक धर्म नहीं सुनेगा ॥७६॥

भ्रष्टस्य तसाच्च गुणादतो मे ध्यानानि लब्ध्वाप्यकृतार्थतैव ।
धर्मस्य तस्याश्रवणादहं हि मन्ये विपत्तिं त्रिदिवेऽपि वासम् ॥७७॥

इस पुण्यसे भ्रष्ट होकर ध्यान प्राप्त करनेपर भी मैं अकृतार्थ ही हूँ; क्योंकि उसका धर्म नहीं सुननेके कारण स्वर्ग-निवासको भी मैं विपत्ति ही मानता हूँ” ॥७७॥

इति श्रुतार्थः ससुहृत्सदारस्त्यक्त्वा विषादं सुमुदे नरेन्द्रः ।
पवंविधोऽयं तनयो ममेति मैने स हि स्वामपि सारवन्ताम् ॥७८॥

यह व्याख्या सुननेपर स्त्री और बन्धुओंके साथ विषाद छोड़कर राजा प्रसुदित हुआ । “मेरा पुत्र ऐसा है” इससे उसने अपना सौभाग्य समझा ॥७८॥

आर्थेण मार्गेण तु यास्यतीति चिन्ताविधेयं हृदयं चकार ।
न खल्वसौ न प्रियधर्मपक्षः संताननाशान्तु भयं ददर्श ॥७९॥

“ऋषिके मार्गपर यह चलेगा” इससे उसका हृदय चिन्तित हुआ । निश्चय ही वह ऐसा नहीं था कि उसे धर्मका पक्ष प्रिय नहीं, किंतु वंश-नाशसे होनेवाला भय उसने देखा ॥७९॥

अथ मुनिरसितो निवेद्य तत्त्वं सुतनियतं सुतविवलवाय राहे ।
सबहुमतमुदीक्ष्यमाणरूपः पवनपथेन यथागतं जगाम ॥८०॥

तब पुत्रके लिए विकल राजा से पुत्रके सम्बन्धमें तत्त्वको निवेदनकर, असित मुनि वायु-मार्गसे वैसे ही चला गया जैसे आया था और लोग सम्मानपूर्वक उसका रूप देखते रहे ॥८०॥

कृतमितिरनुजासुतं च वृद्धा मुनिवचनश्रवणे च तन्मतौ च ।
वहुविधमनुकम्पया स साधुः प्रियसुतवद्विनियोजयांचकार ॥८१॥

सच्च ज्ञान प्राप्त किये हुए उस मुनि (असित) ने अपनी बहिनके पुत्रको देखा और अनुकम्पा-वश प्रिय पुत्रके समान उसे मुनि (बुद्ध) का वचन सुननेके लिए तथा उसके विचारानुसार चलनेके लिए नियुक्त किया ॥८१॥

नरपतिरपि पुत्रजन्मतुष्टो विषयगतानि विमुच्य बन्धनानि ।
कुलसदशमचीकरद्यथावत्प्रियतनयस्तनयस्य जातकर्म ॥८२॥

पुत्र-जन्मसे संतुष्ट होकर राजा ने भी देशके सभी बन्धनों (= कैदियों) को छोड़ दिया और उस पुत्र-स्नेहीने पुत्रका जात-कर्म कुलके अनुकूल ही उचित रीतिसे कराया ॥८२॥

दशसु परिणतेष्वहःसु चैव प्रयतमनाः परया मुदा परीतः ।
अकुरुत जपहोममङ्गलाद्याः परमभवाय सुतस्य देवतेज्याः ॥८३॥

दस दिन पूरे होनेपर परम प्रसन्न होकर, उस संयमीने पुत्रके परम कल्याण-के लिए जप, होम और मंगल-कर्म आदिके साथ देवयज्ञ किये ॥८३॥

अपि च शतसहस्रपूर्णसंख्याः स्थिरबलवत्तनयाः सहेमशृङ्खीः ।
अनुपगतजराः परस्पिनीर्गाः स्वयमदात्सुतवृद्धये द्विजेभ्यः ॥८४॥

और भी, एक लाख परस्पिनी गाँँ जो वृद्धा नहीं हुई थीं, जिनके सींग सोनेसे मढ़े थे, और जिनके बछड़े दृढ़ बलवान् थे, पुत्रकी बढ़तीके लिए स्वयं द्विजोंको दीं ॥८४॥

बहुविधविषयास्ततो यतात्मा स्वहृदयतोषकरीः क्रिया विधाय ।
गुणवति नियते शिवे मुहूर्ते मतिमकरोन्मुदितः पुरप्रवेशो ॥८५॥

उस संयतात्माने अपने हृदयको संतोष देनेवाली भाँति-भाँतिकी क्रियाएँ कीं और गुण युक्त मंगल मुहूर्त नियत होनेपर, प्रसन्न होकर उसने नगरमें प्रवेश करनेका विचार किया ॥८५॥

द्विरदरदमयीमथो महार्हो सितसितपुष्पभृतां मणिप्रदीपाम् ।
अभजत शिविकां शिवाय देवी तनयवती प्रणिपत्य देवताभ्यः ॥८६॥

उस पुत्रवती देवीने मंगलकी लिए देवताओंको प्रणाम किया और वह शाथी-दाँतकी बनी बहुमूल्य पालकीपर, जो उजले-उजले फूलोंसे भरी थी और जिसमें मणि-प्रदीप जल रहे थे, चढ़ी ॥८६॥

पुरमथ पुरतः प्रवेश्य पत्नीं स्थविरजनानुगतामपत्यनाथाम् ।
नृपतिरपि जगाम पौरसंघीर्दंवमर्मघवानिवाच्यमानः ॥८७॥

बृद्धाओं और पुत्रके साथ पत्नीको आगेसे पुरमें प्रवेश कराकर, राजा भी वहाँ गया । पुरावासियोंने उसकी उसी तरह पूजा की, जैसे स्वर्गमें (प्रवेश करनेपर) इन्द्रकी देवताओंने ॥८७॥

भवनमथ विगाहा शाक्यराजो भव इव घण्मुखजन्मना प्रतीतः ।
इदमिदमिति हर्षपूर्णवक्त्रो बहुविधपुष्टियशस्करं व्यधन्त ॥८८॥

महलमें प्रवेश करनेपर, शाक्य-राज जैसे ही आनन्दित हुआ, जैसे कार्तिकैयके जन्म से शिव । प्रसन्नमुख होकर “यह करो, यह करो” कहते हुए राजाने वह सब कराये, जिनसे तरह-तरहकी बढ़ती और यश होता है ॥८८॥

इति नरपतिपुत्रजन्मवृद्ध्या सजनपदं कपिलाद्वयं पुरं तत् ।

धनदपुरमिवाप्सरोऽवकीर्ण मुदितमभूद्वलकूबरप्रसूतौ ॥८९॥

इति बुद्धचरिते महाकाव्ये भगवत्प्रसूतिर्नाम प्रथमः सर्गः ॥

राज-कुमारके समृद्धिकारी जन्मसे कपिलके नामका वह नगर जनपदके साथ इस प्रकार प्रमुदित हुआ, जैसे नलकूबरके जन्ममें अप्सराओंसे भरा कुबेरका नगर ॥८९॥

बुद्धचरित महाकाव्यका “भगवान्‌का जन्म” नामक
प्रथय सर्ग समाप्त ।

द्वितीय सर्ग

अन्तःपुर-विहार

आ जन्मनो जन्मजरान्तकस्य तस्यात्मजस्यात्मजितः स राजा ।
अहन्यहन्यर्थगजाश्वमित्रैर्वृद्धि यथौ सिन्धुरिचाभूवेगैः ॥ १ ॥

जन्म और जराके विनाशक उस आत्म-विजयी पुत्रके जन्म (-समय) से
वह राजा दिन-दिन धनसे, हाथी-घोड़ोंसे और मित्रोंसे उसी तरह बढ़ने लगा,
जैसे जल-प्रवाहोंसे नदी ॥ १ ॥

धनस्य रत्नस्य च तस्य तस्य कृताकृतस्यैव च काञ्चनस्य ।
तदा हि नैकान्स निधीनवाप मनोरथस्याप्यतिभारभूतान् ॥ २ ॥

क्योंकि तब धन, विविध रक्त, तथा बने और नहीं बने सोनेकी अनेक
निधियाँ उसने पाईं, जो मनोरथके लिए भी भार-स्वरूप थीं ॥ २ ॥

ये पद्मकल्पैरपि च द्विपेन्द्रैर्न मण्डलं शक्यमिहाभिनेतुम् ।
मदोत्कटा हैमवता गजास्ते विनापि यत्नादुपतस्थुरेनम् ॥ ३ ॥

हिमालयके मतवाले हाथी, जो पद्म-सदृश गजेन्द्रों द्वारा भी यहाँ नहीं लाये
जा सकते थे, अनायास ही उसकी सेवामें उपस्थित हुए ॥ ३ ॥

नानाङ्गचिह्नैर्नवहेमभाण्डैर्विभूषितैर्लङ्घस्तैस्तथान्यैः ।

संचुक्षुमे चास्य पुरं तुरङ्गैर्वलेन मैत्र्या च धनेन चासैः ॥ ४ ॥

और, नाना चिह्नों नव-सुवर्ण-भाण्डों और भूषणोंसे युक्त तथा लम्बे केसर-
वाले घोड़ोंसे, जो (सैन्य-) वल, मित्रता एवं धन द्वारा प्राप्त हुए थे, उसका
नगर क्षुब्ध हुआ ॥ ४ ॥

पुष्टाश्च तुष्टाश्च तदास्य राज्ये साध्योऽरजस्का गुणवत्पयस्काः ।
उदग्रवत्सैः सहिता बभूवर्बह्यो बहुक्षीरदुहश्च गावः ॥ ५ ॥

४—भाण्ड = अश्व-आभरण, घोड़ेका अलंकार ।

उसके राज्यमें गाँ^१ बहुत थीं । वे पुष्ट व सन्तुष्ट, साध्वी और निर्मल, उत्तम तथा बहुत दूध देनेवाली और उन्हें बछड़ोंसे युक्त थीं ॥५॥

मध्यस्थतां तस्य रिपुर्जगाम मध्यस्थभावः प्रययौ सुहृत्वम् ।

विशेषतो दाढ्यमियाय मित्रं द्वावस्य पक्षावपरस्तु नास ॥६॥

उसका शत्रु मध्यस्थ (= निष्पक्ष), मध्यस्थ मित्र, और मित्र विशेषतः दृढ़ हो गया । उसके दो ही पक्ष रहे, तीसरा पक्ष (शत्रु) नहीं रहा ॥६॥

तथास्य मंदानिलमेघशब्दः सौदामिनीकुण्डलमंडिताभ्रः ।

विनाशमवर्णशनिपातदोषैः काले च देशे प्रवर्चय देवः ॥७॥

और उसके लिए (वृष्टि) देवने, जिसके बादल विद्युन्मण्डलसे मणित थे, मन्द अनिल और मेघ-गर्जनके साथ, अश्म-वर्षा और बज्रपातके दोषोंके विना ही (उचित) समय और स्थानपर वृष्टि की ॥७॥

रुरोह सस्यं फलवद्यथर्तुं तदाकृतेनापि कृषिश्रमेण ।

ता एव चास्यौषधयो रसेन सारेण चैवाभ्यधिका बभूवुः ॥८॥

(अति) कृषि-श्रम किये विना ही फल-युक्त सस्य उचित कठुमें बढ़ा । और, उसके लिये वे ही ओषधियाँ रस एवं सारसे खूब भर गईं ॥८॥

शरीरसंदेहकरेऽपि काले संग्रामसंमर्द इव प्रवृत्ते ।

स्वस्थाः सुखं चैव निरामयं च प्रजाश्चिरे कालवशेन नार्यः ॥९॥

यद्यपि (प्रसव-) काल शरीरके लिए उतना ही संदेह-जनक (विपत्तिपूर्ण) है जितना कि युद्ध-संघर्ष, तथापि वित्तियोंने स्वस्थ रहते हुए, सुखपूर्वक और विना किसी रोगके समयपर प्रसव किया ॥९॥

पृथग्वतिभ्यो विभवेऽपि गर्हें न प्रार्थयन्ति स्म नराः परेभ्यः ।

अभ्यर्थितः सूक्ष्मधनोऽपि चार्यस्तदा न कश्चिद्विमुखो बभूव ॥१०॥

व्रतियोंको छोड़कर (अन्य) लोगोंने, चाहे उनका विभव कितना ही तुच्छ क्यों न हो, दूसरोंसे कुछ नहीं मांगा । और साथ ही कोई भी आर्य (सज्जन), चाहे उसका धन कितना ही सूक्ष्म क्यों न हो, मांगे जानेपर विमुख नहीं हुआ ॥१०॥

१०—व्रती=संन्यास-धर्मके नियम पालन करनेवाले ।

नागौरवो वनधुषु नाप्यदाता नैवावतो नानृतिको न हिंसः ।
आसीत्तदा कथनं तस्य राज्ये राज्ञो यथातेरिव नाहुपस्य ॥११॥

उस समय उसके राज्यमें, जैसे नहुपके पुत्र यथातिके राज्यमें, वनधुओंका असम्मान करनेवाला, अदाता, अव्रती, झूठा, और हिंसक कोई नहीं था ॥११॥

उद्यानदेवायतनाश्रमाणां कूपप्रपापुष्करिणीवनानाम् ।

चक्रः क्रियास्तत्र च धर्मकामाः प्रत्यक्षतः स्वर्गमिदोपलभ्य ॥१२॥

धर्मके अभिलापियोंने स्वर्गका मानो प्रत्यक्ष दर्शनकर उद्यान, देव-मन्दिर, आश्रम, कूप, पनसाले, पोखर और उपवन बनाये ॥१२॥

मुक्तश्च दुर्भिक्षभयामयेभ्यो हृष्टो जनः स्वर्ग इवाभिरेमे ।
पत्तीं पतिर्वा महिषीं पर्ति वा परस्परं न व्यभिचेरतुश्च ॥१३॥

दुर्भिक्ष भय और रोगसे मुक्ति होनेके हर्षमें लोग ऐसे सुखी थे, जैसे स्वर्गमें । पतिने पत्नीके विरुद्ध या पत्नीने पतिके विरुद्ध सदाचार भङ्ग नहीं किया अर्थात् दोनों एक दूसरेके प्रति सच्चे रहे ॥१३॥

कश्चित्सिष्वे रतये न कामं कामार्थमर्थं न जुगोप कश्चित् ।

कश्चिद्भनार्थं न चचार धर्मं धर्माय कश्चित्त्र चकार हिंसाम् ॥१४॥

किसीने रतिके लिए कामका सेवन नहीं किया, किसीने काम (-सेवन)के लिए धनकी रक्षा नहीं की । किसीने धनके लिए धर्माचरण नहीं किया, किसीने धर्मके लिए हिंसा नहीं की ॥१४॥

स्तेयादिभिश्चाप्यरिभिश्च नष्टं स्वस्थं स्वचक्रं परचक्रमुक्तम् ।

क्षेमं सुभिक्षं च वभूव तस्य पुरानरण्यस्य यथैव राष्ट्रम् ॥१५॥

शत्रुता और चोरी-आदि नष्ट हो गई । उसका राज्य स्वस्थ, स्वतन्त्र, विदेशके शासनसे मुक्त, सुखी और अन्नसे भरा था, जैसे प्राचीन कालमें अनरण्य का राज्य ॥१५॥

तदा हि तज्जन्मनि तस्य राज्ञो मनोरिवादित्यसुतस्य राज्ये ।

चचार हर्षः प्रणनाश पाप्मा जज्वाल धर्मः कलुषः शशाम ॥१६॥

११—अव्रती=धर्मके नियम पालन नहीं करनेवाला ।

तब उसके जन्ममें उस राजा के राज्यमें, जैसे सूर्य-पुत्र मनुके राज्यमें, मेलिनता भिटी और हर्षका संचार हुआ, पाप नष्ट हुआ और धर्म प्रज्वलित हुआ ॥१६॥

पर्वंविधा राजकुलस्य संपत्सर्वार्थसिद्धिश्च यतो बभूव ।
ततो नुपस्तस्य सुतस्य नाम सर्वार्थसिद्धोऽयमिति प्रचक्रे ॥१७॥

राजकुलकी ऐसी सम्पद और सब अर्थोंकी सिद्धि हूई, इसीलिए राजाने अपने पुत्रका नाम रखते हुए कहा—“यह सर्वार्थसिद्ध है” ॥१७॥

देवी तु माया विवृधर्षिकल्पं दृष्ट्वा विशालं तनयप्रभावम् ।
जातं प्रहर्षं न शशाक सोदुं ततो निवासाय दिवं जगाम ॥१८॥

अपने पुत्रका प्रभाव देवर्षिका-सा विशाल देखकर, देवी माया (हृदय में) उत्पन्न हर्षको न सह सकी और रहनेके लिए स्वर्ग चली गई ॥१८॥

ततः कुमारं सुरगर्भकल्पं स्नेहेन भावेन च निर्विशेषम् ।
मातृष्वसा मातृसमप्रभावा संवर्धयामात्मजवद्वभूव ॥१९॥

तब माताके समान प्रभावशाली मौसीने सुर-सन्तान-तुल्य कुमारको वैसे ही भाव और स्नेहसे अपने पुत्रके समान पाला ॥१९॥

ततः स वालार्क इचोदयस्यः समीरितो वहिरिवानिलेन ।
क्रमेण सम्यग्ववृधे कुमारस्ताराधिपः पक्ष इवात्मस्के ॥२०॥

तब उदयाचलपर स्थित सूर्यके समान, हवासे प्रेरित अग्निके समान और शूक्र-पक्षके चन्द्रमाके समान कुमार धीरे-धीरे अच्छी तरह बढ़ने लगा ॥२०॥

ततो महार्हणि च चन्द्रनानि रत्नावलीश्चौषधिभिः सर्गर्भाः ।
मृगप्रयुक्तान् रथकांश्च हैमानाचक्रिरेऽस्मै सुहृदालयेभ्यः ॥२१॥

वयोऽनुरूपाणि च भूषणानि हिरण्मयान् हस्तिमृगाश्वकांश्च ।
रथांश्च गोपुत्रकसंप्रयुक्तान् पुत्रीश्च चामीकररूप्यचित्राः ॥२२॥

तब उसके लिए लोग बहुमूल्य चन्दन, ओषधियोंसे भरे रक्त-हार, मृग-युक्त छोटे-छोटे स्वर्ण रथ, वयसके अनुरूप भूषण, सोनेके बने छोटे-छोटे हाथी, मृग और घोड़े, गो-वत्स-युक्त रथ, तथा चाँदी-सोनेसे रंग-विरंगी पुतलियाँ मित्रोंके घरोंसे ले आये ॥२१, २२॥

एवं स तैस्तौर्विषयोपचारैर्वयोऽनुरूपैरुपचर्यमाणः ।
बालोऽप्यवालप्रतिमो वभूव धृत्या च शौचेन धिया श्रिया च ॥२३॥

वयस्के अनुरूप उन-उन विषयोंसे इस प्रकार सेवित होता हुआ वह बालक होनेपर भी धैर्य, पवित्रता, बुद्धि और विभूतिमें बालक नहीं था ॥२३॥
वयश्च कौमारमनीत्य सम्यक् संप्राप्य काले प्रतिपत्तिकर्म ।
अलपैरहोमिर्बहुवर्षगम्या जग्राह विद्याः स्वकुलानुरूपाः ॥२४॥

कुमारावस्था बीतनेपर, समयपर उसका (उपनयन-) संस्कार विधिवत् हुआ ओर अपने कुलके अनुरूप विद्याएँ, जो बहुत वर्षोंमें साखी जाती हैं, उसने कुछ ही दिनोंमें सीख लीं ॥२४॥

नैःश्रेयसं तस्य तु भव्यमर्थं श्रुत्वा पुरस्तादसितान्महर्षेः ।
कामेषु सङ्गं जनयांवभूव वनानि यायादिति शाक्यराजः ॥२५॥

शाक्यराजने महर्षि असितसे पहले ही उसका परम कल्याण-प्रद भविष्य सुना था; इसलिए उसने विषयोंमें उसकी आसक्ति उत्पन्न की, जिससे वह वनको न जाय ॥२५॥

कुलाच्छतोऽस्मै स्थिरशीलयुक्तात्साध्वीं वपुहींविनयोपपन्नाम् ।
यशोधरां नाम यशोविशालां वामाभिधानां श्रियमाजुहाव ॥२६॥

तब स्थायी शीलवाले कुलसे यशोधरा नामक कन्यारूपी लक्ष्मीको उसके लिए बुलाया। वह यशस्विनी और साध्वी थी। रूप, लज्जा और विनयसे युक्त थी ॥ २६ ॥

विद्योतमानो वपुषा परेण सनत्कुमारप्रतिमः कुमारः ।
साध्वीं तथा शाक्यनरेन्द्रवध्वा शच्या सहस्राक्ष इवाभिरेमे ॥२७॥

सनत्कुमारके समान अत्यन्त सुन्दर आकृतिसे चमकते कुमारने शाक्यराज-की उस वधूके साथ वैसे ही रमण किया, जैसे इन्द्र शचीके साथ ॥ २७ ॥
किञ्चिन्मनःक्षोभकरं प्रतीपं कथं न पश्येदिति सोऽनुचिन्त्य ।

वासं नृपो व्यादिशति स्म तस्मै हर्म्योदरेष्वेव न भूप्रचारम् ॥२८॥

मनको क्षुब्ध करनेवाला कुछ भी प्रतिकूल वह (कुमार) कैसे न देखे—ऐसा सोचकर राजाने उसके लिए महलोंके भीतर रहनेका आदेश दिया, पृथ्वीपर घूमनेका नहीं ॥ २८ ॥

ततः शरत्तोयदपाण्डुरेषु भूमौ विमानेष्विव रञ्जितेषु ।
हर्म्येषु सर्वतुंसुखाश्रयेषु स्त्रीणामुदारैर्विजहार तूर्यः ॥२९॥

तब शरत्कालके मेघके समान श्वेत तथा पृथ्वीपर उतरे विमानों (=देव-प्रासादों) के समान रञ्जित महलोंमें, जो सब क्रतुओंमें सुखदायी थे, उसने स्त्रियों के उदार तूर्य-वाचोंसे सनोविनोद किया ॥ २९ ॥

कलैर्हि चामीकरवद्धकश्नैर्नारीकराग्राभिहतैर्मृदङ्गैः ।
वराप्सरोनृत्यसमैश्च नृत्यैः कैलासवत्तद्वचनं रराज ॥३०॥

जिनके अच्छल सुवर्णसे बँधे थे और जो स्त्रियोंकी अँगुलियोंसे बजाये जा रहे थे उन मृदंगोंसे, (उनकी) मधुर ध्वनिसे और उत्तम अप्सराओंके नृत्यके समान नृत्यसे, वह भवन कैलासके समान शोभित हुआ ॥ ३० ॥

वाग्मिः कलाभिर्लितैश्च ह्रावैर्मदैः सखेलैर्मधुरैश्च हासैः ।
तं तत्र नार्यो रमयाम्बवभूर्भूव्यज्जितैर्धनिरीक्षितैश्च ॥३१॥

मीठी बोलीसे, ललित हाव-भावसे, क्रीडापूर्ण मद (=मत्तता) से, मधुर हाससे, भ्रू-भङ्गोंसे और कटाक्षोंसे, नारियोंने उसे वहाँ आनन्दित किया ॥३१॥

ततः स कामाश्रयपण्डिताभिः स्त्रीभिर्गृहीतो रतिकर्कशाभिः ।
विमानपृष्ठान्न महीं जगाम विमानपृष्ठादिव पुण्यकर्मा ॥३२॥

तब कामोहीपनमें निपुण तथा रतिमें दृढ़ स्त्रियोंसे गृहीत होकर, वह महल-परसे भूतलपर नहीं आया, जैसे पुण्य कर्मवाला (व्यक्ति) स्वर्गसे (नीचे नहीं उतरता है) ॥ ३२ ॥

नृपस्तु तस्यैव विवृद्धिहेतोस्तद्वाविनार्थेन च चोद्यमानः ।
शमेऽभिरेमे विरराम पापाद्वजे दमं संविवभाज साधून् ॥३३॥

पुण्यकी बदतीके लिए और उसके (उत्तम) भविष्यसे प्रेरित होता राजा शममें आनन्दित हुआ और पापसे विरत हुआ, (इन्द्रिय-) दमनका आश्रय लिया और साधुओंके बीच धन बाँटा ॥ ३३ ॥

नाधीरवत्कामसुखे ससज्जे न संरञ्जे विषमं जनन्याम् ।
धून्येन्द्रियाश्वांश्चपलान्विजित्ये बन्धूंश्च पौरांश्च गुणैर्जिगाय ॥३४॥

वह अधीर व्यक्तिके समान काम-सुखमें आसक्त नहीं हुआ, उसने मातृ-वर्ग (स्त्रियों) से अनुचित अनुराग नहीं किया (या स्त्रियोंके प्रति अत्यधिक क्रोध

नहीं किया), धैर्यपूर्वक इन्द्रियरूप चपल घोड़ोंका दमन किया और अपने गुणों से बन्धुओं एवं पुरावासियोंको जीता ॥ ३४ ॥

नाध्यैष दुःखाय परस्य विद्यां ज्ञानं शिवं यत्तु तदध्यगीष ।
स्वाभ्यः प्रजाभ्यो हि यथा तथैव सर्वप्रजाभ्यः शिवमाशाशांसे ॥ ३५ ॥

उसने दूसरेके दुःखके लिए (तंत्र-मंत्र) विद्या नहीं सीखी, किंतु जो कल्याण-कारी ज्ञान है उसे अध्ययन किया; क्योंकि जैसे अपनी प्रजाओंके लिए वैसे ही सब प्रजाओंके लिए उसने कल्याण-कामना की ॥ ३५ ॥

भं भासुरं चाङ्गिरसाधिदेवं यथावदानर्चं तदायुपे सः ।
जुह्वाव हृष्यान्यकुशो कृशानौ ददौ द्विजेभ्यः कृशनं च गाश्च ॥ ३६ ॥

उसकी आयुके लिए उसने उज्ज्वल ग्रह-मण्डलकी, जिसका अधिदेव बृहस्पति है, यथोचित पूजा की, विशाल अग्निमें हवन किया तथा द्विजोंको सोना और गाएँ दी ॥ ३६ ॥

स्सनौ शरीरं पवित्रं मनश्च तीर्थाम्बुभिश्चैव गुणाम्बुभिश्च ।
वेदोपदिष्टं सममात्मजं च सोमं पपौ शान्तिसुखं च हार्दम् ॥ ३७ ॥

शरीरको पवित्र करनेके लिए तीर्थके जलसे और मनको पवित्र करनेके लिए गुणरूप जलसे स्नान किया, वेदविहित सोम (-रस) पिया और साथ ही अपनेसे ही उत्पन्न हार्दिक शान्ति-सुखकी रक्षा की ॥ ३७ ॥

सान्त्वं वभाषे न च नार्थवद्यज्जल्प तत्त्वं न च विप्रियं यत् ।
सान्त्वं ह्यतत्त्वं परुषं च तत्त्वं हियाशकन्नात्मन एव वक्तुम् ॥ ३८ ॥

उसने प्रिय कहा और व्यर्थ नहीं; सत्य कहा और अप्रिय नहीं; क्योंकि प्रिय असत्य और कठोर सत्य वह लाजसे अपनेको भी न कह सका ॥ ३८ ॥

इष्टेष्वनिष्टेषु च कार्यवत्सु न रागदोषाश्रेयतां प्रपेदे ।

शिवं सिषेवे व्यवहारशुद्धं यज्ञं हि मेने न तथा यथा तत् ॥ ३९ ॥

३७—“आत्मजं च”की जगह “आत्मजेन” पढ़ें, तो उत्तरार्थका अर्थ यों होगा—“आत्मजके साथ वेद-विहित सोम (-रस) पिया और हार्दिक शान्ति-सुखकी रक्षा की ।”

कार्यवालोंके प्रति, वे इष्ट हों या अनिष्ट, उसने अनुराग या द्वेष नहीं किया; कल्याणकारी शुद्ध विवादनिर्णयका सेवन किया, यज्ञको वैसा नहीं माना जैसा कि उसे अर्थात् न्यायकी पवित्रता को ॥३९॥

आशावते चाभिगताय सद्यो देयाम्बुभिस्तर्षमचेष्ठिदिष्ट ।

युद्धावते वृत्तपरद्वधेन द्विद्वर्पमुद्वृत्तमवेभिदिष्ट ॥४०॥

आगत आशावान् व्यक्तिकी प्यासको दानरूप जलसे सद्यः काटा और युद्धके विना ही सदाचाररूप कुठारसे शत्रुके असंयत अभिमानको भेदा ॥४०॥

एकं विनिन्ये स जुगोप सप्त सप्तैच तत्याज रक्ष एव्च ।

प्राप त्रिवर्गं बुधे त्रिवर्गं जबे द्विवर्गं प्रजहौ द्विवर्गम् ॥४१॥

उसने एक (अपने) को विनीत किया, सात (= राज्यके सात अङ्गों) की रक्षा की, सात (= राजाओंके सात दोषों) का त्याग किया, पाँच (= पाँच उपायों)की रक्षा की, त्रिवर्ग (= अर्थ-धर्म-काम)को पाया, त्रिवर्ग (= शत्रु-मित्र-मध्यस्थ)को समझा, द्विवर्ग (= नीति-अनीति)को जाना, और द्विवर्ग (= काम-क्रोध)को छोड़ा ॥४१॥

कृतागसोऽपि प्रतिपाद्य वध्याद्वाजीघनद्वापि रुषा ददर्श ।

ववन्ध सान्त्वेन फलेन चैतांस्त्यागोऽपि तेषां ह्यनयाय दृष्टः ॥४२॥

अपराधियोंको वध्य प्रतिपादित करके भी नहीं मरवाया, क्रोधसे भी नहीं देखा । उन्हें प्रिय फलसे युक्त किया (= हल्का दण्ड दिया); क्योंकि उन्हें छोड़नेमें भी अनीति देखी ॥४२॥

आर्षाण्यचारीत्परमव्रतानि वैराण्यहासीच्चिरसंभृतानि ।

यशांसि चापद्गुणगन्धवन्ति रजांस्यहार्षीन्मलिनीकराणि ॥४३॥

ऋषियोंके कठोर त्रनोंका आचरण किया, चिर-पोषित शत्रुता छोड़ी, अपने गुणोंसे सुगन्धित यश पाया, (मन) मलिन करनेवाली (कामकी) धूल छाड़ी ॥४३॥

न चाजिहीर्षीद्वलिमप्रवृत्तं न चाचिकीर्षीत्परवस्त्वभिध्याम् ।

न चाचिवक्षीद् द्विषतामधर्मं न चाचिवक्षीद्वृद्धयेन मन्युम् ॥४४॥

उमने (प्रजाओंसे) अप्रवृत्त (= अनुचित, अप्रस्तुत) कर लेनेकी इच्छा नहीं की, पर-वस्तु हरण करना नहीं चाहा, शत्रुओंका अधर्म प्रकट करना नहीं चाहा और हृदयमें कोध रखना नहीं चाहा ॥४४॥

तस्मिस्तथा भूमिपतौ प्रवृत्ते भृत्याश्च पौराश्च तथैव चेष्टः ।
शमात्मके चेतसि विप्रसन्ने प्रयुक्तयोगस्य यथेन्द्रियाणि ॥४५॥

उस राजाकी प्रवृत्ति वैसी होनेपर, भृत्यों और पुरवासियोंने वैसा ही आचरण किया; जिस प्रकार योगारूढ व्यक्तिका चित्त शान्त और प्रसन्न (=निर्मल) होनेपर, उसके इन्द्रिय भी (वैसे ही शान्त और निर्मल हो जाते हैं) ॥४५॥

काले ततश्चारुपयोधरार्यां यशोधरार्यां स्वयशोधरगायाम् ।
शौद्धोदने राहुसपतनवक्त्रो जडे सुतो राहुल एव नाम्ना ॥४६॥

तब समयपर चारु पयोधरवाली तथा अपने (गर्भमें पुत्ररूप) यशको धारण करनेवाली यशोधरासे शौद्धोदनि (= शौद्धोदनके पुत्र) को राहु-शत्रु (चन्द्र)-सदृश मुखवाला पुत्र उत्पन्न हुआ, (उसका) नाम राहुल ही (रहा) ॥४६॥

अथेष्टपुत्रः परमप्रतीतः कुलस्य वृद्धिं प्रति भूमिपालः ।
यथैव पुत्रप्रसवे ननन्द तथैव पौत्रप्रसवे ननन्द ॥४७॥

तब अभिलषित पुत्रवाले राजाको वंश-वृद्धि-का पूरा विश्वास हुआ । जैसे वह पुत्र-जन्ममें आनन्दित हुआ था, वैसे ही पौत्र-जन्ममें आनन्दित हुआ ॥४७॥

पुत्रस्य मे पुत्रगतो ममेव स्नेहः कथं स्यादिति जातहर्षः ।
काले स तं तं विधिमाललम्बे पुत्रप्रियः स्वर्गमिवारुक्षन् ॥४८॥

“मेरे पुत्रको मेरे ही समान पुत्रगत स्नेह किस प्रकार होता होगा” यह सोचकर उसे हर्ष हुआ । उस पुत्र-प्रियने मानो स्वर्गरीहणकी इच्छासे समयपर उस-उस (धार्मिक) विधिका अवलम्बन किया ॥४८॥

स्थित्वा पथि प्राथमकल्पिकानां राजर्षभाणां यशसान्वितानाम् ।
शुक्लान्यमुक्त्वापि तपांस्यतत यज्ञैश्च हिंसारहितैरयष्ट ॥४९॥
कृत-युगके यशस्वी भृप-श्रेष्ठोंके पथमें रहते हुए, (गृहस्थाश्रमके) सफेद

कपड़ोंको नहीं छोड़ते हुए भी उसने तप किये और हिंसा-रहित यज्ञोंसे पूजा की ॥४९॥

अजाज्वलिष्टाथ स पुण्यकर्मा नृपश्रिया चैव तपःश्रिया च ।
कुलेन वृत्तेन धिया च दीपस्तेजः सहस्रांशुरिवोत्ससृक्षुः ॥५०॥

वह पुण्यकर्मा राज्य और तपस्याकी श्री से प्रज्वलित हुआ; (अपने श्रेष्ठ) कुल आचार और बुद्धिसे प्रदीप हुआ, जैसे सहस्र किरणोंवाले सूर्यके समान प्रकाश फैलानेकी इच्छा कर रहा हो ॥५०॥

स्वायंभुवं चार्चिकमर्चयित्वा जजाप पुत्रस्थितये स्थितश्रीः ।
चकार कर्मणि च दुष्कराणि प्रजाः सिसृक्षुः क इवादिकाले ॥५१॥

उस स्थायी लक्ष्मीबाले (राजा) ने पुत्रके जीवनके लिए स्वयम्भूकी पूजा की, जप किया और आदि युगमें प्रजा सुजन करनेको इच्छुक सदैके समान दुष्कर कर्म किये ॥५१॥

तत्याज शास्त्रं विमर्शं शास्त्रं शामं सिषेवे नियमं विषेदे ।
चशीव कञ्चिद्द्विषयं न भेजे पितेव सर्वान्विषयान्दर्श ॥५२॥

शस्त्र छोड़ा, शास्त्र विचारा, शामका सेवन किया, नियमको सहन किया, संयमीके समान किसी विषयका सेवन नहीं किया, पिताके समान सब विषयों (= देशों, प्रजासमूह) को देखा ॥५२॥

बभार राज्यं स हि पुत्रहेतोः पुत्रं कुलार्थं यशसे कुलं तु ।
स्वर्गाय शब्दं दिवमात्महेतोर्धर्मार्थमात्मस्थितिमाचकाङ्क्ष ॥५३॥

उसने राज्यका पुत्रके लिए, पुत्रका कुलके लिए, कुलका यशके लिए पालन किया और यशकी स्वर्गके लिए, स्वर्गकी अपने लिए, अपने जीवनकी धर्मके लिए आकांक्षा की ॥५३॥

एवं स धर्मं विविधं चकार सद्गुर्विपातं श्रुतितश्च सिद्धम् ।
दृष्ट्वा कथं पुत्रमुखं सुतो मे वनं न यायादिति नाथमानः ॥५४॥

५१—“पुत्रस्थितये” का दूसरा अर्थ होगा “पुत्रके (धर्मे ही) रहनेके लिए” ।

इस प्रकार उसने भाँति भाँतिका धर्म किया, सज्जन जिसका पालन करते हैं और जो श्रुतिसे सिद्ध है, यह प्रार्थना करते हुए कि “अपने पुत्रका मुख देखकर मेरा पुत्र किसी प्रकार वनको न जाय” ॥ ५४ ॥

रिरक्षिषन्तः श्रियमात्मसंस्थां रक्षन्ति पुत्रान् भुवि भूमिपालाः ।
पुत्रं नरेन्द्रः स तु धर्मकामो रक्ष धर्माद्विषयेषु मुञ्चन् ॥५५
पृथ्वीपर अपनी श्रीकी रक्षा चाहनेवाले भूपाल अपने पुत्रोंकी रक्षा करते हैं; किन्तु इस धर्माभिलाषी राजाने अपने पुत्रको (इन्द्रिय-) विषयोंमें छोड़ते हुए उसकी धर्मसे रक्षाकी ॥ ५५ ॥

बनमनुपमसत्त्वा बोधिसत्त्वास्तु सर्वं
विषयसुखरसज्ञा जगमुरुत्पन्नपुत्राः ।
अत उपचितकर्मा रूढमूलेऽपि हेतौ
स रतिमुपसिषेवे बोधिमापन्न यावत् ॥५६॥

इति बुद्धचरिते महाकाव्येऽन्तःपुरविहारो नाम द्वितीयः सर्गः ।
अनुपम स्वभाववाले सब बोधिसत्त्व विषय-सुखका रस जानकर, पुत्र उत्पन्न होनेपर, वनको गये; अतः (राग, द्वेष, मोहको क्षीण करनेवाले) कर्मोंके इकट्ठे होनेसे (कल्याणका) हेतु रूढमूल (= सुदृढ़) होनेपर भी, उसने बुद्धत्व पाने लक विषयोंका कुछ-कुछ सेवन किया ॥ ५६ ॥

बुद्धचरित महाकाव्यका “अन्तःपुर-विहार” नामक
द्वितीय सर्ग समाप्त ।

(५६—बोधिसत्त्व = बोधि अर्थात् बुद्धत्व प्राप्त करनेवाला प्राणी; वह व्यक्ति, जिसे बुद्धत्व प्राप्त होगा ।

तृतीय सर्ग

संवेग-उत्पत्ति

ततः कदाचिन्मृदुशाद्वलानि पुंस्कोकिलोच्चादितपादपानि ।
शुश्राव पद्माकरमण्डितानि गीतैर्निवद्धानि स काननानि ॥ १ ॥

तब एक बार उसने गीत-निवद्ध काननोंके बारेमें सुना, जो मृदु और हरे तृणोंसे सुक्त थे, जिनके पेड़ कोयलोंसे निनादित थे और जो कमलके पोखरोंसे मण्डित थे ॥ १ ॥

थ्रुत्वा ततः स्त्रीजनवल्लभानां मनोश्चभावं पुरकाननानाम् ।
वहिःप्रयाणाय चकार बुद्धिमन्तर्गृहे नाग इवावरुद्धः ॥ २ ॥

तब स्त्रियोंके प्रिय पुर-काननोंकी मनोहरता सुनकर, घरके भीतर बँधे हाथी-के समान उसने बाहर जानेका विचार किया ॥ २ ॥

ततो नृपस्तस्य निशम्य भावं पुत्राभिधानस्य मनोरथस्य ।
स्नेहस्य लक्ष्म्या वयसश्च योग्यामाङ्गापयामास विहारयात्राम् ॥ ३ ॥

तब पुत्र-नामक उस मनोरथका विचार सुनकर, राजाने स्नेह, लक्ष्मी और वयसके योग्य विहार-यात्राकी आशा दी ॥ ३ ॥

निवर्त्यामास च राजमार्गे संपातमार्तस्य पृथग्जनस्य ।
मा भूत्कुमारः सुकुमारचित्तः संविग्नचेता इति मन्यमानः ॥ ४ ॥

और, राजमार्गपर आर्त जनताका निकलना रोक दिया, यह सोचते हुए कि सुकुमार मनवाले कुमारके चित्तमें कहीं संवेग न हो जाय ॥ ४ ॥

प्रत्यङ्गहीनान्विकलेन्द्रियांश्च जीर्णातुरादीन् कृपणांश्च दिक्षु ।
ततः समुत्सार्य परेण साम्ना शोभां परां राजपथस्य चक्रः ॥ ५ ॥

अङ्ग-हीनों, विकलेन्द्रियों, वृद्धों, आतुर आदि लोगों तथा बेचारोंको सब और परम शान्तिसे हटा कर, उन (राज-पुरुषों)ने राज-पथकी परम शोभा की ॥ ५ ॥

ततः कृते श्रीमति राजमार्गे श्रीमान्विनीतानुचरः कुमारः ।
प्रासादपृष्ठादवतीर्य काले कृताभ्यनुज्ञो नृपमभ्यगच्छत् ॥ ६ ॥

तब राज मार्ग शोभा-युक्त किया जानेपर, आज्ञा पाकर, श्रीमान् कुमार विनीत अनुचरोंके साथ प्रासादपरसे समयपर नीचे उतरा और राजाके समीप गया ॥ ६ ॥

अथो नरेन्द्रः सुतमागताश्रुः शिरस्युपाद्माय चिरं निरीक्ष्य ।
गच्छेति चाज्ञापयति स्म वाचा स्नेहान्न चैनं मनसा मुमोच ॥ ७ ॥

तब राजाने, जिसे आँखू आ गये थे, पुत्रके शिरको सँधकर उसे देर तक देखा और “जाओ” कहते हुए आज्ञा दी, किन्तु स्नेह-वश उसे मनसे नहीं छोड़ा ॥ ७ ॥

ततः स जाम्बूनदभाण्डभृद्धिर्युक्तं चतुर्भिर्निभृतैस्तुरङ्गैः ।
अकलीवविद्वच्छुचिरदिमधारं हिरण्मयं स्यन्दनमास्त्रोह ॥ ८ ॥

तब वह सुवर्ण-आभरण धारण करनेवाले चार शिक्षित तुरंगोंसे युक्त सुवर्ण-रथपर सवार हुआ, जिसका सराथि बलवान्, विद्वान् और पवित्र था ॥ ८ ॥

ततः प्रकीर्णोज्ज्वलपुष्पजालं विषक्तमात्यं प्रचलत्पताकम् ।
मार्गं प्रपेदे सदशानुयात्रश्चन्द्रः सनक्षत्र इवान्तरिक्षम् ॥ ९ ॥

तब जिस मार्गपर उजले फूल विखरे हुए थे, मालाएँ लटक रही थीं, और पताकाएँ फहरा रही थीं उसपर वह योग्य अनुचरोंके साथ आया, जैसे आकाशमें नक्षत्रोंके साथ चन्द्रमा (आवे) ॥ ९ ॥

कौतूहलात्स्फीततरैश्च नेत्रैर्नीलोत्पलाधैरिव कीर्यमाणम् ।
शनैः शनैः राजपथं जगाहे पौरैः समन्तादभिवीक्ष्यमाणः ॥ १० ॥

कौतूहलसे अति-विकसित आँखें, जो आधे-आधे नीले कमलोंके समान थीं, जिस राज-पथपर बिखर रही थीं उसपर चारों ओर पुरवासियों द्वारा देखे जाते हुए उसने धीरे-धीरे प्रवेश किया ॥ १० ॥

तं तुष्टुवुः सौम्यगुणेन केचिद्वन्दिरे दीसतया तथान्ये ।
सौमुख्यतस्तु श्रियमस्य केचिद्वैपुल्यमाशंसिषुरायुषश्च ॥ ११ ॥

कतिपयोंने उसके सौम्य-गुणके लिए उसकी स्तुति की तथा दूसरोंने दीसिके लिए उसकी बन्दना की; किन्तु उसकी अनुकूलताके कारण कतिपयोंने उसके लिए लक्ष्मी और दीर्घायुकी कामना की ॥११॥

निःसृत्य कुञ्जाश्च महाकुलेभ्यो द्व्यूहाश्च कैरातकवामनाम् ।

नार्यः कृशेभ्यश्च निवेशनेभ्यो देवानुयानध्वजवत्प्रणेमुः ॥१२॥

बड़े-बड़े कुलोंसे झुण्ड-के-झुण्ड कुबड़े किरात व वामन तथा छोटे-छोटे धरोंसे छियाँ निकल आईं । उन सबने उसे वैसे ही प्रणाम किया, जैसे (इन्द्र-) देवके जुल्सकी धजा को ॥१२॥

ततः कुमारः खलु गच्छतीति श्रुत्वा छियः प्रेष्यजनात्प्रवृत्तिम् ।

दिवक्षया हर्म्यतलानि जगमुर्जनेन मान्येन कृताभ्यनुज्ञाः ॥१३॥

तब “कुमार जा रहा है” यह समाचार नौकरोंसे सुनकर छियाँ गुरु-जनसे आज्ञा पाकर, उसे देखनेकी इच्छासे प्रासाद-तलपर गई ॥१३॥

ताः स्त्रस्तकाञ्चीर्णगुणविद्विताश्च सुप्रवृद्धाकुललोचनाश्च ।

वृत्तान्तविन्यस्तविभूषणाश्च कौतूहलेनानिभृताः परीयुः ॥१४॥

गिरती करधनीसे उन्हें बाधा हुई, सोकर उठनेसे उनकी आँखें आकुल थीं, समाचार सुनकर उन्होंने गहने पहने, कौतूहलके कारण अविनीत होकर वे गई ॥१४॥

प्रासादसोपानतलप्रणादैः काञ्चीरवैर्न् पुरनिस्वनैश्च ।

वित्रासयन्त्यो गृहपक्षिसङ्घानन्योन्यवेगांश्च समाक्षिपन्त्यः ॥१५॥

महलके सोपानपर पद-तलोंके निनादसे, करधनियोंके शब्दसे और नूपुरोंकी ध्वनिसे घरेलू पक्षियोंके झुण्डोंको डराती हुई तथा एक दूसरेके वेगपर आक्षेप करती हुई (वे गई) ॥१५॥

कासाञ्चिदासां तु वराङ्गनानां जातत्वराणामपि सोत्सुकानाम् ।

गर्ति गुरुत्वाज्जग्नुर्विशालाः श्रोणीरथाः पीनपयोधराश्च ॥१६॥

उत्सुक होकर शीघ्रता करनेपर भी उन उत्तम छियोंमेंसे कतिपयोंकी गतिको उनके अपने ही विशाल नितम्बों और पीन पयोधरोंने रोका ॥१६॥

शीघ्रं समर्थापि तु गन्तुमन्या गर्ति निजग्राह यथौ न तूर्णम् ।

हियाप्रगल्भा विनिगृहमाना रहःप्रयुक्तानि विभूषणानि ॥१७॥

शीघ्र जानेमें समर्थ होनेपर भी दूसरीने अपनी चालको रोक लिया और वह तेजीसे नहीं गई, वह संकोचशीला एकान्तमें पहने गहनोंको लाजसे छिपाने लगी ॥१७॥

परस्परोत्पीडनपिण्डतानां संमर्दसंक्षोभितकुण्डलानाम् ।

तासां तदा सखनभूषणानां वातायनेवप्रशमो वभूव ॥१८॥

परस्पर उत्पीडित होती हुई वे इकट्ठी हुईं, एक दूसरेकी रगड़से उनके कुण्डल चञ्चल हुए, उनके गहने बज रहे थे। अतः उस समय सिङ्गियोंपर अशान्ति हुई ॥१८॥

वातायनेभ्यरतु विनिःस्तानि परस्परायासितकुण्डलानि ।

खीणां विरेजुमुखपङ्कजानि सक्तानि हर्म्येविव पङ्कजानि ॥१९॥

सिङ्गियोंसे निकले हुए खियोंके मुख कमल, जो एक दूसरेके कुण्डल संक्षुब्ध कर रहे थे, ऐसे शोभित हुए जैसे महलोंमें कमल लगे हों ॥१९॥

ततो विमानैर्युर्वतीकरालैः कौतूहलोदधाटितवातयानैः ।

श्रीमत्समन्तान्नगरं बभासे वियद्विमानैरिव साप्सरोभिः ॥२०॥

तब उन विमानों (महलों) से, जो युवतियोंसे दन्तुर लगते थे (अर्थात् दाँत निकालकर हँस रहे थे) और कौतूहलसे जिनके झारोंसे खोल दिये गये थे, वह श्री-सम्पन्न नगर चारों ओर इस प्रकार भासित हुआ जिस प्रकार अप्सरायुक्त देव-प्रासादोंसे स्वर्ग ॥२०॥

वातायनानामविशालभावादन्योन्यगण्डार्पितकुण्डलानाम् ।

मुखानि रेजुः प्रमदोत्तमानां दद्वाः कलापा इव पङ्कजानाम् ॥२१॥

सिङ्गियाँ बड़ी-बड़ी नहीं होनेके कारण जो उत्तम प्रमदाएँ एक दूसरेके गालोंपर अपने कुण्डल रखते हुए थीं, उनके मुख ऐसे विराजे, जैसे कमलोंके बँधे हुए गुच्छे हों ॥२१॥

तं ताः कुमारं पथि वीक्षमाणाः स्त्रियो वभुर्गामिव गन्तुकामाः ।

ऊर्ध्वोन्मुखाद्वैनमुदीक्षमाणा नरा वभुर्द्यामिव गन्तुकामाः ॥२२॥

उस कुमारको मार्गमें जाते देखकर स्त्रियोंने मानो (महलोंसे) पृथ्वीपर जानेकी कामना की और ऊपर मुख उठाकर उसे देखते हुए पुरुषोंने मानो आकाशमें जानेकी कामना की ॥२२॥

दृष्ट्वा च तं राजसुतं स्थियस्ता जाज्वल्यमानं वपुषा श्रिया च ।
धन्यास्यभायेंति शनैरवोचज्ञुद्दैर्मनोभिः खलु नान्यभावात् ॥२३॥

सौन्दर्य और विभूतिसे चमकते हुए राजाके उस पुत्रको देखकर स्थियेंने शुद्ध मनसे, निश्चय ही अन्य भावसे नहीं, धीरे-धीरे कहा—“धन्य है इसकी भार्या” ॥२३॥

अयं किल व्यायतपीनवाहू रूपेण साक्षादिव पुण्यकेतुः ।
त्यक्त्वा श्रियं धर्मसु पैष्यतीति तस्मिन् हि ता गौरवमेव चक्रुः ॥२४॥

लम्बी व मोटी बाहुवाला वह कुमार, जो रूपमें साक्षात् पुण्यकेतु (कामदेव) के समान है, लक्ष्मीको छोड़कर धर्मके समीप जायगा—इस प्रकार उन्होंने उसका गौरव ही किया ॥२४॥

कीर्णं तथा राजपथं कुमारः पौरैर्विनीतैः शुचिधीरवेषैः ।
तत्पूर्वमालोक्य जहर्षं किञ्चिचन्मेने पुनर्भावमिवात्मनश्च ॥२५॥

शुचि और धीर वेषवाले विनीत पुर-वासियोंसे उस प्रकार भरे हुए राज-पथ-को पहले पहल देखकर, वह प्रसन्न हुआ और उसने अपना कुछ पुनर्जन्म-सा माना ॥ २५ ॥

पुरं तु तत्खर्गमिव प्रहृष्टं शुद्धाधिवासाः समवेक्ष्य देवाः ।
जीर्णं नरं निर्मिरे प्रयातुं संचोदनार्थं क्षितिपात्मजस्य ॥२६॥

उस नगरको स्वर्गके समान प्रसन्न देखकर, शुद्धाधिवास देवोंने एक वृद्ध पुरुषको बनाया कि वह राजाके पुत्रको (धरसे बनको) प्रयाण करनेके लिए प्रेरित करे ॥ २६ ॥

ततः कुमारो जरयाभिभूतं दृष्टा नरेभ्यः पृथग्कृतिं तम् ।
उवाच सङ्ग्राहकमागतास्यस्तत्रैव निष्कम्पनिविष्टदृष्टिः ॥२७॥

तब कुमारने जरा (=वृद्धावस्था)से अभिभूत उस पुरुषको जिसकी आकृति (अन्य) पुरुषोंसे पृथक् थी, देखा और उसीको निर्मिषे दृष्टिसे देखते हुए ध्यानमें आकर उसने सारथिसे कहा:—॥ २७ ॥

क पष भोः सूत नरोऽभ्युपेतः कैश्चैः सितैर्यष्टिविषक्तहस्तः ।
भ्रूसंवृताक्षः शिथिलानताङ्गः किं विक्रियैषा प्रकृतिर्यद्वच्छा ॥२८॥

“हे सारथि, यह कौन पुरुष आया? इसके केश सफेद हैं, हाथमें लाठी है, भौंहोंसे आँखें ढकी हैं, अंग ढीले व झुके हैं। क्या यह विकार है? या स्वभाव? या संयोग?” ॥ २८ ॥

**इत्येवमुक्तः स रथप्रणेता निवेदयामास नृपात्मजाय।
संरक्ष्यमध्यर्थमदोपदर्शी तैरेव देवैः कृतबुद्धिमोहः ॥२९॥**

ऐसा कहे जानेपर उस सारथिने राजाके पुत्रसे गोपनीय बात भी निवेदन कर दी, इसमें अपना दोष नहीं देखा, उन्हीं देवोंने उसका बुद्धिमोह जो कर दिया था ॥ २९ ॥

**रूपस्य हन्त्री व्यसनं वलस्य शोकस्य योनिनिधनं रतीनाम्।
नाशः स्मृतीनां रिषुरिन्द्रियाणामेषा जरा नाम यर्यैष भग्नः ॥३०॥**

‘रूपकी हत्या करनेवाली, बलकी विपत्ति, शोककी उत्पत्ति (-भूमि) आनन्दकी मृत्यु, स्मृतिका नाश करनेवाली, इन्द्रियोंका शत्रु यह जरा है, जिसने इसे भग्न कर दिया है’ ॥ ३० ॥

**पीतं ह्यनेनापि पयः शिशुत्वे कालेन भूयः परिसृप्रमुव्याम्।
क्रमेण भूत्वा च युवा वपुष्मान् क्रमेण तेनैव जरामुपेतः ॥३१॥**

बचपनमें इसने भी दूध पिया, फिर काल-क्रमसे पुथिवीपर पेटके बल चला, क्रमसे सुन्दर युवक हुआ, और उसी क्रमसे जराको प्राप्त हुआ है’ ॥ ३१ ॥

**इत्येवमुक्ते चलितः स किञ्चिद्राजात्मजः सूतभिदं बभाषे।
किमेष दोषो भविता ममापीत्यस्मै ततः सारथिरभ्युवाच ॥३२॥**

ऐसा कहे जानेपर कुछ विचलित होकर उस राजात्मजने सारथिए कहा— “क्या यह दोष मुझे भी होगा?” तब सारथिने उसे कहा:— ॥ ३२ ॥

**आयुष्मतोऽप्येष वयःप्रकर्षो निःसंशयं कालवशेन भावी।
एवं जरां रूपविनाशयित्रीं जानाति चैवेच्छति चैव लोकः ॥३३॥**

“आप आयुष्मान्की भी यह वृद्धावस्था कालवश निःसंदेह होगी। ऐसी रूप-विनाशिनी जराको लोग जानते हैं और इसे चाहते हैं” ॥ ३३ ॥

**ततः स पूर्वाशयशुद्धबुद्धिर्विस्तीर्णकल्पाचितपुण्यकर्मा।
श्रुत्वा जरां संविविजे महाशनेघोषमिवान्तिके गौः ॥३४॥**

तब वह महात्मा, पूर्वके विचारोंसे जिसकी बुद्धि शुद्ध हो गई थी, और अनेक कल्पोंमें जिसके पुण्य कर्म एकत्र हुए थे, जराको सुनकर वैसे ही संविग्रह हुआ, जैसे समीपमें महावज्रका शब्द सुनकर गय ॥ ३४ ॥

निःश्वस्य दीर्घं स्वशिरः प्रकम्प्य तर्स्मिन्द्य जीर्णे विनिवेश्य चक्षुः ।

तां चैव दृष्ट्वा जनतां सहर्षां वाक्यं स संविग्न इदं जगाद् ॥ ३५ ॥

लम्बी साँस लेकर, अपना शिर कँपाकर, उस बृद्धकी ओर दृष्टि लगाये हुए, उस जनताको प्रसन्न देखकर, उस संविग्नने यह वाक्य कहा:— ॥ ३५ ॥

एवं जरा हन्ति च निर्विशेषं स्मृतिं च रूपं च पराक्रमं च ।

न चैव संवेगमुपैति लोकः प्रत्यक्षतोऽपीदशमीक्षमाणः ॥ ३६ ॥

“इस प्रकार जरा, स्मृति रूप और पराक्रमकी विना भेद-भावके हत्या करती है; और प्रत्यक्ष ऐसा देखते हुए भी लोगोंको संवेग नहीं होता है ॥ ३६ ॥

एवं गते सूत निर्वर्त्याश्वान् शीघ्रं गृहाण्येव भवान्प्रयातु ।

उद्यानभूमौ हि कुतो रतिमें जराभये चेतसि वर्तमाने ॥ ३७ ॥

ऐसा होनेपर, हे सारथि, धोड़ोंको लौटाइये, शीघ्र घरको ही आप चलें; चित्तमें जराका भय रहनेपर उद्यान-भूमिमें मुझे कहाँसे आनन्द होगा ?” ॥ ३७ ॥

अथाहया भर्तुसुतस्य तस्य निर्वर्त्यामास रथं नियन्ता ।

ततः कुमारो भवनं तदेव चिन्तावशः शून्यमिव प्रपेदे ॥ ३८ ॥

अनन्तर उस स्वामि-पुत्रकी आशासे सारथिने रथको लौटाया । तब कुमार उसी महलमें पहुँचा, जो उस चिन्तितके लिए शून्यसा था ॥ ३८ ॥

यदा तु तत्रैव न शर्मं लेभे जरा जरेति प्रपरीक्षमाणः ।

ततो नरेन्द्रानुमतः स भूयः क्रमेण तेनैव वहिर्जगाम ॥ ३९ ॥

“जरा-जरा (क्या है)” इस प्रकार (इसे) परखते हुए जब उसने वहाँ भी शान्ति नहीं पाई, तब राजाकी अनुमतिसे वह फिर उसी क्रमसे बाहर गया ॥ ३९ ॥

अथापरं व्याधिपरीतदेहं त एव देवाः सस्जुर्मनुष्यम् ।

दृष्ट्वा च तं सारथिमावभाषे शोद्दोदनिस्तदृगतदृष्टिरेव ॥ ४० ॥

तब उन्हीं देवोंने रोगसे ग्रस्त देहवाले दूसरे मनुष्यका सुजन किया

और उसे देखकर शुद्धोदनके पुत्रने उसीकी ओर इष्टि किये हुए सारथिसे कहा:—॥४०॥

स्थूलोदरः इवासचलच्छरीरः स्वस्तांसवाङ्गुः कृशपाण्डुगात्रः ।

अम्बेति वाचं करुणं ब्रुवाणः परं समाश्रित्य नरः क एषः ॥४१॥

“यह कौन मनुष्य है ? इसका पेट फूला हुआ है, साँससे शरीर काँप रहा है, कन्धे और बाहुएँ ढीली हैं, गात दुबला और पीला है । दूसरेका सहारा लेकर करुण स्वरसे ‘माँ माँ’ कह रहा है ॥४१॥

ततोऽब्रवीत्सारथिरस्य सौम्य धातुप्रकोपप्रभवः प्रवृद्धः ।

रोगाभिधानः सुमहाननर्थः शक्तोऽपि यैनैष कृतोऽस्वतन्त्रः ॥४२॥

तब सारथिने इसे कहा—“हे सौम्य (त्रि-) धातु-प्रकोपसे उत्पन्न होकर बढ़ा हुआ यह रोगनामक महा-अनर्थ है, जिसने इस शक्तिमान्‌को भी परतन्त्र कर दिया है” ॥४२॥

इत्यूचिवान् राजसुतः स भूयस्तं सानुकम्पो नरमीक्षमाणः ।

अस्यैव जातो पृथगेष दोषः सामान्यतो रोगभर्यं प्रजानाम् ॥४३॥

उस मनुष्यको अनुकम्पाके साथ देखते हुए उस वृपात्मजने पुनः पूछा—“यह दोष कैवल इसीको हुआ या रोगका भय समान रूपसे (सब) प्रजाओं को है ?” ॥४३॥

ततो बभाषे स रथप्रणेता कुमार साधारण एष दोषः ।

एवं हि रोगैः परिपीड्यमानो रुजातुरो हर्षमुपैति लोकः ॥४४॥

तब वह सारथि बोला—“हे कुमार, यह दोष साधारण है । इस प्रकार रोगोंसे परिपीड़ित होता हुआ, कष्टसे आतुर संसार हर्षको प्राप्त होता है” ॥४४॥

इति श्रुतार्थः स विषण्णचेताः प्रावेपताम्बूर्मिंगतः शशीव ।

इदं च वाक्यं करुणायमानः प्रोवाच किञ्चिन्मृदुना स्वरेण ॥४५॥

यह व्याख्या सुनकर, वह विषण्ण-चिन्त (ही गया और) जल-तरंगमें पड़ते चंद्र (-प्रतिबिम्ब) के समान काँपने लगा और दयासे द्रवीभूत होते हुए उसने कुछ मृदु स्वरसे यह वाक्य कहा:—॥४५॥

४२—त्रिधातु = कफ, पित्त, वायु ।

इदं च रोगद्वयसनं प्रजानां पश्यद्द्वच विश्रम्भमुपैति लोकः ।
विस्तीर्णमज्ञानमहो नराणां हसन्ति ये रोगभयैरमुक्ताः ॥४६॥

“प्रजाओंकी यह रोगरूप विपत्ति देखते हुए भी संसार विश्वस्त (=निर्भीक) रहता है । अहो, (कितना) विज्ञाल अज्ञान है (इन) मनुष्योंका, जो रोग-भयसे अमुक्त होकर भी हँस रहे हैं ॥४६॥

निवर्त्यतां सूत वहिःप्रयाणान्नरेन्द्रसद्मैव रथः प्रयातु ।
श्रुत्वा च मे रोगभयं रतिभ्यः प्रत्याहृतं संकुचतीव चेतः ॥४७॥

हे सारथि, बाहर जानेसे रथको लौटाइये, यह राज-महलको ही चले । और रोग-भय मुनकर विषयोंसे प्रत्याहृत मेरा मन सिकुड़-सा रहा है” ॥४७॥
ततो निवृत्तः स निवृत्तर्हषः प्रध्यानयुक्तः प्रविशेश वेशम् ।
तं द्विस्तथा प्रेक्ष्य च सनिवृत्तं पर्यषणं भूमिपतिश्चकार ॥४८॥

तब हर्ष-रहित होकर वह लौटा, चिन्तित होकर अपने महलमें बुसा । और, उसे दो बार उस प्रकार लौटा देखकर, राजाने जिज्ञासा की ॥४८॥

श्रुत्वा निमित्तं तु निवर्तनस्य संत्यक्तमात्मानमनेन मेने ।
मार्गस्य शौचाधिकृताय चैव चुक्रोश रुष्टोऽपि च नोग्रदण्डः ॥४९॥

लौटनेका कारण मुनकर उसने अपनेको उससे परित्यक्त माना । और मार्गके शौचाधिकारीकी भर्त्सना की, रुष्ट होनेपर भी वह उग्रदण्ड नहीं हुआ अर्थात् कठोर दण्ड नहीं दिया ॥४९॥

भूयश्च तस्मै विदधे सुताय विशेषयुक्तं विषयप्रचारम् ।
चलेन्द्रियत्वादपि नाम सक्तो नास्मान्विजहादिति नाथमानः ॥५०॥

और फिर उस पुत्रके लिए विशेष विषय-सेवनका प्रबन्ध किया, इस आशासे कि—“शायद इन्द्रिय-चञ्चलताके कारण (विषयोंमें) आसक्त होकर (यह) हमें न छोड़े” ॥५०॥

यदा च शब्दादिभिरन्दियार्थैरन्तःपुरे नैव सुतोऽस्य रेमे ।
ततो वहिव्यादिशति स्म यात्रा रसान्तरं स्यादिति मन्यमानः ॥५१॥

और जब शब्द आदि इन्द्रिय-विषयोंसे अन्तःपुरमें उसके पुत्रको आनन्द नहीं हुआ, तब (राजाने) बाहर यात्रा करनेका आदेश दिया, यह समझते हुए कि (इससे कहीं) रुचि-परिवर्तन हो जाय ॥५१॥

स्नेहाच्च भावं तनयस्य बुद्ध्वा स रागदोषानविचिन्त्य कांचित् ।

योग्याः समाज्ञापयति स तत्र कलाखभिज्ञा इति वारमुख्याः ॥५२॥

और स्नेहसे पुत्रका भाव समझकर तथा रागके किन्हीं दोपोंका विना विचार किए ही उसने कलाओंमें निपुण योग्य वारमुख्यों (= सम्मानित वेश्याओं) को वहाँ (रहनेकी) आज्ञा दी ॥५२॥

ततो विशेषेण नरेन्द्रमार्गे स्वलङ्घते चैव परीक्षिते च ।

व्यत्यस्य सूतं च रथं च राजा प्रस्थापयामास वहिः कुमारम् ॥५३॥

तब विशेषताके साथ राज-मार्ग अलड्कूत और परीक्षित होनेपर, सारथि एवं रथको बदलकर राजाने कुमारको बाहर प्रस्थान कराया ॥५३॥

ततस्तथा गच्छति राजपुत्रे तैरेव देवैर्विहितो गतासुः ।

तं चैव मार्गे मृतमुहमार्गं सूतः कुमारश्च ददर्श नान्यः ॥५४॥

जब राजाका पुत्र उस प्रकार जा रहा था, तब उन्हीं देवोंने एक निष्ठाण (व्यक्ति) को बनाया। और, मार्गमें ढोये जाते उस मरे हुए को सारथि और कुमार ने देखा, दूसरे किसी ने नहीं ॥५४॥

अथाब्रवीद्राजसुतः स सूतं नरैश्चतुर्भिर्हिंश्यते क एषः ।

दीनैर्मनुष्यैरनुगम्यमानो (वि)भूषितश्चाप्यवरुद्यते च ॥५५॥

तब उस राज-कुमारने सारथि से कहा—“यह कौन है? इसे चार पुरुष लिये जा रहे हैं, दीन मनुष्य इसके पीछे-पीछे जा रहे हैं, और विशेषतासे भूषित होनेपर भी इसके लिए रोया जा रहा है” ॥५५॥

ततः स शुद्धात्मभिरेव देवैः शुद्धाधिवासैरभिभूतचेताः ।

अवाच्यमप्यर्थमिमं नियन्ता प्रव्याजहारार्थवदीश्वराय ॥५६॥

तब शुद्ध स्वभाववाले शुद्धाधिवास देवोंने जिसका चित्त अभिभूतकर दिया था उस सारथिने यह अवाच्य बात भी (उस) नर-श्रेष्ठ से कहीः—॥५६॥

बुद्धीन्द्रियप्राणगुणैर्वियुक्तः सुप्तो विसंज्ञस्तुणकाष्ठभूतः ।

संवध्ये संरक्ष्य च यत्तवद्द्विः प्रियप्रियैस्त्यज्यत एष कोऽपि ॥५७॥

“यह कोई है, जो बुद्धि इन्द्रियों प्राणों और गुणोंसे वियुक्त, (सदाके लिए) सोया हुआ और संज्ञा-हीन है, तथा तृण एवं काष्ठ (के समान)

हो गया है। प्रयत्नपूर्वक संवर्धन और संरक्षण करके भी प्रिय (स्व-) जन हसे छोड़ रहे हैं” ॥५७॥

इति प्रणेतुः स निशम्य वाक्यं संचुक्षुभे किञ्चिदुवाच चैनम् ।

किं केवलोऽस्यैव जनस्य धर्मः सर्वप्रजानामग्रमीदशोऽन्तः ॥५८॥

सारथिका वाक्य सुनकर, वह कुछ संक्षब्ध हुआ और उसे कहा—“क्या यह धर्म केवल इसी मनुष्य का है या सब प्रजाओं (= जीवों)का अन्त ऐसा ही है ?” ॥५८॥

ततः प्रणेता चदति स तस्मै सर्वप्रजानामिदमन्तर्कर्म ।

हीनस्य मध्यस्य महात्मनो वा सर्वस्य लोके नियतो विनाशः ॥५९॥

तब सारथिने उससे कहा—“सब प्रजाओं (= जीवों)का यह अन्तिम कर्म है। हीन मध्य या महात्माका, संसारमें सबका, विनाश नियत है” ॥५९॥

ततः स धीरोऽपि नरेन्द्रसूनुः श्रुत्वैव मृत्युं विषसाद सद्यः ।

अंसेन संदिलष्य च कूवराग्रं प्रोवाच निहादवता स्वरेण ॥६०॥

तब धीर होनेपर भी उस राजकुमार को, मृत्युं (की बात) सुनकर, तुरत विपाद हो गया। और कन्धेसे कूवरके अग्रभागका सहारा लेकर, उसने गम्भीर स्वर से कहा:—॥६०॥

इयं च निष्ठा नियता प्रजानां प्रमाद्यति त्यक्तभयश्च लोकः ।

मनांसि शङ्के कठिनानि नृणां स्वस्थास्तथा ह्यध्वनि वर्तमानाः ॥६१॥

“प्रजाओंका यह विनाश नियत है और संसार भय छोड़कर असावधानी कर रहा है। मनुष्योंके मन, मैं सोचता हूँ, कठोर हैं, क्योंकि (मृत्यु-) मार्गमें रहते हुए वे उस प्रकार सुखी हैं” ॥६१॥

तस्माद्रथः सूत निवर्त्यतां नो विहारभूमेन हि देशकालः ।

जानन्विनाशं कथमार्तिकाले सचेतनः स्यादिह हि प्रमत्तः ॥६२॥

इसलिए, हे सारथि, हमारे रथको लौटाइये, विहार-भूमि (मैं जाने)का (यह) देश-काल नहीं है। अपना विनाश जानता हुआ (कीई भी) बुद्धिमान् संकट-कालमें कैसे असावधान हो सकता है ?” ॥६२॥

इति ब्रुवाणेऽपि नराधिपात्मजे निवर्त्यामास स नैव तं रथम् ।

विशेषयुक्तं तु नरेन्द्रशासनात्स पद्मपण्डं वनमेव निर्ययौ ॥६३॥

राजपुत्रके ऐसा बोलते रहनेपर भी उसने रथको नहीं लौटाया, किन्तु राजाकी आशासे वह पद्मपण्ड वनको निकल गया, जो विशेषतासे युक्त था ॥६३॥

ततः शिवं कुसुमितवालपादपं परिभ्रमत्प्रमुदितमत्तकोकिलम् ।

विमानवत्स कमलचारुदीर्घिकं ददर्श तद्वनमिव नन्दनं वनम् ॥६४॥

तब उसने कुसुमित बालपादपौ, धूमते हुए प्रमुदित मत्त कोकिलों, विमानों, तथा कमलोंके सुन्दर पोखरोंसे युक्त उस भव्य वनको देखा, जो नन्दन-वनके समान था ॥ ६४ ॥

वराङ्गनागणकलिलं नृपात्मजस्ततो बलाद्वनमतिनीयते स्म तत् ।

वराप्सरोवृतमलकाधिपालयं नववतो मुनिरिव विघ्नकातरः ॥६५॥

इति बुद्धचरिते महाकाव्ये संवेगोत्पत्तिर्नाम तृतीयः सर्गः ॥ ३ ॥

तब श्रेष्ठ छियोंसे भरे वनमें राजाका पुत्र बलात् ले जाया गया, जैसे श्रेष्ठ अप्सराओंसे पूर्ण कुवेर-प्रासादमें नया ब्रतवाला विघ्नकातर सुनि (बलात् ले जाया जा रहा हो) ॥ ६५ ॥

बुद्धचरित महाकाव्यका “संवेग-उत्पत्ति” नामक
तृतीय सर्ग समाप्त ।

६५—विघ्नकातर = विघ्न (पड़नेके भय) से कातर ।

चतुर्थ सर्ग

स्त्री-निवारण

ततस्तस्मात्पुरोद्यानात्कौतूहलचलेशणः ।

प्रत्युज्जग्मुनृपसुतं प्रासं वरमिव स्त्रियः ॥ १ ॥

तब उस नगर-उद्यानसे निकलकर कौतूहलसे चञ्चल आँखोंवाली स्त्रियोंने राजा के पुत्रकी, मानो आये हुए वरकी, अगवानीकी ॥ १ ॥

अभिगम्य च तास्तरमै विस्मयोत्फुल्लोचनाः ।

चक्रिरे समुदाचारं पद्मकोशनिभैः करैः ॥ २ ॥

समीप आकर उन्होंने, जिनकी आँखें विस्मयसे विकसित हो गईं, पद्मकोश-सद्शा हाथों (के सम्पुटों) से उसका सत्कार किया ॥ २ ॥

तस्थुश्च परिवार्यैनं मन्मथाक्षिप्तचेतसः ।

निश्चलैः प्रीतिविकचैः पिबन्त्य इव लोचनैः ॥ ३ ॥

और कामसे आकृष्ट चित्तवाली वे (स्त्रियाँ) उसे घेरकर प्रीतिसे विकसित हुई निश्चल आँखोंसे उसे मानो पीती रहीं (अर्थात् उसकी रूप-सुधाका पान करती रहीं) ॥ ३ ॥

तं हि ता मेनिरे नार्यः कामो विग्रहवानिति ।

शोभितं लक्षणैर्दीर्षैः सहजैर्भूषणैरिव ॥ ४ ॥

उज्ज्वल लक्षणोंसे, मानो स्वाभाविक भूषणोंसे, शोभित उस (कुमार)को उन नारियोंने मूर्त्त कामदेव माना ॥ ४ ॥

सौम्यत्वाच्चैव धैर्याच्च काश्चिदेनं प्रजश्निरे ।

अवतीर्णो महीं साक्षाद् गृदांशुश्चन्द्रमा इति ॥ ५ ॥

उसकी सौम्यता और धैर्यसे कतिपयोंने उसे पृथ्वीपर अवतीर्ण साक्षात् चन्द्रमा माना, जिसकी किरणें गुप थीं ॥ ५ ॥

तम्य ता वपुषाक्षिता निगृहीतं जजृम्भिरे ।
अन्योन्यं दृष्टिभिर्हत्वा शनैश्च विनिश्चवसुः ॥६॥

उसके रूपसे आकृष्ट होकर, उन्होंने (हाथोंसे मुँह) पकड़े हुए ज़ंभाई ली
और एक दूसरेके ऊपर दृष्टि से प्रहार कर धीरे धीरे साँसें लीं ॥६॥

एवं ता दृष्टिमात्रेण नायौ ददशुरेव तम् ।

न व्याजहुर्न जहसुः प्रभावेगास्य यन्त्रिताः ॥७॥

इस प्रकार उन स्त्रियोंने केवल आँखोंसे उसे देखा और उसके प्रभावके
वशमें होकर, वे न (कुछ) बोलीं, न हँसीं ॥७॥

तास्तथा तु निरारम्भा दृष्ट्वा प्रणयविकल्पाः ।

पुरोहितसुतो धीमानुदायी वाक्यमवरीत् ॥८॥

उन्हें उस प्रकारसे (कुछ) आरम्भ नहीं करती तथा प्रेमविहळ देखकर,
पुरोहित-पुत्र बुद्धिमान् उदायीने ये वचन कहे:—॥८॥

सर्वाः सर्वकलाज्ञाः स्थ भावग्रहणपणिडताः ।

रूपचातुर्यसम्पन्नाः स्वगुणैर्मुख्यतां गताः ॥९॥

“तुम सब सब कल्याओंमें निपुण हो, भाव जाननेमें निपुण हो, रूप और
चतुराईसे युक्त हो, अपने गुणोंसे मुख्यताको प्राप्त हो ॥९॥

शोभयेत गुणैरेभिरपि तानुत्तरान् कुरुन् ।

कुवेरस्यापि चाक्रीडं प्रागेव वसुधामिमाम् ॥१०॥

इन गुणोंसे उत्तरकुरुओंको भी शोभित कर सकती हो, कुवेरके उद्यानको
भी, इस वसुधाको तो पहले ही ॥१०॥

शक्ताश्चालयितुं यूयं वीतरागानृषीनपि ।

अप्सरोभिश्च कलितान् ग्रहीतुं विवृधानपि ॥११॥

तुम लोग वीतराग ऋषियोंको भी चलायमान कर सकती हो और अप्स-
राओंके वशीभूत देवोंको भी आकृष्ट कर सकती हो ॥११॥

१०—उत्तरकुरु एक वर्गाकार द्वीप है, जो मेरुके उत्तर भागमें स्थित है
—अ० को० ३।५५

भावज्ञानेन हावेन रूपचातुर्यसम्पदा ।
स्त्रीणामेव च शक्ताः स्थ संरागे किं पुनर्नृणाम् ॥१२॥

भाव-ज्ञानसे, हाव-भावसे, तथा रूप व चतुरताकी सम्पत्तिसे स्त्रियोंको भी अनुरक्त कर सकती हो, फिर पुरुषोंका क्या कहना ॥१२॥

तासामेवंविधानां वो वियुक्तानां स्वगोचरे ।
इयमेवंविधा चेष्टा न तुष्टोऽस्म्यार्जवेन वः ॥१३॥

ऐसी तुम लोगोंमेंसे उनका, जो अपने अपने विषय (= अधिकार-क्षेत्र) में छुट नहीं रही हैं, यह ऐसा आचरण ! तुम लोगोंकी सरलतासे मैं सन्तुष्ट नहीं हूँ ॥१३॥

इदं नववधूनां वो हीनिकुञ्जितचक्षुषाम् ।
सदृशां चेष्टितं हि स्यादपि वा गोपयोषिताम् ॥१४॥

तुम लोगोंका यह आचरण लाजसे आँख मिंचनेवाली नव-वधुओं या गोप-स्त्रियोंके योग्य है ॥१४॥

यदपि स्यादयं धीरः श्रीप्रभावान्महानिति ।
स्त्रीणामपि महत्तेज इतः कार्योऽत्र निश्चयः ॥१५॥

यद्यपि यह धीर तथा बड़ा ही श्रीमान् और तेजस्वी हो सकता है, स्त्रियोंका भी तेज महान् है । इसलिए इस (विषय) में निश्चय करो ॥१५॥

पुरा हि काशिसुन्दर्या वेशवध्वा महानृषिः ।
ताडितोऽभूत्पदा व्यासो दुर्धर्षो देवतैरपि ॥१६॥

प्राचीनकालमें काशि-सुन्दरी (नामक) वेश्याने महर्षि व्यासको, जो देवताओंके लिए भी दुर्धर्ष था, पाँवसे मारा ॥१६॥

मन्थालगौतमो भिसुर्जङ्घ्या वारमुख्यया ।
पिप्रीषुश्च तदर्थार्थं व्यसून्निरहरत्पुरा ॥१७॥

१७— भज् + सन् + उ = भिसुर् । सम्भवतः उस वेश्याके यहाँ जानेवाले धनवान् पुरुषोंकी धनके लोभसे हत्या की जाती होगी और मन्थाल गौतम शवोंको ढोता होगा । यह श्लोक प्रक्षिप्त जान पड़ता है ।

पूर्वकालमें जहृा नामक वेदयासे सम्भोग करनेकी इच्छासे और उसे प्रसन्न करनेकी इच्छासे, मन्थाल गौतमने उसके धनके लिए लाशोंको ढोया ॥१७॥

गौतमं दीर्घतपसं महर्षिं दीर्घजीविनम् ।

योषित्सन्तोषयामास वर्णस्थानावरा सती ॥१८॥

दीर्घतपस गौतम (नामक) महर्षिको, जो दीर्घकालतक जीवन धारण कर चुका था, नीच वर्ण व विथितिकी स्त्रीने संतुष्ट किया ॥१८॥

ऋष्यशृङ्गं मुनिसुतं तथैव स्त्रीप्रपणिडतम् ।

उपायैर्विविधैः शान्ता जग्राह च जहार च ॥१९॥

उसी प्रकार मुनि-तनय ऋष्यशृङ्गको, जो स्त्रियों (के विषय) में अज्ञानी था, शान्ता विविध उपायोंसे पकड़कर ले गई ॥ १९ ॥

विश्वामित्रो महर्षिश्च विगाढोऽपि महत्तपः ।

दश वर्षाण्यहमेने घृताच्याप्सरसा हृतः ॥२०॥

महा-तपस्यामें अवगाहन करनेपर भी महर्षि विश्वामित्र घृताच्ची अप्सराके द्वारा हरण किया गया और उस महर्षिने उसके साथ (विताये गये) दश वर्षोंको एक दिन माना ॥ २० ॥

एवमादीनृष्टीस्ताननयन्विक्रियां स्त्रियः ।

ललितं पूर्ववयसं किं पुनर्नृपतेः सुतम् ॥२१॥

इस प्रकारके उन अनेक ऋषियोंको स्त्रियोंने विकृत किया । फिर राजाके सुन्दर और तरुण पुत्रका क्या कहना ॥ २१ ॥

तदेवं सति विश्रव्धं प्रयत्वं तथा यथा ।

इयं नृपस्य वंशश्रीरितो न स्यात्पराङ्मुखी ॥२२॥

ऐसा होनेपर विश्वासपूर्वक वैसा प्रयत्न करो जिससे राजाकी यह वंश-लक्ष्मी यहाँसे विमुख न हो जाय ॥२२॥

या हि काश्चिद्युवतयो हरन्ति सदृशं जनम् ।

निकृष्टोत्कृष्टयोर्भावं या गृह्णन्ति तु ताः स्त्रियः ॥२३॥

जो कोई भी युवतियाँ (अपने) सदृश जनका (चित्त) हरण कर सकती हैं; किन्तु निकृष्ट और उत्कृष्टके (मनो-) भावको जो आकृष्ट करती हैं वे ही (वास्तविक) स्त्रियाँ हैं” ॥ २३ ॥

इत्युदायिवचः श्रुत्वा ता विद्धा इव योषितः ।

समारुद्धुरात्मानं कुमारग्रहणं प्रति ॥२४॥

उदायीके ये बचन सुनकर (वाण) विद्ध-सी वे स्त्रियाँ कुमारको आकृष्ट करनेके लिए अपने ऊपर आरुढ हुईं (तुल गईं) ॥२४॥

ता भ्रूमिः प्रेक्षितैर्हवैर्हसितैर्लितैर्गतैः ।

चक्रुराक्षेपिकाश्चेष्टा भीतभीता इशाङ्गनाः ॥२५॥

भय-भीत-सी उन स्त्रियोंने भौंहों, दृष्टि-पातों, हावों, हासों, विलासों और चालोंसे आकर्षक चेष्टाएँ कीं ॥२५॥

राज्ञस्तु विनियोगेन कुमारस्य च मार्दवात् ।

जहुः क्षिप्रमविश्रम्य मदेन मदनेन च ॥२६॥

राजा के आदेश और कुमारकी मृदुताके कारण मद व मदनके वश होकर उन्होंने शीघ्र ही अविश्वास छोड़ा ॥२६॥

अथ नारीजनवृतः कुमारो व्यचरद्वनम् ।

वासितायूथसहितः करीव हिमवद्वनम् ॥२७॥

तब स्त्रियोंसे घिरे कुमारने वनमें विचरण किया, जैसे हथिनियोंके साथ हाथी हिमालयके वनमें ॥२७॥

स तस्मिन् कानने रम्ये जज्वाल स्त्रीपुरःसरः ।

आकीड इव विभ्राजे विवस्वानप्सरोवृतः ॥२८॥

उस रम्य काननमें स्त्रियोंके आगे-आगे जानेवाला वह वैसे ही प्रज्वलित हुआ, जैसे विभ्राज (=वैभ्राज) उद्यानमें अप्सराओंसे घिरा विवस्वान् (=देवता या सूर्य) ॥२८॥

मदेनावर्जिता नाम तं काश्चित्तत्र योषितः ।

कठिनैः पस्पृशुः पीनैः संहतैर्वर्लगुभिः स्तनैः ॥२९॥

मदसे अवनत कुछ स्त्रियोंने अपने कठिन, पीन, दृढ और सुन्दर स्तनोंसे उसे स्पर्श किया ॥२९॥

स्त्रस्तांसकोमलालभमृदुबाहुलताबला ।

अनृतं स्खलितं काचिकृत्वैनं सस्वजे बलात् ॥३०॥

झुके हुए कन्धेसे कोमलतापूर्वक लटकती मृदु बाहुलताओंवाली किसी अवलाने बनावटी गिरना दिखाकर उसे बलात् आलिंगन किया ॥३०॥

काचित्ताम्राधरोष्टेन मुखेनासवगन्धिना ।

विनिश्चश्वास कर्णैऽस्य रहस्यं श्रूयतामिति ॥३१॥

किसीने मदिरा-गन्ध-युक्त मुखसे, जिसका निचला होंठ ताम्रवर्ण का था, उसके कानमें धीरे-धीरे कहा—“रहस्य सुनिये” ॥३१॥

काचिदाशापयन्तीव प्रोवाचाद्राञुलेपना ।

इह भक्ति कुरुवेति हस्तसंश्लेषप्लिप्सया ॥३२॥

गीला अनुलेपवाली किसीने (उसके) हाथका स्पर्श पानेकी इच्छासे मानो आज्ञा देते हुए कहा—“यहाँ भक्ति करो” ॥३२॥

मुहुर्मुहुर्मदद्व्याजस्तनीलांशुकापरा ।

आलक्ष्यरशना रेजे स्फुरद्विद्युदिव क्षपा ॥३३॥

मदके बहाने बार-बार नीला अंशुक गिरानेवाली दूसरी लो, जिसकी करधनी कुछ-कुछ दिखाई पड़ती थी, चमकती विजलीवाली रातके समान शोभित हुई ॥३३॥

काश्चित्कनककाङ्चीभिर्मुखराभिरितस्ततः ।

वश्चमुर्दर्शयन्त्योऽस्य श्रोणीस्तन्वंशुकावृत्ता ॥३४॥

मुखर सुवर्ण कटि-भूषणोंसे, महीन कपड़ोंसे ढँके अपने नितम्बोंको दिखाती हुई कोई इधर-उधर घूमीं ॥३४॥

चूतशाखां कुसुमितां प्रगृह्यान्या ललम्बिरे ।

सुवर्णकलशप्रख्यान्दर्शयन्त्यः पयोधरान् ॥३५॥

दूसरी (स्त्रियाँ) आमकी कुसुमित डाल पकड़कर, सुवर्ण-कलश-सदृश अपने स्तनोंको दिखाती हुई, लटकीं ॥३५॥

३१—विनिश्चश्वास = साँसें छोड़ीं, वचनसे नहीं कहकर साँसोंसे कहा अर्थात् इतना धीरे-धीरे कहा कि केवल साँसें ही सुन पड़ती थीं ।

३२—भक्ति = शोभाके लिए शरीरपर की जानेवाली रेखा-रचना; श्रद्धा, प्रेम ।

काचित्पद्मवनादेत्य सपद्मा पद्मलोचना ।
पद्मवक्तुस्य पाश्वेऽस्य पद्मश्रीरिव तस्युषी ॥३६॥

कोई कमलाक्षी कमल-वनसे कमलके साथ आकर उस कमल-मुखके पास कमलकी श्रीके समान खड़ी हुई ॥३६॥

मधुरं गीतमन्वर्थं काचित्साभिनयं जगौ ।
तं स्वस्थं चोदयन्तीव वञ्चिनोऽसीत्यवेक्षितैः ॥३७॥

किसीने स्पष्ट अर्थसे युक्त मधुर गीत अभिनयपूर्वक गाया, और उस स्वस्थको दृष्टि-पातोंसे उत्तेजित करते हुए मानो कहा—“तुम वञ्चित हो रहे हो” ॥३७॥

शुभेन वदनेनान्या भ्रकार्मुकविकर्षिणा ।
प्रावृत्यानुचकारास्य चेष्टितं धीरलीलया ॥३८॥

दूसरीने लौटकर भौंहरूप तीर खींचनेवाले सुन्दर मुखसे इसकी चेष्टाका स्थिर लीलासे अनुकरण किया ॥३८॥

पीनवलगुस्तनी काचिद्दासाघूर्णितकुण्डला ।
उच्चैरवजहासैनं समाप्नोतु भवानिति ॥३९॥

परिपूर्ण एवं सुन्दर स्तनोंवाली किसीने, जिसके कुण्डल उसकी हँसीसे हिल रहे थे, “आप समाप्त करें,” यह कहते हुए, जोरोंसे उसका उपहास किया ॥३९॥

अपयान्तं तथैवान्या ववन्धुर्माल्यदामभिः ।
काश्चित्साक्षेपमधुरैर्जगृह्वर्वचनाङ्कुशैः ॥४०॥

उसी प्रकार दूसरीने (वहाँसे) हटते हुए (कुमार) को मालाओंकी ढोरियोंसे बाँधा; किन्हींने आक्षेप-युक्त मधुर वचनरूप अंकुशोंसे उसे रोका ॥४०॥

प्रतियोगार्थिनी काचिद् गृहीत्वा चूतवल्लरीम् ।

इदं पुष्पं तु कस्येति पप्रच्छ मदविकल्वा ॥४१॥

प्रतियोग (=विरोध) चाहनेवाली किसीने आमकी मङ्गरी लेकर मदसे विहळ होते हुए पूछा—‘यह फूल किसका है?’ ॥४१॥

काचित्पुरुषवत्कृत्वा गर्ति संस्थानमेव च ।

उवाचैनं जितः स्त्रीभिर्जय भो पृथिवीमिमाम् ॥४२॥

किसीने पुरुषके समान गति और आकृति बनाकर उसे कहा—“तुम
मियों द्वारा जीते गये, अब इस पृथिवीको जीतो” ॥४२॥

अथ लोलेक्षणा काचिजिग्रन्ती नीलमुत्पलम् ।

किञ्चिन्मद्दकलैर्वाक्यैर्नृपात्मजमभाषत ॥४३॥

तब नीले कमलको सूँघती हुई किसी चञ्चलाक्षीने मदसे कुछ-कुछ अस्फुट
वचनोंमें राजकुमारसे कहा—॥४३॥

पश्य भर्तश्चितं चूतं कुसुर्मधुगन्धभिः ।

हेमपञ्चरसद्धो वा कौकिलो यत्र कूजति ॥४४॥

“स्वामिन्, मधु-गन्ध-युक्त फूलोंसे भरे आमको देखिये, जहाँ कोकिल इस
प्रकार (निश्चल होकर) कूंज रहा है, जैसे सोनेके पिंजड़ेमें बन्द हो ॥४४॥

अशोको दृश्यतामेष कामिशोकविवर्धनः ।

रुबन्ति अमरा यत्र दहमाना इवाग्निः ॥४५॥

कामियोंका शोक बढ़ानेवाले इस अशोकको देखिये, जहाँ भौंरे इस तरह
मूँज रहे हैं, जैसे आगसे जल रहे हों ॥४५॥

चूतयष्ट्या समादिलष्टो दृश्यतां तिलकद्रुमः ।

शुक्लवासा इव नरः स्थिया पीताङ्गरागया ॥४६॥

आमको शाखासे आलिङ्गित होते तिलक-बृक्षको देखिये, जैसे श्वेतवस्त्रधारी
पुरुष पीत अङ्ग-रागवाली स्त्रीसे आलिङ्गित हो रहा हो ॥४६॥

फुलं कुरुवकं पश्य निर्मुक्तालक्कप्रभम् ।

यो नखप्रभया स्त्रीणां निर्भर्तिसत इवानतः ॥४७॥

निचोड़े हुए अलक्तक (=लाख) के समान प्रभावान् कुसुमित कुरुवक-
को देखिये, जो स्त्रियोंकी नख-प्रभासे मानो खूब फटकारा जाकर छुक गया
है ॥४७॥

बालाशोकश्च निचितो दृश्यतामेष पल्लवैः ।

योऽस्माकं हस्तशोभामिर्जमान इव स्थितः ॥४८॥

पल्लवोंसे भरे इस बाल अशोकको देखिये, जो हमारे हाथोंकी शोभासे मानो
लजाता हुआ खड़ा है ॥४८॥

दीर्घिकां प्रावृतां पश्य तीरजैः सिन्दुवारकैः ।

पाण्डुरांशुकसंचीतां शयानां प्रमदामिच ॥४९॥

तीरपर उत्पन्न होनेवाले सिन्दुवारोंसे आच्छादित दीर्घिका (= जलाशय) को देखिये, जो श्वेत वस्त्रसे ढाँकी सो रही प्रमदाके समान है ॥४९॥

दश्यतां स्त्रीषु माहात्म्यं चक्रवाको ह्यसौ जले ।

पृष्ठतः प्रेष्यवद्भार्यामनुवर्त्यनुगच्छति ॥५०॥

पश्यियोंका माहात्म्य तो देखिये; वह आशाकारी चक्रवाक जलमें अपनी पत्नीके पीछे-पीछे नौकरके समान जा रहा है ॥५०॥

मत्तस्य परपुष्टस्य रुवतः श्रूयतां ध्वनिः ।

अपरः कोकिलोऽन्वक्षं प्रतिश्रुत्क्वेव कूजति ॥५१॥

मत्त होकर कूजते कोकिलकी ध्वनि सुनिये; दूसरा कोकिल पीछेकी ओर प्रतिध्वनिके समान कूज रहा है ॥५१॥

अपि नाम विहङ्गानां वसन्तेनाहृतो मदः ।

न तु चिन्तयतोऽचिन्त्यं जनस्य प्राज्ञमानिनः ॥५२॥

क्या वसन्त पक्षियोंको मद ला सकता है और अचिन्त्यकी चिन्ता करनेवाले प्राज्ञ एवं मानी मनुष्यको नहीं ? ॥५२॥

इत्येवं ता युवतयो मन्मथोदामचेतसः ।

कुमारं विविधैस्तैस्तैरुपचक्रमिरे नयैः ॥५३॥

इस प्रकार कामसे उच्छृङ्खल चित्तवाली उन युवतियोंने उन-उन विविध नीतियोंसे कुमारको (आकृष्ट करनेका) उपक्रम किया ॥५३॥

एवमाक्षिप्यमाणोऽपि स तु धैर्यावृतेन्द्रियः ।

मर्तव्यमिति सोद्वेगो न जहर्ष न विव्यये ॥५४॥

इस प्रकार आकृष्ट किया जानेपर भी, वह धीर-इन्द्रियवाला (= जितेन्द्रिय) “मरना पड़ेगा” इस (विचार)से उद्वेग-युक्त होकर न आनन्दित हुआ और न व्यथित ॥५४॥

तासां तत्त्वेऽनवस्थानं दृष्टा स पुरुषोत्तमः ।

समं विग्नेन धीरेण चिन्तयामास चेतसा ॥५५॥

तत्त्वमें उनकी स्थिरता न देखकर उस पुरुषोत्तमने एक ही साथ संविग्न व धीर चित्तसे सोचाः—॥५५॥

किं विमा नावगच्छन्ति चपलं यौवनं स्त्रियः ।

यतो रूपेण संमतं जरा यज्ञाशयिष्यति ॥५६॥

“क्या ये स्त्रियाँ यौवनको क्षणिक नहीं समझ रही हैं ? ये उनमत्त हैं अपने रूपसे, जिसे जरा नष्ट कर देगी ॥५६॥

नूनमेता न पश्यन्ति कस्यचिद्रोगसंप्लवम् ।

तथा हृषा भयं त्यक्त्वा जगति व्याधिधर्मिणि ॥५७॥

निश्चय ही ये किसीको रोगसे आक्रान्त नहीं देखती हैं; (इसलिए) व्याधिधर्मा जगत्में भय छोड़कर ये इस प्रकार आनन्दित हैं ॥५७॥

अनभिज्ञाश्च सुव्यक्तं मृत्योः सर्वापहारणः ।

ततः स्वस्था निरुद्धिग्नाः क्रीडन्ति च हसन्ति च ॥५८॥

स्पष्ट ही सबको दूर ले जानेवाली मृत्युसे ये अनभिज्ञ हैं; इसीलिए स्वस्थ और उद्वेग-रहित होकर ये खेलती व हँसती हैं ॥५८॥

जरां व्याधिं च मृत्युं च को हि जानन्सचेतनः ।

स्वस्थस्तिष्ठेन्निधीदेवा शयेद्वा किं पुनर्हसेत् ॥५९॥

जरा, व्याधि व मृत्युको जानता हुआ कौन बुद्धिमान् स्वस्थ होकर खड़ा हो या बैठे या सोये, फिर हँसे ही क्यों ? ॥५९॥

यस्तु दृष्ट्वा परं जीर्णं व्याधितं मृतमेव च ।

स्वस्थो भवति नोद्धिग्नो यथाचेतास्तथैव सः ॥६०॥

जो दूसरेको वृद्ध, रोगी व मृत देखकर स्वस्थ रहता है, उद्धिग्न नहीं होता, वह वैसा ही है जैसा कि अचेतन ॥६०॥

वियुज्यमाने हि तरौ पुण्यरपि फलैरपि ।

पतति च्छिद्यमाने वा तरुरन्यो न शोचते ॥६१॥

क्योंकि फूलों और फलोंसे अलग होकर जब (एक) वृक्ष गिरता है या काटा जाता है, तब दूसरा वृक्ष शोक नहीं करता है” ॥६१॥

५७—व्याधिधर्मा = व्याधि जिसका धर्म अर्थात् स्वभाव है।

इति ध्यानपरं द्वाषा विषयेभ्यो गतस्पृहम् ।

उदायी नीतिशास्त्रस्तमुवाच सुहृत्या ॥६२॥

इस तरह उसे ध्यानमग्न और विषयोंसे निरभिलाष देखकर नीति-शास्त्र
उदायीने मित्रतासे कहा:—॥ ६२ ॥

अहं नृपतिना दत्तः सखा तुभ्यं क्षमः किल ।

यस्मात्त्वयि विवक्षा मे तया प्रणयवृत्त्या ॥६३॥

‘मैं राजा के द्वारा नियुक्त किया गया तुग्हारा योग्य मित्र हूँ, इसलिए
प्रेमपूर्वक मैं तुम्हें (कुछ) कहना चाहता हूँ ॥ ६३ ॥

अहितात् प्रतिषेधश्च हिते चानुप्रवर्तनम् ।

व्यसने चापरित्यागस्त्रिविधं मित्रलक्षणम् ॥६४॥

अहितसे रोकना, हितमें लगाना और विपक्षिमें नहीं छोड़ना—मित्रके
(ये) तीन लक्षण हैं ॥ ६४ ॥

सोऽहं मैत्रीं प्रतिज्ञाय पुरुषार्थात्पराङ्गमुखः ।

यदि त्वा समुपेक्षेय न भवेन्मित्रता मयि ॥६५॥

मैत्रीकी प्रतिज्ञाकर, पुरुषार्थ (=पुरुषके काम) से विमुख हो, यदि मैं
तुम्हारी उपेक्षा करूँ, तो मुझमें मित्रता नहीं होगी ॥ ६५ ॥

तद्वीर्वीमि सुहृदभूत्वा तरुणस्य वपुष्मतः ।

इदं न प्रतिरूपं ते स्त्रीब्वदाक्षिण्यमीदशम् ॥६६॥

इसलिए मित्र होकर मैं कहता हूँ कि स्त्रियोंके प्रति उदारताका यह ऐसा
अभाव तुझ सुन्दर तरुणके अनुरूप नहीं है ॥ ६६ ॥

अनृतेनापि नारीणां युक्तं समनुवर्तनम् ।

तद्वीर्वापरिहारार्थमात्मरत्यर्थमेव च ॥६७॥

स्त्रियोंके लज्जा-परित्याग तथा अपने आनन्दके लिए असत्यतासे भी उनके
अनुकूल आचरण करना उचित है ॥ ६७ ॥

संन्तिश्चानुवृत्तिश्च स्त्रीणां हृदयवन्धनम् ।

स्नेहस्य हि गुणा योनिर्मानकामाश्च योषितः ॥६८॥

नम्रता व अनुकूल आचरण स्त्रियोंके हृदयके लिए बन्धन हैं; क्योंकि सदृगुण
ही स्नेहका उत्पत्ति-स्थान है और स्त्रियाँ सम्मान चाहती हैं ॥ ६८ ॥

तदर्हसि विशालाक्ष हृदयेऽपि पराड़मुखे ।

रूपस्यास्यानुरूपेण दाक्षिण्येनानुवर्तितुम् ॥६९॥

इसलिए, हे विशालाक्ष, हृदय विमुख होनेपर भी अपने रूपके अनुरूप उदारतासे तुम्हें उनके अनुकूल आचरण करना चाहिए ॥६९॥

दाक्षिण्यमौषधं ख्लाणां दार्क्षण्यं भूषणं परम् ।

दाक्षिण्यरहतं रूपं निष्पुण्यमिव काननम् ॥७०॥

उदारता ख्लियोंके लिए औषध है, उदारता श्रेष्ठ भूषण है; उदारता-रहित रूप पुण्य-विहीन उद्यानके समान है ॥७०॥

किं वा दाक्षिण्यमात्रेण भावेनास्तु परिग्रहः ।

विषयानुर्लभाँललद्ध्वा न ह्यवज्ञातुमहसि ॥७१॥

कैवल उदारतासे क्या ? (भीतरी) भावसे ग्रहण करो । दुर्लभ विषयोंको पाकर तुम्हें तिरस्कृत नहीं करना चाहिए ॥७१॥

कामं परमिति ज्ञात्वा देवोऽपि हि पुरन्दरः ।

गौतमस्य मुनेः पत्नीमहत्या चकमे पुरा ॥७२॥

प्राचीन काल में काम (प्रेम) को श्रेष्ठ जानकर, इन्द्रदेव ने गौतम मुनि की पत्नी अहत्या को चाहा ॥७२॥

अगस्त्यः प्रार्थयामास सोमभार्यां च रोहिणीम् ।

तस्मात्तसदृशीं लेभे लोपामुद्रामिति श्रुतिः ॥७३॥

और, अगस्त्यने सोमकी भार्या रोहिणीके लिए प्रार्थना की । इस कारण उसने उसी (रोहिणी) के सदृश लोपामुद्रा पाई, ऐसी अनुश्रुति है ॥७३॥

उत्थयस्य च भार्यायां ममतायां महातपः ।

मारुत्यां जनयामास भरद्वाजं वृहस्पतिः ॥७४॥

और, उत्थय की भार्या, मरुत की पुत्री ममता में, महातपस्वी वृहस्पति ने भरद्वाज को उत्पन्न किया ॥७४॥

वृहस्पतेर्महित्यां च जुहृत्यां जुहृतां वरः ।

बुधं विबुधकर्मणां जनयामास चन्द्रमाः ॥७५॥

और हवन करनेवाली वृहस्पति की पत्नीमें हवन करनेवालों में श्रेष्ठ चन्द्रमा ने बुधको उत्पन्न किया, जिसके कर्म देवताके-से थे ॥७५॥

कालीं चैव पुरा कन्यां जलप्रभवसंभवाम् ।

जगाम यमुनातीरे जातरागः पराशरः ॥७६॥

और पूर्वकालमें काम (-वासना) उत्पन्न होने पर, पराशर यमुना-तटपर मछलीसे उत्पन्न हुई कन्या कालीके पास गया ॥७६॥

मानङ्ग्यामक्षमालायां गर्हितायां रिरंसया ।

कपिञ्जलादं तनयं वर्सष्टोऽजनयन्मुनिः ॥७७॥

रमण करनेकी इच्छासे वसिष्ठ मुनिने निन्दित चाण्डाल जातिकी (कन्या) अक्षमालामें कपिञ्जलाद नामक पुत्र उत्पन्न किया ॥७७॥

ययातिश्चैव राजर्षिर्वर्यस्यपि विनिर्गते ।

विश्वाच्याप्सरसा सार्थं रेमे चैत्ररथे वने ॥७८॥

और उम्र ढलनेपर भी राजर्षि ययातिने विश्वाची अप्सराके साथ चैत्ररथ बनमें रमण किया ॥७८॥

स्त्रीसंसर्गं विनाशान्तं पाण्डुर्ज्ञात्वापि कौरवः ।

माद्रीरूपगुणाक्षिप्तः सिषेवे कामजं सुखम् ॥७९॥

स्त्री-संसर्गको विनाशकारी जानकर भी कुरुवंशी पाण्डुने माद्रीके रूप-गुणसे आकृष्ट होकर काम-ज सुखका सेवन किया ॥७९॥

करालजनकश्चैव हृत्वा ब्राह्मणकन्यकाम् ।

अवाप भ्रंशमप्येवं न तु सेजे न मन्मथम् ॥८०॥

और करालजनकने ब्राह्मण-कन्याका हरण किया और इस प्रकार भ्रष्ट होकर भी वह काममें आसक्त ही रहा ॥८०॥

एवमाद्या महात्मानो विषयान् गर्हितानपि ।

रतिहेतोर्बुद्धिरे प्रागेव गुणसंहितान् ॥८१॥

इस प्रकार आद्य महात्माओंने रति (सम्भोग, आनन्द) के हेतु निन्दित विषयोंका भी उपभोग किया, निर्दोष विषयोंका तो पढ़ले ही ॥८१॥

त्वं पुनर्नर्यतः प्राप्तान् बलवान् रूपवान्युवा ।

विषयानवजानासि यत्र सक्तमिदं जगत् ॥८२॥

तुम बलवान् रूपवान् युवा किर न्यायसे प्राप्त विषयोंकी अवहेलना करते हो, जिनमें कि यह जगत् आसक्त है” ॥८२॥

इति श्रुत्वा वचस्तस्यं शलक्षणमागमसंहितम् ।

मेघस्तनितनिधीषः कुमारः प्रत्यभाषत ॥८३॥

शास्त्रोंसे एकत्र किये गए उसके मनोहर वचन सुनकर, मेघ-गर्जन की-सी वाणीमें कुमारने उत्तर दिया:—॥८३॥

उपपन्नमिदं वाक्यं सौहार्दव्यञ्जकं त्वयि ।

अथ च त्वानुनेष्यामि यत्र मा दुष्टु मन्यसे ॥८४॥

“यह सौहार्द-सूचक बात तुम्हारे ही योग्य है। मैं तुमसे कुछ अनुनय करूँगा, जिन बातोंमें कि तुम मुझे बुरा मानते हो ॥८४॥

नावजानामि विषयान् जाने लोकं तदात्मकम् ।

अनित्यं तु जगन्मत्वा नात्र मे रमते मनः ॥८५॥

मैं विषयोंकी अवज्ञा नहीं करता हूँ, संसारको उनमें रत जानता हूँ। जगत्को अनित्य मानकर मेरा मन इसमें नहीं रम रहा है ॥८५॥

जरा व्याधिश्च मृत्युश्च यदि न स्यादिदं त्रयम् ।

ममापि हि मनोब्रेषु विषयेषु रतिर्भवेत् ॥८६॥

यदि जरा, व्याधि व मृत्यु, ये तीनों नहीं रहते, तो मनोऽनु विषयोंमें मुझे भी आनन्द होता ॥८६॥

नित्यं यद्यपि हि खीणामेतदेव वपुर्भवेत् ।

दोषवत्स्वपि कामेषु कामं रज्येत मे मनः ॥८७॥

यदि स्त्रियोंका यही रूप नित्य (चिरस्थायी) होता, तो इन दोषयुक्त विषयोंमें भी मेरा मन अवश्य लगता ॥८७॥

यदा तु जरया पीतं रूपमासां भविष्यति ।

आत्मनोऽप्यनभिप्रेतं मोहात्तत्र रतिर्भवेत् ॥८८॥

जब इसका रूप जराके द्वारा पिया (नष्ट किया) जायगा तब (वह रूप) अपने लिए भी धृणाजनक ही होगा, मोहसे ही उसमें आनन्द हो ॥८८॥

मृत्युव्याधिजराधर्मा मृत्युव्याधिजरात्मभिः ।

रममाणो ह्यसंविग्नः समानो मृगपक्षिभिः ॥८९॥

मृत्यु, व्याधि व जराके अधीन रहनेवाला मनुष्य यदि मृत्यु-व्याधि-जराके अधीन रहनेवालोंके साथ रमण करता हुआ संविग्न (= विरक्त, भयभीत) न हो तो वह पशु-पक्षियोंके समान है ॥८९॥

यदप्यात्थ महात्मानस्तेऽपि कामात्मका इति ।

संवेगोऽत्रैव कर्तव्यो यदा तेषामपि क्षयः ॥९०॥

यह जो कहा कि वे महात्मा भी कामी थे, इसमें तो संवेग ही करना चाहिए कि उनका भी विनाश हुआ ॥९०॥

माहात्म्यं न तन्मन्ये यत्र सामान्यतः क्षयः ।

विषयेषु प्रसक्तिर्वा युक्तिर्वा नात्मवत्तया ॥९१॥

मैं उसे माहात्म्य नहीं मानता हूँ जिसमें समान रूपसे क्षय होता है । आत्मवान् (संयतात्मा) पुरुषोंको विषयोंमें आसक्ति नहीं होती है और न वे विषयोंके लिए युक्ति (तर्क या उपाय) ही करते हैं ॥९१॥

यदप्यात्थानृतेनापि खीजने वर्त्यतामिति ।

अनृतं नावगच्छामि दाक्षिण्येनापि किञ्चन ॥९२॥

यह जो कहा कि असत्यतासे भी स्त्रियोंसे बरतना चाहिए, मैं असत्यता नहीं समझता हूँ, (और) न उदारतासे भी कुछ ॥९२॥

न चानुवर्तनं तन्मे रुचितं यत्र नार्जवम् ।

सर्वभावेन संपर्को यदि नास्ति धिगस्तु तत् ॥९३॥

वह अनुकूल आचरण मुझे नहीं रुचता है जिसमें सरलता (निष्कपटता) नहीं । यदि सर्वभाव (हृदय) से सम्पर्क नहीं है, तो उसे धिक्कार है ॥९३॥

अधृतेः श्रद्धानस्य सक्तस्यादोपदर्शिनः ।

किं हि वज्चयितव्यं स्याज्ञातरागस्य चेतसः ॥९४॥

अधीर, विश्वास करनेवाले, आसक्त, दोषोंको नहीं देख सकनेवाले तथा अनुरक्त चित्तको क्या वज्चित करना (= ठगना) चाहिए ? ॥९४॥

वञ्चयन्ति च यदेवं जातरागाः परस्परम् ।

तनु नैव क्षमं द्रष्टुं नराः खीर्णां नृणां स्त्रियः ॥९५॥

यदि कामासक्त (लोग) एक दूसरेको इसी तरह वञ्चित करते हैं, तो पुरुष स्त्रियोंके देखने योग्य नहीं और न स्त्रियाँ पुरुषों के ॥१५॥

तदेवं सति दुःखातौ जरामरणभागिनम् ।
न मां कामेष्वनार्थेषु प्रतारयितुमर्हसि ॥१६॥

ऐसा होनेपर मुझे, जो दुःखसे आर्त है और जिसके भाग्यमें जरा और मरण हैं, अनार्य विषयोंमें लगाकर तुम्हें नहीं ठगना चाहिए ॥१६॥

अहोऽतिधीरं बलवच्च ते मनश्चलेषु कामेषु च सारदर्शिनः ।
भयेऽतितीवे विषयेषु सज्जसे निरीक्षमाणो मरणाध्वनि प्रजाः ॥१७॥

अहो ! तुम्हारा मन अति धीर व बलवान् है जो चञ्चल कामोपभोगोंमें सार देखते हो । अति तीव्र भयके रहते हुए, मृत्युमार्गपर प्रजाओंको देखते हुए तुम विषयोंमें आसक्त होते हो ॥१७॥

अहं पुनर्भीरुतरीवकिकलबो जराविपदव्याधिभयं विचिन्तयन् ।
लभे न शान्तिं न धृतिं कुतो रतिं निशामयन्दीसमिवागिनना जगत् ॥१८॥

और, मैं जरा, मृत्यु व व्याधिकी चिन्ता करता हुआ भयभीत और अति विकल हूँ । आगसे मानो जलते जगत्को देखकर, न शान्ति पाता हूँ न धैर्य, आनन्द कहाँसे (पाऊँगा) ? ॥१८॥

असंशयं मृत्युरिति प्रजानतो नरस्य रागो हृदि यस्य जायते ।
अयोमर्यां तस्य परैमि चेतनां महाभये रज्यति यो न रोदिति ॥१९॥

मृत्यु अवश्यंभावी है यह जानते हुए जिस मनुष्यके हृदयमें काम पैदा होता है उसकी बुद्धिको लोहेकी बनी समझता हूँ, क्योंकि (मृत्युरूपी) महाभयके रहते हुए, वह आनन्दित होता है, रोता नहीं” ॥१९॥

अथो कुमारश्च विनिश्चयात्मिकां चकार कामाश्रयघातिनीं कथाम् ।
जनस्य चक्षुर्गमनीयमण्डलो महीधरं चास्तमियाय भास्करः ॥२०॥

१००—गमनीयमण्डल = दर्शनीय मण्डल; दर्शनीय = सुन्दर होनेके कारण देखने योग्य या तेज क्षीण होनेके कारण आसानीसे देखा जाने योग्य ।

कुमारने वैराग्य पैदा करनेवाली (= काम-आश्रय-विनाशिनी) ये निश्चया-
त्मक बातें कहीं और तब संसारका नेत्रस्वरूप सूर्य, जो कि दर्शनीय हो रहा था,
अस्ताचल पर गया ॥१००॥

ततो वृथाधारितभूषणस्तजः कलागुणैश्च प्रणयैश्च निष्फलैः ।
स्व एव भावे विनिगृह्य मन्मथं पुरं ययुर्भग्नमनोरथाः छियः ॥१०१॥

तब वे छियाँ, जिन्होंने व्यर्थ ही आभूषण और मालाएँ पहनी थीं, उक्तष्ट
कलाओं और प्रणय-चेष्टाओंके निष्फल होनेपर अपने ही मनमें कामदेवका
निग्रह कर, भग्नमनोरथ हो, नगरको लौट गईं ॥१०१॥

ततः पुरोद्यानगतां जनश्रियं निरीक्ष्य सायं प्रतिसंहृतां पुनः ।
अनित्यतां सर्वगतां विचिन्तयन्विवेश घिण्यं क्षितिपालकात्मजः ॥१०२॥

तब नगर-उद्यानकी जन-शोभाको फिर संध्या समय समेटी गई देखकर,
सर्वव्यापिनी अनित्यताकी चिन्ता करते हुए राज-कुमारने महलमें प्रवेश
किया ॥१०२॥

ततः श्रुत्वा राजा विषयविमुखं तस्य तु मनो
न शिश्ये तां रात्रि हृदयगतशत्यो गज इव ।
अथ श्रान्तो मन्त्रे बहुविविधमार्गे ससचिवो
न सोऽन्यत्कामेभ्यो नियमनमपश्यत्सुतमतेः ॥१०३॥

इति बुद्धचरिते महाकाव्ये छोविद्यात्मो नाम चतुर्थः सर्गः ॥४॥

तब उसका मन विषयोंसे विमुख हुआ सुनकर राजा (उस) हाथीके
समान जिसकी छातीमें बर्छी गढ़ी हुई हो, उस रातको न सोया । तब सचिवोंके
साथ विविध उपायोंकी मन्त्रणा करनेमें थककर उसने पुत्र-बुद्धिके नियन्त्रणके
लिए कामके अतिरिक्त दूसरा उपाय न देखा ॥१०३॥

बुद्धचरित महाकाव्यका “छो-निवारण” नामक
चतुर्थ सर्ग समाप्त ।

पञ्चम सर्ग

अभिनिष्क्रमण

स तथा विषयैर्विलोभ्यमानः परमाहैरपि शाक्यराजसूनुः ।
न जगाम धृतिं न शर्मं लेभे हृदये सिंह इवातिदिग्धविद्धः ॥ १ ॥

बहुमूल्य विषयोंसे उस प्रकार लुभाये जानेपर भी उस शाक्य-राज-पुत्रको (उस) सिंहके समान, जिसका हृदय विष-लिप्त तीरसे अत्यन्त विद्ध हो, न धैर्य हुआ न चैन ॥ १ ॥

अथ मन्त्रसुतैः क्षमैः कदाचित्सखिभिश्चत्रकथैः कृतानुयात्रः ।
वनभूमिदिवक्षया शमेष्टुर्नरदेवानुमतो वह्निः प्रतस्थे ॥ २ ॥

तब एक बार शान्ति-प्राप्तिके उस इच्छुकने, राजासे अनुमति पाकर, वन-भूमि देखनेके लिए बाहर प्रस्थान किया; मन्त्रियोंके पुत्र, जो उसके योग्य मित्र थे और जो चित्र-विचित्र कथाएँ जानते थे, उसके साथ गये ॥ २ ॥

नवरुक्मस्तलीनकिङ्गीकं प्रचलच्चामरचारुहेमभाण्डम् ।
अभिश्वहा स कन्थकं सदद्वं प्रययौ केतुमिव द्रुमाब्जकेतुः ॥ ३ ॥

नये सोनेकी लगाम व धृँघुरुवाले तथा हिलते हुए चामरोंसे शोभित सुवर्ण-अलङ्कारोंवाले अच्छे घोड़े कन्थकपर चढ़कर, वह बाहर गया, जैसे पताकादण्डपर कनेल फूलका चिन्ह विराजमान हो ॥ ३ ॥

स विकृष्टतरां वनान्तभूमिं वनलोभाच्च ययौ महीगुणाच्च ।
सलिलोर्मिविकारसीरमार्गां वसुधां चैव दर्दर्श कृष्यमाणाम् ॥ ४ ॥

जंगलकी लालच तथा पृथ्वीकी उत्कृष्टतासे आकृष्ट होकर वह अत्यन्त दूरकी

३—केतुपर द्रुमाब्ज-केतु=पताका-दण्ड (या स्तम्भ) पर (द्रुमाब्ज=द्रुमोत्पल) कनेल फूलका चिन्ह; वास्तवमें इस वाक्यांशका अर्थ स्पष्ट नहीं है।

जङ्गली भूमिकी ओर गया और जोती जा रही धरतीको देखा, जिसपर हल्ले (की जुताई) के मार्ग जलतरंगोंके समान देख पड़ते थे ॥४॥

हलभिन्नविकीर्णशष्पदभार्मा हतसूक्ष्मक्रिमिकीटजन्तुकीर्णाम ।

समवेक्ष्य रसां तथाविधां तां स्वजनस्येव वधे भ्रशं शुशोच ॥५॥

जिसपर हल्ले से कटे बाल-तृण व कुश तथा मरे हुए छोटे-छोटे कीड़े-मकोड़े बिखरे हुए थे वैसी उस धरतीको देखकर उसने वैसे ही शोक किया, जैसे कि स्वजनकी हत्या होनेपर ॥५॥

कृष्टतः पुरुषांश्च वीक्ष्माणः पवनार्कांशुरजोचिभिन्नवर्णान् ।

वहनक्षमविकृतांश्च धुर्यान् परमार्थः परमां कृपां चकार ॥६॥

हवा, सूर्यकिरण व धूलसे विवर्ण हुए कृषक पुरुषों तथा हल्में बहनेके श्रमसे विकल हुए वैलोंको देखकर उस परम आर्थ (कुमार)को बड़ी करुणा हुई ॥६॥

अवतीर्थ ततस्तुरङ्गपृष्ठाच्छनकैर्गां व्यचरच्छुचा परीतः ।

जगतो जननश्ययं विचिन्वन् कृपणं खत्विदमित्युवाच चार्तः ॥७॥

तब घोड़ेकी पीठसे उतरकर उसने पृथ्वीपर शोकित हो धीरे-धीरे विचरण किया और जगत्के जन्म व विनाशकी छानबीन करते हुए, आर्त होकर कहा—“यह जगत् निश्चय ही दीन है ।” ॥७॥

मनसा च विविक्ततामभीष्टुः सुहृदस्ताननुयायिनो निवार्य ।

अभितश्चलचारुपर्णवत्या विजने मूलमुपेयिवान् स जम्बवाः ॥८॥

मानसिक पवित्रता (या एकान्त) पानेकी इच्छासे उन अनुयायी मित्रोंको रोककर, वह विजन भूमिमें जम्बू-चृक्षके मूलके समीप गया, जिसके मुन्दर पत्ते चारों ओर हिल रहे थे ॥८॥

निषसाद स यत्र शौचवत्यां भुवि वैद्यर्यनिकाशशाद्वलायाम् ।

जगतः प्रभवद्ययौ विचिन्वन्मनसश्च स्थितिमार्गमाललम्बे ॥९॥

वह वहाँ स्वच्छ भूमिपर बैठ गया, जिसके हरे तृण वैद्यर्य-मणिके समान देख पड़ते थे। और, जगत्के जन्म व विनाशकी खोज करते हुए उसने मानसिक स्थिरताके उपायका अवलम्बन किया ॥९॥

समवाप्तमनःस्थितिश्च सद्यो विषयेच्छादिभिराधिभिश्च मुक्तः ।
सवितर्कविचारमापं शान्तं प्रथमं ध्यानमनास्त्रवप्रकारम् ॥१०॥

तुरन्त मानसिक स्थिरता प्राप्त कर वह विषयोंकी इच्छा आदि (मानसिक) अधियोंसे मुक्त हो गया । और, प्रथम शान्त ध्यान प्राप्त किया, जो वितर्कविचारोंसे युक्त और आस्त्रों (राग, द्वेष आदि चित्त-मलोंसे) मुक्त था ॥१०॥ अधिगम्य ततो विवेकजं तु परमश्रीतिसुखं मनःसमाधिम् ।

इदमेव ततः परं प्रदध्यौ मनसा लोकगतिं निशाम्य सम्यक् ॥११॥

तब उसने विवेकसे पैदा होनेवाली तथा परम प्रसन्नता व सुखसे समन्वित मानसिक समाधि पाई । और, तबसे मन द्वारा जगत्की गतिको अच्छी तरह देखते हुए इसी बातका ध्यान किया:—॥११॥

कृपणं बत यज्ञनः स्वयं सन्नवशो व्याधिजराविनाशधर्मा ।
जरयादिंतमातुरं मृतं वा परमश्चो विजुगुप्सते मदान्धः ॥१२॥

यह दुःखकी बात है कि व्याधि-जरा-मरणशील मनुष्य, स्वयं पराधीन होता हुआ, अज्ञानी व मदान्ध होकर, जरासे पीड़ित, व्याधिसे ग्रस्त तथा मरे हुए दूसरे व्यक्तिकी अवहेलना करता है ॥१२॥

इह चेदहमीदृशः स्वयं सन्निजुगुप्सेय परं तथास्वभावम् ।
न भवेत्सदृशं हि तत्क्षमं वा परमं धर्ममिमं विजानतो मे ॥१३॥

इस संसारमें मैं स्वयं ऐसा होता हुआ यदि वैसे (=व्याधि आदि) स्वभाववाले दूसरेकी अवहेलना करूँ तो इस परम धर्मको जाननेवाले इस व्यक्तिके सदृश या योग्य यह नहीं होगा ।” ॥१३॥

इति तस्य विपश्यतो यथावज्जगतो व्याधिजराविपत्तिदोषान् ।
बलयौवनजीवितप्रवृत्तो विजगामात्मगतो मदः क्षणेन ॥१४॥

जगत्के व्याधि-जरा-मरणरूप दोषोंको वह ठीक-ठीक देख ही रहा था कि बल, यौवन व जीवनसे होनेवाला उसका आत्मगत मद (अहङ्कार) एक ही क्षणमें विलीन हो गया ॥१४॥

न जहर्षं न चापि चानुतेषे विचिकित्सां न ययौ न तन्द्रनिद्रे ।
न च कामगुणेषु संरक्षे न विदिद्वेष परं न चावमेने ॥१५॥

उसे न हर्ष हुआ न विषाद, न संशय, न आलस्य, न नींद । और, कामके आकर्षणों (= कामोपभोगोंसे) अनुराग नहीं हुआ, (मनमें) दूसरेसे न द्वेष किया और न दूसरेकी अवज्ञा ॥१५॥

इति बुद्धिरियं च नीरजस्का वबृधे तस्य महात्मनो विशुद्धा ।

पुरुषैरपरैरदृश्यमानः: पुरुषद्वचोपससर्प भिशुवेषः ॥१६॥

उस महात्माकी यह निर्मल विशुद्ध बुद्धि बढ़ने लगी और दूसरे लोगोंसे नहीं देखा जाता हुआ एक मनुष्य संन्यासीके वेषमें उसके समीप आया ॥१६॥

नरदेवसुतस्तमभ्यपृच्छद्वद् कोऽसीति शशांस सोऽथ तस्मै ।

नरपुंगव जन्मसृत्युभीतः श्रमणः प्रवजितोऽस्मि मोक्षहेतोः ॥१७॥

राजाके पुत्रने उसे पूछा—“कहो कौन हो ?” तब उसने उसे कहा—“हे नर-श्रेष्ठ, श्रमण (= संन्यासी) हूँ, जन्म व मरणसे डरकर मोक्षके हेतु संन्यासी हुआ हूँ ॥१७॥

जगति क्षयधर्मके मुमुक्षुर्मृगयेऽहं शिवमक्षयं पदं तव ।

स्वजनेऽन्यजने च तुल्यबुद्धिर्विषयेभ्यो विनिवृत्तरागदोषः ॥१८॥

क्षयशील जगतमें मैं मोक्ष चाहनेवाला अक्षय एवं कल्याणकारी पदकी खोज करता हूँ । स्वजन और परायेमें मेरी बुद्धि तुल्य है, विषयोंसे अनुराग और द्वेष, दोनों ही मुश्केसे चले गये हैं ॥१८॥

निवसन् कच्चिदेव वृक्षमूले विजने वायतने गिरौ वने वा ।

विचराम्यपरिग्रहो निराशः परमार्थाय यथोपपन्नभैक्षः ॥१९॥

जहाँ कहीं—वृक्षके मूलमें या विजन मन्दिरमें, पर्वतपर या वन में—रहता हूँ । परिवार-हीन और तृष्णा-रहित होकर, परमार्थ (=मोक्ष) के लिए विचरण करता हूँ; जो कुछ भी भिक्षा मिलती है उसे ही ग्रहण करता हूँ” ॥१९॥

इति पश्यत एव राजसूनोरिदमुक्त्वा स नभः समुत्पात ।

स हि तद्वपुरन्यबुद्धदर्शी स्मृतये तस्य समेयवान्द्वौकाः ॥२०॥

राजकुमारके समक्ष ही इतना कह वह आकाशमें उड़ गया । वह देवता, जिसने उस शरीरसे अन्य बुद्धों को देखा था, उसकी स्मृति (जगाने) के लिए आया था ॥२०॥

गगनं खगवद्गते च तस्मिन्नूवरः संजहृषे विसिस्मिये च ।
उपलभ्य ततश्च धर्मसंक्षामभिनिर्णयाणविधौ मर्ति चकार ॥२१॥

पक्षीके समान उसके आकाशमें उड़ जानेपर, उस नरश्रेष्ठको हर्ष और विस्मय हुआ । और, उससे धर्मका ज्ञान पाकर उसने “(घरसे) कैसे निकलूँ” इसपर विचार किया ॥२१॥

तत इन्द्रसमो जितेन्द्रियाश्वः प्रविविक्षुः पुरमश्वमाहरोह ।
परिवारजन्मं त्ववेक्षमाणस्तत एवाभिमतं वनं न भेजे ॥२२॥

तब वह इन्द्र-तुल्य, जिसने इन्द्रिय-रूप अश्वोंको जीत लिया था, नगरमें प्रवेश करनेकी इच्छासे घोड़ेपर चढ़ा । साथियोंका खयाल करता हुआ वह वहाँसे इच्छित वनको नहीं चला गया ॥२२॥

स जरामरणक्षयं चिकीर्षुर्वनवासाय मर्ति स्मृतौ निधाय ।
प्रविवेश पुनः पुरं न कामाद्वनभूमेरिव मण्डलं द्विपेन्द्रः ॥२३॥

जरा मरणका विनाश करनेकी इच्छासे वनमें रहनेका अपना निश्चय याद रखते हुए उसने उसी प्रकार अनिच्छासे नगरमें पुनः प्रवेश किया, जिस प्रकार जंगलसे हाथी (घरेलू हाथियोंके) धेरेमें (प्रवेश करे) ॥२३॥

सुखिता वंत निर्वृता च सा स्त्री पतिरीदक्ष इहायताक्ष यस्याः ।
इति तं समुदीक्ष्य राजकन्या प्रविशन्तं पथि साज्जलिर्जगाद् ॥२४॥

उसे मार्गमें प्रवेश करते देखकर, (किसी) राज-कन्याने हाथ जोड़ कर कहा—“सुखी और धन्य (निर्वृत) है वह स्त्री, जिसका पति इस संसारमें, है विशालाक्ष, ऐसा है” ॥२४॥

अथ धोषमिमं महाभ्रधोषः परिशुश्राव शमं परं च लेभे ।

श्रुतवान्स हि निर्वृतेति शब्दं परिनिर्वाणविधौ मर्ति चकार ॥२५॥

तब महामेघकी-सी ध्वनिवालेने यह शब्द झुना और परम शान्ति पाई । “धन्य (निर्वृत)” यह शब्द सुनकर, उसने “परिनिर्वाण कैसे प्राप्त करें” इसपर विचार किया ॥२५॥

अथ काज्ज्वनशैलशृङ्गवर्ष्मा गजमेघर्षभवाहुनिस्वनाक्षः ।
क्षयमक्षयधर्मजातरागः शशिसिंहाननविक्रमः प्रपेदे ॥२६॥

तब सुवर्ण-गिरि-शिखरके समान (कान्तिमान्) शरीरवाला, हाथीकी-सी बाहुवाला, मेघकी-सी ध्वनिवाला, वृषभकी-सी आँखोंवाला, चन्द्रमा-सा मुख-वाला तथा सिंहके समान पराक्रमी कुमार, जिसे अक्षय धर्मसे अनुराग हो गया था, महलमें गया ॥२६॥

**मृगराजगतिस्ततोऽभ्यगच्छच्छृपतिं मन्त्रिगणैरुपास्यमानम् ।
समितौ मरुतामिव ज्वलन्तं मधवन्तं त्रिदिवे सनत्कुमारः ॥२७॥**

तब सिंह-गति (कुमार) मंत्रियोंसे सेवित होते नृपतिके समीप गया, जैसे स्वर्गमें मरुतोंकी सभामें प्रज्वलित होते इन्द्रके समीप सनत्कुमार (जारहा हो) ॥२७॥

**प्रणिपत्य च साङ्गलिर्वभाषे दिशा महां नरदेव साध्वनुज्ञाम् ।
परिविवज्जिषामि मोक्षहेतोर्नियतो ह्यस्य जनस्य विग्रयोगः ॥२८॥**

और, हाथ जोड़कर प्रणाम करते हुए उसने कहा—“हे राजन्” कृपाकर मुझे आशा दीजिए । मोक्षके हेतु मैं परिवाजक होना चाहता हूँ; क्योंकि इस व्यक्तिका वियोग नियत है” ॥२८॥

**इति तस्य वचो निशम्य राजा करिणेवाभिहतो द्रुमश्वचाल ।
कमलप्रतिमेऽञ्जलौ गृहीत्वा वचनं चेदमुवाच बाष्पकण्ठः ॥२९॥**

उसका वचन सुनकर राजा वैसे ही कौपा, जैसे हाथीसे आहत वृक्ष । और कमल-सहश द्वार्थोंसे उसे पकड़कर बाष्पसे रुकती वाणीमें यह वचन कहा:-॥२९॥

**प्रतिसंहर तात बुद्धिमेतां न हि कालस्तव धर्मसंश्रयस्य ।
वयसि प्रथमे मतौ चलायां बहुदोषां हि वदन्ति धर्मचर्याम् ॥३०॥**

‘हे तात, इस बुद्धिको रोको, धर्मकी शरण (मैं जाने)का समय तुम्हारा नहीं है; क्योंकि प्रथम वयसमें बुद्धि चञ्चल होनेके कारण धर्मचरणमें बहुत दोष बताते हैं ॥३०॥

**विषयेषु कुतूहलेन्द्रियस्य ब्रतखेदेष्वसमर्थैनिश्चयस्य ।
तरुणस्य मनश्चलत्यरण्यादनभिज्ञस्य विशेषतो विवेके ॥३१॥**

विषयोंके प्रति उत्सुक इन्द्रियवाले, ब्रतके श्रम सहनेमें असमर्थ निश्चयवाले तथा का मन बनसे चलायमान होता है, विशेषतः जब कि वह विवेक (=एकान्त) से अनभिज्ञ रहता है ॥३१॥

मम तु प्रियधर्मं धर्मकालस्त्वयि लक्ष्मीमवसृज्य लक्ष्मभूते ।
स्थिरविक्रमं विक्रमेण धर्मस्तवं हिंवा तु गुरुं भवेदधर्मः ॥३२॥

हे प्रियधर्म, योग्य हुए तुझपर लक्ष्मीको छोड़कर मेरा धर्म (करने)का सयय (आ गया) है। हे स्थिरपराक्रम पराक्रम (के कार्य)से तुम्हें धर्म होगा, पिताको छोड़नेसे तो अधर्म ही होगा ॥३२॥

तदिमं व्यवसायमुत्सृज द्यं भव तावन्निरतो गृहस्थधर्मे ।
पुरुषस्य वयःसुखानि भुक्त्वा रमणीयो हि तपोवनप्रवेशः ॥३३॥

इसलिए इस निश्चयको तुम छोड़ो। तबतकके लिए गृहस्थ-धर्ममें लगो। जवानीके सुख भोगनेके बाद मनुष्यका तपोवन-प्रवेश रमणीय होता है ।” ॥३३॥
इति वाक्यमिदं निशम्य राज्ञः कलविङ्कस्वर उत्तरं वभाषे ।
यदि मे प्रतिभूश्चतुर्षु राजन् भवसि त्वं न तपोवनं श्रयिष्ये ॥३४॥

राजाका यह वचन सुनकर, कलविङ्क-(नामक पक्षीके) कण्ठसे उसने उत्तर दिया—“हे राजन्, यदि आप चार (बातों)में मेरा प्रतिभू होइये, तो मैं तपोवनकी शरणमें न जाऊँगा ॥३४॥

न भवेन्मरणाय जीवितं मे विहरेत्स्वास्थ्यमिदं च मे न रोगः ।
न च यौवनमाक्षिपेजरा मे न च संपत्तिमिमां हरेद्विपत्तिः ॥३५॥

मेरा जीवन मरणके लिए न हो, और न रोग मेरे इस स्वास्थ्यका हरण करे, और न जरा मेरे यौवनको नष्ट करे, और न विपत्ति मेरी इस सम्पत्तिको दरे” ॥३५॥
इति दुर्लभमर्थमूच्चिवांसं तनयं वाक्यमुवाच शाक्यराजः ।

त्यज बुद्धिमामतिप्रवृद्धामवहास्योऽतिमनोरथोऽक्रमद्वच ॥३६॥

अपने पुत्रको, जिसने ये दुर्लभ बातें कहीं, शाक्यराजने यह वचन कहा—
“इस अत्यन्त बढ़ी हुई बुद्धिको तजो, क्रम-हीन (अनुचित) मनोरथका उपहास होता है” ॥३६॥

अथ मेरुगुरुर्गुरुं बभाषे यदि नास्ति क्रम एष नास्मि वार्यः ।
शरणाज्ज्वलनेन दद्यमानान्न हि निश्चक्रमिषुः क्षमं ग्रहीतुम् ॥३७॥

४६—क्रमहीनः—जवानीमें अर्थ और कामका सेवन न करके धर्म-अर्जन करनेका मनोरथ क्रमहीन है।

तब मेरु-सदृश गौरवपूर्ण कुमारने पितासे कहा—“यदि यह क्रम नहीं है तो मुझे न रोकिये; क्योंकि आगसे जलते वरसे निकलनेकी इच्छा करनेवालेको पकड़ना उचित नहीं ॥३७॥

जगतश्च यदा ध्रुवो वियोगो ननु धर्मय वरं स्वर्गवियोगः ।
अवशं ननु विप्रयोजयेन्माम कृतस्वार्थमतृप्रसेव मृत्युः ॥३८॥

जब जगतका वियोग ध्रुव है, तब (अपने परिवारसे) धर्मके लिए स्वर्वं पृथक् हो जाना अवश्य श्रेष्ठ है । मृत्यु मुक्ष विवशको अतृप्र ही स्वार्थ (= निज लक्ष्य) - पूर्तिसे पूर्व ही अवश्य अच्छी तरह पृथक् कर देगी” ॥३८॥

इति भूमिपतिर्निशम्य तस्य व्यवसायं तनयस्य निमुक्षोः ।
अभिधाय न यास्यतीति भूयो विदधे रक्षणमुक्तमांश्च कामान् ॥३९॥

मोक्षकी इच्छा करनेवाले उस पुत्रका निश्चय सुनकर, राजाने कहा—“न जायगा” और फिर पहरे तथा उत्तम कामोपभोगोंका प्रबन्ध किया ॥३९॥

सचिवैस्तु निर्दिशितो यथाचद् बहुमानात्प्रणयाच्च शास्त्रपूर्वम् ।

गुरुणा च निवारितोऽश्रुपातैः प्रविवेशावसर्थं ततः स शोचन् ॥४०॥

सचिवों द्वारा सम्मान व प्यारसे शास्त्रानुसार उचित रीतिसे समझाये जानेपर और पिताके द्वारा आँसू गिराकर रोके जानेपर, उसने शोक करते हुए अपने निवास (= महल)में प्रवेश किया ॥४०॥

चलकुण्डलघु मिताननाभिर्घननिश्वासविकम्पितस्तनीभिः ।

वनिताभिरधीरलोचनाभिर्मृगशावाभिरिवाभ्युदीक्ष्यमाणः ॥४१॥

हिलते कुण्डलोंसे चुम्खित मुखोंवालो, घनी साँसोंसे कम्पित स्तनोंवाली तथा मृग-शावोंके समान अधीर आँखोंवाली वनिताओंने उसे देखा ॥४१॥

स हि काञ्चनपर्वतावदातो हृदयोन्मादकरो वराङ्गनानाम् ।

श्रवणाङ्गविलोचनात्मभावान्वचनस्पर्शवपुर्गुणैर्जहार ॥४२॥

काञ्चन-पर्वतके समान कान्तिमान् वह (कुमार) उत्तम अङ्गनाओंके हृदयोंके लिए उन्मादकारी था । उसने उनके कान, अङ्ग, आँखें व मनोभाव क्रमशः अपने वचन, स्पर्श, रूप व गुणोंसे हर लिये ॥४२॥

विगते दिवसे ततो चिमानं वपुषा सूर्यं इव प्रदीप्यमानः ।
तिभिरं विजिधांसुरात्मभासा रविरुद्यन्निव मेहमाहुरोह ॥४३॥

तब दिन बीतनेपर अपने शरीरसे सूर्यके समान चमकता हुआ वह प्रासादपर चढ़ा, जैसे आत्म-प्रकाश द्वारा तिभिर-नाश करनेकी इच्छासे उगता हुआ सूर्य मेरु-पर्वतपर (चढ़ता है) ॥४३॥

कनकोज्ज्वलदीपवृक्षं वरकालागुरुधूपपूर्णगर्भम् ।
अधिरुद्धि स वज्रभक्तिचित्रं प्रवरं काञ्चनमासनं सिषेवे ॥४४॥

जिसमें सोने-सी चमकती दीयट जल रही थी और जिसका भीतरी भाग उत्तम कृष्ण-आगुरुके धूपसे भरा था उस (प्रासाद) पर चढ़कर, उसने हीरेके टुकड़ोंसे मढ़े श्रेष्ठ सुर्वण-आसनका सेवन किया ॥४४॥

तत उत्तममुत्तमाङ्गनास्तं निशि तूर्यैरुपतस्थुरिन्द्रकल्पम् ।
हिमवच्छिरसीव चन्द्रगौरे द्रविणेन्द्रात्मजमप्सरोगणौद्याः ॥४५॥

तब उत्तम अङ्गनाओंने इन्द्र-तुल्य उस उत्तम कुमारकी रातमें तूर्य बाजोंसे सेवा की, जैसे चन्द्र-सदृश उज्ज्वल हिमालय-शिखरपर अप्सराओंके झुण्ड कुबेरके पुत्रकी (सेवा करते हैं) ॥४५॥

परमैरपि दिव्यतूर्यकल्पैः स तु तैर्नैव रति ययौ न हर्षम् ।
परमार्थसुखाय तस्य साधोरभिनिश्चिकमिषा यतो न रेमे ॥४६॥

दिव्य-तूर्य-सदृश उन उत्तम बाजोंसे भी उसे न प्रीति हुई, न हर्ष । परमार्थ-सुखके लिए उस साधु कुमारकी अभिनिष्करण करनेकी इच्छा थी, इसलिए उसे प्रीति नहीं हुई ॥४६॥

अथ तत्र सुरैत्तपोवरिष्टैरकनिष्ठैर्वृद्धवसायमस्य बुद्ध्वा ।
युगपत्प्रमदाजनस्य निद्रा विहितासीद्विकृताश्च गात्रचेष्टाः ॥४७॥

तब उसका निश्चय जानकर, तपस्यामें श्रेष्ठ अकनिष्ठ देवोंने वहाँ एक ही बार (सब) प्रमदाओंको निद्रित और उनकी गात्र-चेष्टाओंको विकृत कर दिया ॥४७॥

अभवच्छयिता हि तत्र काचिद्विनिवेश्य प्रचले करे कपोलम् ।
दयितामपि रुक्मपत्रचित्रां कुपितेवाङ्गतां विहाय वीणाम् ॥४८॥

वहाँ कोई तो, काँपते हाथपर कपोल रखकर, सोनेके पत्तोंसे मढ़ी प्यारी वीणाको भी मानो कुपित होकर गोदमें छोड़कर सो रही थी ॥४८॥

विवभौ करलग्नवेणुरन्या स्तनविस्त्रस्तसितांशुका शयाना ।

ऋजुष्टप्दपड़क्तिजुष्टपद्मा जलफेनप्रहसन्तटा नदीव ॥४९॥

दूसरी सोई हुई (स्त्री), जिसके हाथमें वंशी लगी हुई थी और जिसके स्तनोंपरसे इवेत अंशुक गिरा हुआ था, (उस) नदीके समान शोभित हुई जिसके कमल भौंरोंकी सीधी पंक्तिसे सेवित हों और जिसके तट जलफेन (की धबलता)से हँस रहे हों ॥४९॥

नवपुष्करगर्भकोमलाभ्यां तपनीयोज्ज्वलसंगताङ्गदाभ्याम् ।

स्वपिति स्म तथापरा भुजाभ्यां परिरभ्य प्रियवन्मृदङ्गमेव ॥५०॥

उसी प्रकार तीसरी (स्त्री) अपनी भुजाओंसे, जो नये कमलके भीतरी भागके समान कोमल थीं और जिनके सुवर्ण-उज्ज्वल बाहुभूषण (एक दूसरेसे) मिले हुए थे, मृदङ्गको ही प्रियतमकी भाँति आलिङ्गन किये सो रही थी ॥५०॥

नवहाटकभूषणस्तथान्या वसनं पीतमनुत्तमं वसानाः ।

अवशा घननिद्रया निपेतुर्गजभग्ना इव कर्णिकारशाखाः ॥५१॥

उसी प्रकार नव-सुवर्ण-भूषणवाली अन्य द्वियाँ, जो उत्तम पीत वसन पहने हुई थीं, गाढ़ी नांदसे विवश होकर गिरीं, जैसे हाथी द्वारा तोड़ी गई कर्णिकार की डालें (गिरती हैं) ॥५१॥

अवलम्ब्य गवाक्षपादर्वमन्या शयिता चापविभुग्नगात्रयष्टिः ।

विरराज विलम्बिवचारहारा रचिता तोरणशालभञ्जिकेव ॥५२॥

खिड़कीकी बगलके सहारे सोई हुई दूसरी स्त्री, जिसकी देह धनुषके समान छुकी हुई थी और जिसके मुन्दर हार लटक रहे थे, इस प्रकार विराजी जैसे तोरणपर बनी कठपुतली हो ॥५२॥

मणिकुण्डलदण्डपत्रलेखं मुखपद्मं विनतं तथापरस्याः ।
शतपत्रमिवार्धवक्रनाडं स्थितकारण्डवघटितं चकाशे ॥५३॥

४९—कमल है हाथ, भौंरा है वंशी, तट हैं स्तन और फेन है अंशुक ।

उसी प्रकार दूसरी का छुका हुआ मुख-पद्म, जिसके पत्रलेख (= कपोल आदि पर बने नित्र) को रक्त-कुंडल मिटा रहे थे, (उस) कमलके समान शोभित हुआ जिसका नाल आधा छुका हो और जो कारण्डव पक्षीके बैठनेदे हिल रहा हो ॥ ५३ ॥

अपराः शयिता यथोपविष्टः स्तनभारैरवनस्यमानगात्राः ।

षष्ठ्युह्वा परस्परं विरेजुर्भुजपाशैरतपनीयपारिहार्यैः ॥५४॥

दूसरी बैठी-बैठी ही सो गईं, उनके गात्र स्तनोंके भारसे छुके हुए थे । वे सुवर्ण-बलय युक्त बाहु-लताओंसे एक दूसरेका आलिङ्गन किये शोभ रहीं थीं ॥ ५४ ॥

महतीं परिवादिनीं च काचिद्विनितालिङ्ग्य सखीमिव प्रसुस्ता ।

विजुघूर्ण चलत्सुवर्णसूत्रा वदनेनाकुलयोक्तुकेण ॥५५॥

और, कोई बनिता एक बड़ी सात तारवाली वीणाका सखीके समान आलिङ्गन कर सोई हुई थी । हिलते सुवर्ण-सूत्रोंवाली वह स्त्री अस्त-व्यस्त योक्तु (= सूत्र !) वाले मुखसे घूम (= चंकर खा) रही थी ॥ ५५ ॥

पणवं युवतिर्भुजांसदेशादविलंसितचारुपाशमन्या ।

सविलासरतान्ततान्तमूर्वोर्विवरे कान्तमिवाभिनीय शिश्ये ॥५६॥

दूसरी युवती पणव (बाजे) को, जिसकी सुन्दर डोरी काँखसे गिर गई थी, सविलास सम्भोगके अन्तमें थके प्रियतमके समान, दोनों जाँधोंके बीच लाकर सोई ॥ ५६ ॥

अपरा वभूवुर्निमीलिताक्ष्यो विपुलाक्ष्योऽपि शुभभ्रुवोऽपि सत्यः ।

प्रतिसङ्क्षितारविन्दकोशाः सवितर्यस्तमिते यथा नलिन्यः ॥५७॥

सुन्दर भौंहोंवाली व बड़ी-बड़ी आँखोंवाली होनेपर भी दूसरी (छियों)की आँखें बग्द हो गईं, जैसे सूर्यास्त होनेपर कमलिनियोंके कमल-कोश बन्द हो जाते हैं ॥ ५७ ॥

शिथिलाकुलमूर्धजा तथान्या जघनस्त्विभूषणांशुकान्ता ।

अशयिष्ट विकीर्णकण्ठसूत्रा गजभग्ना प्रतियातनाङ्गनेव ॥५८॥

उसी प्रकार दूसरी (स्त्रियाँ), जिनके केश शिथिल व अस्त-व्यस्त थे और जाँघोंसे जिनके गहने व कपड़ेके छोर गिर गये थे, और जिनके कण्ठ-सूत्र बिखरे हुए थे, इस तरह (बेहोश होकर) सोईं, जैसे हाथी द्वांरा तोड़ी गई स्त्रीकी प्रतिमा (पड़ी हो) ॥५८॥

अपरास्त्ववशा हिया वियुक्ता धृतिमत्योऽपि वपुर्गुणैरुपेताः ।
विनिश्चयसुरुल्वणं शायाना विकृताः क्षिप्तभुजा जज्ञम्भिरे च ॥५९॥

दूसरी (स्त्रियाँ) अत्यन्त रूपवती तथा धीर होनेपर भी विवशता के कारण लाज-रहित हो असभ्य ढांगसे सोती हुई, जंरोंसे साँसें छोड़ रही थीं; वे विकृत थीं, भुजाएँ फेंक रही थीं और ज़माई ले रही थीं ॥५९॥

व्यपचिद्धविभूषणस्तजोऽन्या विसृताद्यन्थनवासमो विसंश्ना ।
अनिर्मीलितशुक्लनश्चलाक्ष्यो न विरेज्जुः शयिता गतासुकल्पाः ॥६०॥

दूसरी, जिनके गहने व माचाएँ अलग फेंकी हुई थीं और जिनके वज्ज्ञोंकी ग्रन्थियाँ खुली हुई थीं, बेहोश पड़ी थीं। उनकी निश्चल आँखोंकी सफेदी दिखाई पड़ती थी। मुदोंके समान सोई हुई वे शोभित नहीं हुई ॥६०॥

विवृतास्यपुटा विवृद्धगात्री प्रपतद्रक्तूजला प्रकाशगुह्या ।
अपरा मदधूर्णितेव शिश्ये न बभासे विकृतं वपुः पुषोष ॥६१॥

दूसरी मदमातीकी भाँति सोई। उसका मुख-पुट खुला था, गात्र फैले हुए थे, (अतः क्रमशः) उसके मुखसे जल गिर रहा था और गुह्य भाग प्रकाशित हो रहे थे। वह शोभित नहीं हुई। उसने विकृत रूप धारण किया ॥६१॥

इति सत्त्वकुलान्वयानुरूपं विविधं स प्रमदाजनः शयानः ।
सरसः सदृशं बभार रूपं पवनावर्जितरुग्नपुष्करस्य ॥६२॥

स्वभाव, कुल, एवं अन्वयके अनुसार भाँति-भाँतिसे सोये हुए उस प्रमदा-बृन्दने उस सरोवरके सदृश रूप धारण किया, जिसके कमल हवामें झुकाये गये और टेहे किये गये हों ॥६२॥

समवेक्ष्य तथा तथा शयाना विकृतास्ता युवतीरधीरचेष्टाः ।
गुणवद्वपुषोऽपि वलगुभाषा नृपसूनुः स विगर्हयांबभूव ॥६३॥

उस उस प्रकारसे सोती हुई चंचल चेष्टाओंवाली युवतियोंको, अद्यपि उनके शरीर रूपवान् और वचन मनोहर थे, बीभत्स देखकर उस राजकुमारने यों निन्दा कीः—॥६३॥

अशुचिर्विकृतश्च जीवलोके वनितानामयमीटशः स्वभावः ।
वसनाभरणैस्तु वज्च्यमानः पुरुषः स्त्रीविषयेषु रागमेति ॥६४॥

“जीव-लोकमें वनिताओंका यह ऐसा स्वभाव बीभत्स और अपवित्र है; किन्तु वस्त्रों और आभूषणोंसे ठगा जाता पुरुष स्त्रियोंसे अनुराग करता है” ॥६४॥ विमृशेद्यदि योषितां मनुष्यः प्रकृतिं स्वप्रविकारमीटशं च ।

ध्रुवमत्र न वर्धयेत्प्रमादं गुणसङ्कल्पहतस्तु रागमेति ॥६५॥

यदि मनुष्य स्त्रियोंके स्वभाव तथा स्वप्रावस्थाके ऐसे विकारका विचार करे, तो अवश्य ही उसमें वह अपनी असावधानी न बढ़ावे; किन्तु, स्त्रीमें गुण हैं, इस विचारसे अभिभूत होकर वह उससे अनुराग करता है” ॥६५॥

इति तस्य तदन्तरं विदित्वा निश्चिन्मिष्ठा समुदवभूव ।

अवगम्य मनस्तोऽस्य देवैर्भवनद्वारमपावृतं वभूव ॥६६॥

यह अन्तर जानकर रातको निष्कर्मण करनेकी उसकी इच्छा हुई । तब उसका मन जानकर देवों द्वारा यहद्वार खोल दिया गया ॥६६॥

अथ सोऽवतार हर्म्यपृष्ठाद्युवतीस्ताः शयिता चिर्गर्हमाणः ।

अवतीर्य ततश्च निर्विशङ्को गृहकक्ष्यां प्रथमां चिनिर्जगाम ॥६७॥

तब सोई हुई उन युवतियोंकी निन्दा करता हुआ वह प्रासादपरसे उतरा । और वहाँसे उतरकर, निश्चाङ्कहो घरकी पृथ्ली कक्ष्या (आंगन)में गया ॥६७॥

तुरगावचरं स वोधयित्वा जविनं छन्दकमत्थमित्युवाच ।

हृयमानय कन्थकं त्वरावानमृतं प्राप्तुमितोऽद्य मे यियासा ॥६८॥

वेगवान् छन्दक नामक अश्वरक्षकको जगाकर, उसने इस प्रकार कहा—
“शीघ्रतासे कन्थक घोड़ेको लाओ, आज यहाँसे अमरत्व प्राप्त करनेके लिए मेरी जानेकी इच्छा है” ॥६८॥

हृदिया मम तुष्टिरद्य जाता व्यवसायश्च यथा मनौ निविष्टः ।

विजनेऽपि च नाथवानिवास्मि ध्रुवमर्थोऽभिमुखः समेत इष्टः ॥६९॥

आज मेरे हृदयमें जो संतोष हुआ है, और बुद्धि जिस प्रकार निश्चयात्मक हुई है और विजनमें भी जिस प्रकार नाथवान्तके समान हूँ, निश्चय ही इष्ट लक्ष्य सामने आ गया है ॥ ६९ ॥

हिप्रमेव च संनर्ति च हित्वा शयिता मत्प्रमुखे यथा युवत्यः ।
विवृते च यथा स्वयं कपाटे नियतं यातुमतो ममाद्य कालः ॥७०॥

लाज व विनयको छोड़कर युवतियाँ जिस प्रकार मेरे सामने सोई हुई हैं, और किवाड़ जिस प्रकार स्वयं खुल गये हैं, निश्चय ही आज वहाँसे जानेका मेरा समय है” ॥ ७० ॥

प्रतिगृह्य ततः स भर्तुराजां विदितार्थोऽपि नरेन्द्रशासनस्य ।
मनसीव परेण चौद्यमानस्तुरगस्यानयने मर्ति चकार ॥७१॥

तब राजाके आदेशका अर्थ जानते हुए भी उसने स्वामीकी आज्ञा मान ली । और, मन में मानो दूसरेसे प्रेरित होते हुए उसने घोड़ा लानेका विचार किया ॥ ७१ ॥

अथ हेमखलीनपूर्णवक्तुं लघुशय्यास्तरणोपगूढपृष्ठम् ।
वलसत्त्वजवान्वयोपन्नं स वराश्व तमुपानिनाय भर्त्वे ॥७२॥

तब स्वामीके लिए वह उस श्रेष्ठ घोड़ेको ले आया, जिसका मुँह सोनेकी लगामसे भरा था, जिसकी पीठ हलकी पलान व झूलसे आलिङ्गित (= ढँकी) थी, जो बल, सत्त्व, वेग व वंशसे युक्त था ॥ ७२ ॥

प्रतत्रिक्तुच्छमूलपार्णिं निभृतहस्वतनूजपुच्छकर्णम् ।
विनतोन्नतपृष्ठकुक्षिपार्श्वं विपुलप्रोथललाटकट्ट्युरस्कम् ॥७३॥

जिसके त्रिक (= रीढ़का निचला भाग), पुच्छ-मूल व पार्णि (एँडी, पाँवका पिछला भाग) विस्तीर्ण थे, जिसके बाल पुच्छ व कान छोटे तथा निश्चल थे, जिसकी पीठ व बगल दबे हुए और उठे हुए थे, जिसकी नाक, ललाट, कमर व छाती विशाल थी ॥ ७३ ॥

उपगुह्य स तं विशालवक्षाः कमलामेन च सान्त्वयन् करेण ।
मधुराक्षरया गिरा शशास ध्वजिनीमध्यमिव प्रवेष्टुकामः ॥७४॥

उस विशाल वक्षः स्थलवालेने कमलके समान कान्तिमान् हाथसे उसे छूकर सान्त्वना देते हुए मधुर अक्षरों-भरी वाणीमें ऐसे आदेश दिया, जैसे वह (विपक्षी) सेनाके बीच प्रवेश करनेकी इच्छा (तैयारी) कर रहा होः—॥७४॥ बहुशः किल शत्रुघ्ने निरस्ताः समरे त्वामधिरुद्धा पार्थिचेन। अहमप्यसृतं पदं यथावन्नुरगश्चेष्ट लभेय तत्कुरुप्व ॥७५॥

“तु ज्ञपर चढ़कर राजाने युद्धमें शत्रुघ्नोंको अनेक बार परास्त किया। हे तुरगश्चेष्ट, मैं भी उस अमर पदको जिस प्रकार पाऊँ वैसा करो ॥ ७५ ॥ सुलभाः खलु संयुगे सहाया चिषयावाससुखे धनर्जने वा। पुरुषस्य तु दुर्लभाः सहायाः पतितस्यापदि धर्मसंश्रये वा ॥७६॥

युद्धमें, विषयोंसे प्राप्त होनेवाले सुखमें, या धन-अर्द्धमें साथी सुलभ होते हैं; किन्तु आपत्तिमें पड़नेपर या धर्मका आश्रय लेनेमें बुरुषके साथी दुर्लभ हैं ॥७६॥

इह चैव भवन्ति ये सहायाः कल्पे कर्मणि धर्मसंश्रये वा। अवगच्छति मे यथान्तरात्मा नियतं तेऽपि जनास्तदंशभाजः ॥७७॥

और, इस संसारमें पाप-कर्ममें या धर्मका आश्रय लेनेमें जो साथी होते हैं, मेरी अन्तरात्मा जैसा समझती है, अवश्य ही वे लोग भी उस कर्म-फलके हिस्सेदार होते हैं ॥७७॥

तदिदं परिगम्य धर्मयुक्तं मम निर्याणमितो जगद्विताय। तुरगोन्तम वेगविक्रमाभ्यां प्रयतस्वात्महिते जगद्विते च ॥७८॥

तब यहाँसे जगत्के हितके लिए मेरे इस निष्कर्मणको धर्म-युक्त जानकर, हे तुरगश्चेष्ट, आत्म-हित व जगत्-हितके लिए वेग और पराक्रमपूर्वक प्रयत करो ।” ॥७८॥

इति सुहृदमिवानुशिष्य कृत्ये तुरगवरं नृवरो वर्नं यियासुः। सितमसितगतिद्यतिर्वपुष्मान् रविरिव शारदमध्रमारुरोह ॥७९॥

वर्न जानेके इच्छुक उस नर-श्रेष्ठने उस उत्तम घोड़ेको कर्तव्य करनेके लिए ऐसे आदेश दिया, जैसे कि वह उसका मित्र हो; अग्निके समान

कान्तिमान् वह रूपवान् राजकुमार उजले घोड़ेपर इस प्रकार चढ़ा, जैसे
शरत्कालीन मेघपर सूर्य ॥७९॥

अथ स परिदृश्यशीथचण्डं परिजनबोधकरं धर्मिनि सदश्वः ।
विगतहनुरवः प्रशान्तदेष्यश्चकितविमुक्तपदक्रमो जगाम ॥८०॥

तब वह अच्छा घोड़ा रात्रिकालकी प्रचण्ड तथा परिजनोंको जगानेवाली
धनिको रोकता हुआ चला; उसके जबडे निश्चब्द थे, उसकी हिनहिनाहट
शान्त थी, और उसके पग निर्भय थे ॥८०॥

कनकबलयभूषितप्रकाष्ठैः कमलनिभैः कमलानिव प्रविध्य ।
अवनततनवस्ततोऽस्य यक्षाश्चकितगतैर्दधिरं खुगन् करात्रैः ॥८१॥

देह शुकाकर यशोंने अपने पुलकित हाथोंके अग्रभागोंसे इसके खुर पकड़
लिये; और कमल-सट्टा हाथोंसे, जिनके प्रकोष्ठ सुवर्ण-कঙ्कणोंसे भूषित थे, वे
मानो कमल विलेर रहे थे ॥८१॥

गुरुपरिधकपाटसंवृता या न सुखमपि द्विरदैरपावियन्ते ।
वजति नृपसुते गतस्वनास्ताः स्वयमभवन्विवृताः पुरःप्रतोल्यः ॥८२॥

फाटकके भारी किवाड़ोंसे बन्द जो नगर-द्वार हाथियोंसे भी सुखपूर्वक नहीं
खुलते थे, वे राजाके पुत्रके जानेपर स्वयं निश्चब्द खुल गये ॥८२॥
पितरमभिमुखं सुतं च वालं जनमनुरक्तमनुत्तमां च लक्ष्मीम् ।
कृतमतिरपहाय निर्व्यपेक्षः पितृनगरात्स ततो विनिर्जगाम ॥८३॥

तब वह कृतनिश्चय निरपेक्ष होकर स्नेही पिताको, बालपुत्रको, अनुरक्त
लोगों को, और अनुगम लक्ष्मीको छोड़कर, पितृनगरसे निकल गया ॥८३॥

अथ स विमलपङ्कजायताक्षः पुरमवलोक्य ननाद सिंहनादम् ।
जननमरणयोरदृष्टपारो न पुरमहं कपिलाद्वयं प्रवेष्टा ॥८४॥

तब विमल कमलोंके समान विशाल आँखोंवाले उस कुमारने नगरको
देखकर सिंहनाद किया:—“जन्म व मृत्युका पार देखे विना कपिल नामके
इस नगरमें फिर प्रवेश न करूँगा ।” ॥८४॥

इति वचनमिदं निशम्य तस्य द्रविणपतेः परिषद्गणा ननन्दुः ।
प्रमुदितमनसश्च देवसह्या व्यवसितपारणमाशशंसिरेऽस्मै ॥८५॥

उसका यह वचन सुनकर, द्रविण-पति (= कुवेर) की परिषद्के गण आनन्दित हुए; और प्रसन्नचित्त देव-संघोंने उसकी निश्चय-पूर्तिकी इच्छा की ॥८५॥

हुतवहवपुषो दिवौकसोऽन्ये व्यवसितमस्य सुदुर्जरं विदित्वा ।
अकृष्टत तुहिने पथि प्रकाशं घनविवरप्रसृता इवेन्दुपादाः ॥८६॥

उसके अति दुर्जर निश्चयको जानकर अग्निके समान रूपवान् अन्य देवोंने, जैसे बादलोंके बीचसे फैली चन्द्र-किरणोंने, उसके बर्फाले रास्तेमें प्रकाश किया ॥८६॥

हरितुरगतुरङ्गवत्तुरङ्गः स तु विचरन्मनसीव चोद्यमानः ।
अरुणपरुषतारमन्तरिक्षं स च सुवहूनि जगाम योजनानि ॥८७॥

इति बुद्धचरिते महाकाव्येऽभिनिष्क्रमणो नाम पञ्चमः सर्गः ।

सूर्यके घोड़ेके समान वह घोड़ा, जो मानो मनमें प्रेरित होता हुआ चल रहा था, और वह कुमार, उषाके आगमनसे आसमानके तारोंके फीके होनेसे पहले ही बहुत योजन चले गये ॥८७॥

बुद्धचरित महाकाव्यका “अभिनिष्क्रमण” नामक
पञ्चम सर्ग समाप्त ।



षष्ठि सर्ग

छन्दक-विसर्जन

ततो मुहूर्ताभ्युदिते जगच्छ्रुषि भास्करे ।
भार्गवस्याश्रमपदं स ददर्श नृणां वरः ॥ १ ॥

तब एक मुहूर्तमें जगत्-चक्षु सूर्यके उगनेपर उस नर-श्रेष्ठने भार्गवका आश्रम देखा ॥ १ ॥

सुप्रविश्वस्तहरिणं स्वस्थस्थितविहङ्गमम् ।
विश्रान्त इव यद्वृष्टा कृतार्थ इव चामवत् ॥ २ ॥

जहाँ विश्वस्त (= निर्भय) होकर हरिण सोये हुए थे और स्वस्थ (= शान्त) होकर पक्षी बैठे हुए थे, जिस (आश्रम) को देखकर उसकी थकावट मानो चली गई और वह मानो कृतार्थ हुआ ॥ २ ॥

स विस्मयनिवृत्यर्थं तपःपूजार्थमेव च ।
स्वां चानुधर्तिं रक्षन्नश्वपृष्ठादवातरत् ॥ ३ ॥

औद्धत्य घोड़नेके लिए और तपस्याके समानके लिए अपने आचरणकी रक्षा करता हुआ वह घोड़ेकी पीठसे उतर गया ॥ ३ ॥

अवतीर्य च पस्पर्शं निस्तीर्णमिति वाज्ञिनम् ।
छन्दकं चाववीत्प्रीतः स्नापयन्निव चक्षुषा ॥ ४ ॥

और, उतरकर “पार लगाया” यह कहते हुए घोड़ेको स्पर्श किया । और, प्रसन्न होकर छन्दकको आँखोंसे मानो नहवाते हुए कहाः—॥ ४ ॥

इमं ताक्ष्योपमजवं तुरङ्गमनुगच्छता ।
दर्शिता सौम्य मद्भक्तिर्विक्रमश्चायमात्मनः ॥ ५ ॥

“गरुडके समान वेगवान् इस घोड़ेका अनुसरण करते हुए, हे सौम्य, तुमने मेरे प्रति भक्ति और अपना पराक्रम दिखाये ॥ ५ ॥

सर्वथास्मयन्यकार्योऽपि गृहीतो भवता हृदि ।

भर्तुस्नेहश्च यस्यायमीदशः शक्तिरेव च ॥६॥

यद्यपि सब प्रकारसे अन्य कार्योंमें लगा (अन्यमनस्क) हूँ, तथापि तुमने इस स्वाभिस्नेह और शक्तिके द्वारा मेरा हृदय हरण कर लिया है ॥६॥

अस्तिनग्धोऽपि समर्थोऽस्ति निःसामर्थ्योऽपि भक्तिमान् ।

भक्तिमांश्चैव शक्तश्च दुर्लभस्त्वद्विधो भुवि ॥७॥

स्नेह-हीन होनेपर भी आदमी समर्थ होता है; सामर्थ्य-हीन होनेपर भी भक्तिमान् होता है। तुम्हारे-जैसा भक्तिमान् और शक्तिमान् पुरुष पृथ्वीपर दुर्लभ है ॥७॥

तत्प्रीतोऽस्मि तवानेन महाभागेन कर्मणा ।

यत्थ ते मयि भावोऽयं फलेभ्योऽपि पराढ्युखः ॥८॥

इसलिए तुम्हारे इस उत्तम कर्मसे प्रसन्न हूँ। मेरे प्रति तुम्हारा यह भाव निस्त्वार्थ और निष्काम है ॥८॥

को जनस्य फलस्थस्य न स्यादभिमुखो जनः ।

जनीभवति भूयिष्ठं स्वजनोऽपि चिर्पर्यये ॥९॥

फलमें स्थित (= फल देनेवाले व्यक्तिके) अनुकूल कौन नहीं होगा ! विपरीतमें (अर्थात् फल मिलनेकी आशा नहीं रहनेपर) स्वजन भी प्रायः पराया हो जाता है ॥९॥

कुलार्थं धार्यते पुत्रः पोषार्थं सेव्यते पिता ।

आशायाच्छूलिष्यति जगद्वास्ति निष्कारणा स्वता ॥१०॥

वंश-वृद्धिके लिए पुत्रका पालन किया जाता है और पोषणके लिए पिताको सेवाकी जाती है। आशयसे ही जगत् मेल करता है, विना कारणके अपनापन नहीं होता है ॥१०॥

किमुक्त्वा बहु संक्षेपात्कृतं मे सुमहत्यिथम् ।

निवर्तस्वाश्वमादाय सप्राप्तोऽस्मीप्सितं पदम् ॥११॥

बहुत कहनेसे क्या ! संक्षेपमें, तुमने मेरा बड़ा प्रिय किया। घोड़ेको लेकर लौट जाओ। मैं इच्छित स्थानको पहुँच गया हूँ ॥” ॥११॥

इत्युक्त्वा स महाबाहुरनुशंसचिकीर्षया ।
भूषणान्यवमुच्यास्मै संतसमनसे ददौ ॥१२॥

इतना कहकर प्रिय (उपकार) करनेकी हच्छा से, उस महाबाहुने अपने आभूषण खोलकर उस संतस-चित्त को दिवे ॥१२॥

मुकुटादीपकर्मणं मणिमादाय भास्वरम् ।
ब्रुदन्वाक्यमिदं तस्यौ सादित्य इव मन्दरः ॥१३॥

दीएका काम करनेवाली चमकीली मणिको मुकुटसे लेकर, मन्दराचलके समान जिसके ऊपर सूर्य स्थित हो, शोभित होते हुए, उसने ये वचन कहे:—॥१३॥

अनेन मणिना छन्द प्रणम्य बहुशो नृपः ।
विज्ञाप्योऽसुक्तविश्रम्य संतापविनिवृत्तये ॥१४॥

“इस मणि से, हे छन्दक, राजाको बार-बार प्रणाम कर उनका सन्ताप दूर करनेके लिए विश्वासपूर्वक (यह सन्देश) निवेदन करनाः—॥१४॥

जरामरणनाशार्थं प्रविष्टोऽस्मि तपोवनम् ।
न खलु स्वर्गतर्णेण नास्नेहेन न मन्युना ॥१५॥

जरा और मरणका विनाश करनेके लिए मैंने तपोवनमें प्रवेश किया है, अवश्य ही स्वर्गकी तृणासे नहीं, स्नेहके अभावसे नहीं, क्रोधसे नहीं ॥१५॥

तदेवमभिनिष्ठान्तं न मां शोचितुमर्हसि ।
भूत्वापि हि चिरं इलेषः कालेन न भविष्यति ॥१६॥

अतः इस तरह मुझ निकले हुए के लिए आपको शोक नहीं करना चाहिए; क्योंकि संयोग (= मिलन) चिरकालतक होकर भी समय पाकर नहीं रहेगा ॥ १६ ॥

ध्रुवो यस्माच्च विश्लेषस्तस्मान्मोक्षाय मे मतिः ।
विप्रयोगः कथं न स्याद्भूयोऽपि स्वजनादिति ॥१७॥

और, क्योंकि वियोग निश्चित है, इसलिए मोक्ष (पाने)के लिए मेरा विचार है, जिसमें किर भी स्वजनसे वियोग न हो ॥ १७ ॥

शोकत्यागाय निष्क्रान्तं न मां शोचितुमर्हसि ।
शोकहेतुषु कामेषु सक्तः शोच्यास्तु रागिणः ॥१८॥

शोकत्यागके लिए मुझ निकले हुएके लिए आपको शोक नहीं करना चाहिए । शोकके हेतु स्वरूप काम भोगोंमें आसक्त रागी व्यक्तियोंके लिए शोक करना चाहिए ॥ १८ ॥

अर्थं च किल पूर्वेषामस्माकं निश्चयः स्थिरः ।

इति दायाद्यभूतेन न शोच्योऽस्मि पथा व्रजन् ॥१९॥

और, यह तो हमारे पूर्वपुरुषोंका दृढ़ निश्चय था; (इस) पैतृक (=पूर्वजोंके) मार्गपर चल रहा हूँ, अतः मेरे लिए शोक नहीं किया जाना चाहिए ॥ १९ ॥

भवन्ति हार्थदायादाः पुरुषस्य विपर्यये ।

पृथिव्यां धर्मदायादाः दुर्लभास्तु न सन्ति वा ॥२०॥

उलट-पुलट (=मृत्यु) होनेपर पुरुषके धनके दायाद होते हैं; किंतु पृथिवीपर धर्मके दायाद दुर्लभ हैं या हैं ही नहीं ॥ २० ॥

यदपि स्यादसमये यातो वनमसाविति ।

अकालो नास्ति धर्मस्य जीविते चञ्चले सति ॥२१॥

यह कि वह (कुमार) असमयमें बन गया, तो (कहूँगा कि) जीवन चञ्चल होनेके कारण धर्मके लिए असमय नहीं है ॥ २१ ॥

तस्मादद्यैव मे श्रेयश्वेतव्यमिति निश्चयः ।

जीविते को हि विश्राम्भो मृत्यौ प्रत्यर्थिनि स्थिते ॥२२॥

इसलिए कल्याणका चयन (=अर्जन) में आज ही करूँगा, यही निश्चय है; क्योंकि मृत्युरूप शत्रुके रहनेपर जीवनमें क्या विश्वास ? ॥ २२ ॥

एवमादि त्वया सौम्य विश्वाप्यो घसुधाधिपः ।

प्रयत्नेथास्तथा चैव यथा मां न स्मरेदपि ॥२३॥

इस प्रकार, हे सौम्य, तुम्हें राजासे निवेदन करना चाहिए और वैसा ही प्रयत्न करो जिससे वह मुझे स्मरण भी न करें ॥ २३ ॥

अपि नैर्गुण्यमस्माकं वाच्यं नरपतौ त्वया ।
नैर्गुण्यात्यज्यते स्नेहः स्नेहत्यागान्न शोच्यते ॥२४॥

तुम्हें नरपतिसे हमारी निर्गुणता (= दोष) भी कहना चाहिए । निर्गुणता के कारण स्नेह छोड़ते हैं, स्नेह छोड़नेसे शोक नहीं होता है ।” ॥ २४ ॥

इति वाक्यमिदं श्रुत्वा छन्दः संतापविकल्पः ।

वाष्पग्रथितया वाचा प्रत्युवाच कृताञ्जलिः ॥२५॥

यह वाक्य सुनकर सन्तापसे विकल छन्दकने हाथ जोड़कर वाष्प-ग्रथित वाणीमें रो रोकर उत्तर दिया:—॥ २५ ॥

अनेन तव भावेन वान्धवायासदायिना ।

भर्तः सीदति मे चेतौ नदीपङ्क इव द्विपः ॥२६॥

“वान्धवोंको कष्ट देनेवाले आपके इस मनोभावसे, हे स्वामिन, मेरा चित्त नदी-पङ्कमें (फँसे) हाथीके समान दुख रहा है ॥ २६ ॥

कस्य नोत्पादयेद्वाष्पं निश्चयस्तेऽयमीदशः ।

अयोमयेऽपि हृदये किं पुनः स्नेहविकल्पे ॥२७॥

आपका यह ऐसा निश्चय किसके लोहेसे भी बने हृदयको द्रवीभूत नहीं करेगा, फिर स्नेहविकल (हृदय)का क्या कहना ? ॥ २७ ॥

विमानशायनाहौं हि सौकुमार्यमिदं क च ।

खरदभाङ्गुरवती तपोवनमही क च ॥२८॥

कहाँ प्रासादकी शय्याके योग्य यह सुकुमारता और कहाँ तीक्ष्ण तृण-अंकुरोंसे युक्त तपोवनकी भूमि ! ॥२८॥

श्रुत्वा तु व्यवसायं ते यदश्वोऽयं मयाहृतः ।

बलात्कारेण तन्नाथ दैवेनैवास्मि कारितः ॥२९॥

आपका निश्चय सुनकर मैं घोड़ा जो ले आया, हे नाथ, वह तो दैवने मुझसे बलात् कराया ॥२९॥

कथं ह्यात्मवशो जानन् व्यवसायमिमं तव ।

उपानयेयं तुरगं शोकं कपिलवास्तुनः ॥३०॥

यदि मैं अपने वशमें होता तो आपका यह निश्चय जानकर मैं कपिलवस्तुका
शोक— (यह) घोड़ा— (आपके समीप) कैसे लाता ? ॥३०॥

तन्नार्हसि महावाहो विहातुं पुत्रलालसम् ।

स्त्रिगर्थं वृद्धं च राजानं सद्दर्ममिव नास्तिकः ॥३१॥

इसलिए, हे महावाहो, पुत्रके लिए उत्थुक स्नेही और बृद्ध राजा को, जैसे
सद्दर्मको नास्तिक (छोड़ता है), आपको न छोड़ना चाहिए ॥ ३१ ॥

संवर्धनपरिश्रान्तां द्वितीयां तां च मातरम् ।

देवीं नार्हसि विस्मर्तुं कृतध्नं इव सत्क्रियाम् ॥३२॥

और, पालन-पोषण करनेमें थको उस दूसरी माता रानीको, जैसे सत्क्रियाको
कृतज्ञ (भूलता है), आपको न भूलना चाहिए ॥ ३२ ॥

बालपुत्रां गुणवर्तीं कुलश्लाघ्यां पतिव्रताम् ।

देवीमर्हसि न त्यक्तुं कलीबः प्राप्तमिव श्रियम् ॥३३॥

बाल-पुत्रवाली, गुणवर्ती, तथा श्लाघ्य कुलवाली पतिव्रता देवी (= पत्नी)
को, जैसे हीब आई हुई लक्ष्मीको (छोड़ता है), आपको न छोड़ना
चाहिए ॥ ३३ ॥

पुत्रं याशोधरं श्लाघ्यं यशोधर्मभृतां वरम् ।

बालमर्हसि न त्यक्तुं व्यसनीवोक्तमं यशः ॥३४॥

यशोधराके बालपुत्रको, जो प्रशंसाके योग्य है और जो यश एवं धर्म
धारण करनेवालोंमें श्रेष्ठ है, जैसे उत्तम यशको व्यसनी (छोड़ता है), आपको
न छोड़ना चाहिए ॥ ३४ ॥

अथ वन्धुं च राज्यं च त्यक्तुमेव कृता मतिः ।

मां नार्हासि विभो त्यक्तुं त्वपादौ हि गतिर्मम ॥३५॥

अथवा यदि वन्धु एवं राज्यको छोड़नेका ही विचार है, तो हे विभो,
आपको मुझे न छोड़ना चाहिए; क्योंकि मेरी गति तो आपके ही चरणोंमें
है ॥ ३५ ॥

नास्मि यातुं पुरं शको दद्यमानेन चेतसा ।

त्वामरप्ये परित्यज्य सुमन्त्र इव राघवम् ॥३६॥

आपको जंगलमें, जैसे सुमन्त्रने राघवको (छोड़ा था), छोड़कर जलते चित्तसे मैं नगरको नहीं जा सकता हूँ ॥ ३६ ॥

किं हि वक्ष्यति मां राजा त्वद्वते नगरं गतम् ।

वक्ष्यामयुचितदर्शित्वार्तिकं तवान्तःपुराणि वा ॥३७॥

आपके विना नगरमें जानेपर राजा मुझे क्या कहेंगे ? या उचित (=शुभ) के दर्शनका अभ्यास होनेके कारण अन्तःपुरमें मैं क्या कहूँगा ? ॥ ३७ ॥

यदप्यात्थापि नैर्गुण्यं चाच्यं नरपताविति ।

किं तद्वक्ष्यामयभूतं ते निर्दोषस्य मुनेरिव ॥३८॥

यह जो कहा कि “राजासे मेरी निर्गुणता कहना; तो क्या मुनिके समान आप निर्दोषके बारेमें असत्य कहूँगा ? ॥ ३८ ॥

हृदयेन सलज्जेन जिह्या सज्जमानया ।

अहं यद्यपि वा ब्रूयां कस्तच्छ्रद्धानुमर्हति ॥३९॥

लज्जा-युक्त हृदयसे और (किसी किसी तरह) सज्जित (=उद्यत) होती जीभसे यदि मैं कहूँ भी, तो कौन विश्वास करेगा ? ॥ ३९ ॥

यो हि चन्द्रमस्तैक्षण्यं कथयेच्छ्रद्धीत वा ।

स दोषांस्तव दोषज्ञं कथयेच्छ्रद्धीत वा ॥४०॥

जो चन्द्रमाकी तीक्ष्णता कहेगा या उसपर विश्वास करेगा, है दोषज्ञ, वही आपके दोष कहे या उसपर विश्वास करे ॥ ४० ॥

सानुकोशस्य सततं नित्यं करुणवेदिनः ।

स्तिन्धत्यागो न सद्वशो निवर्तस्व प्रसीद मे ॥४१॥

जो सदा दयावान् है, नित्य करुणा अनुभव करता है, उसके लिए स्नेही-का त्याग योग्य नहीं । लौटिये, मुझपर प्रसन्न होइये” ॥ ४१ ॥

इति शोकाभिभूतस्य श्रुत्वा छन्दस्य भाषितम् ।

स्वस्थः परमया धृत्या जगाद वदतां वरः ॥४२॥

शोकसे अभिभूत छन्द (=छन्दक) का वचन सुनकर, वक्ताशेषेने स्वस्थ (=शान्त) होकर अत्यन्त धैर्यपूर्वक कहा:—॥ ४२ ॥

मद्वियोगं प्रति च्छन्द संतापस्त्यज्यतामयम् ।

नानाभावो हि नियतं पृथग्जातिषु देहिषु ॥४३॥

“मेरे वियोगके प्रति, हे छन्दक, यह संताप छोड़ो; देह-धारियोंका पृथक् होना नियत है, क्योंकि (मृत्युके बाद) उनका पृथक् पृथक् जन्म होता है ॥४३॥

स्वजनं यद्यपि स्नेहान्न त्यजेयमहं स्वयम् ।

मृत्युरन्योन्यमवशानस्मान् संत्याजयिष्यति ॥४४॥

यदि स्नेहके कारण स्वजनको मैं स्वर्ण न भी छोड़ूँ, तो मृत्यु हम विवशोंसे एक दूसरेका त्याग करावेगी ॥ ४४ ॥

महत्या तृष्णया दुःखैर्गर्भेणास्मि यथा धृतः ।

तस्या निष्फलयत्नायाः काहं मातुः क सा मम ॥४५॥

बड़ी तृष्णासे कष्ट-पूर्वक जिसके द्वारा मैं गर्भमें धारण किया गया, उस निष्फल-यत्ना माताका मैं कहाँ, मेरो वह कहाँ ? ॥ ४५ ॥

वासवृक्षे समागम्य विगच्छन्ति यथाण्डजाः ।

नियतं विप्रयोगान्तस्तथा भूतसमागमः ॥४६॥

जिस प्रकार वास-वृक्षपर समागम होनेके बाद पक्षी पृथक्-पृथक् दिशामें चले जाते हैं, अवश्य ही उसी प्रकार प्राणियोंके समागमका अन्त वियोग है ॥ ४६ ॥

समेत्य च यथा भूयो व्यप्यान्ति वलाहकाः ।

संयोगो विप्रयोगश्च तथा मे प्राणिनां मतः ॥४७॥

और, जिस प्रकार बादल एकत्र होकर, फिर अलग हो जाते हैं, उसी प्रकार प्राणियोंका संयोग और वियोग है, (ऐसा) मैं समझता हूँ ॥ ४७ ॥

यस्माद्याति च लोकोऽयं विप्रलभ्य परंपरम् ।

ममत्वं न क्षमं तस्मात्स्वप्नभूते समागमं ॥४८॥

और, क्योंकि लोग एक दूसरेको ठगकर चले जाते हैं, इसलिए स्वप्न-सदृश समागममें ममता उचित नहीं ॥ ४८ ॥

सहजेन वियुज्यन्ते पर्णरागेण पादपाः ।

अन्येनान्यस्य विद्वलेषः किं पुनर्न भविष्यति ॥४९॥

साथ पैदा होनेवाली पत्तोंकी लालीसे पौधोंका वियोग होता है, फिर क्या दूसरेसे दूसरेका वियोग न होगा ? ॥ ४९ ॥

तदेवं सति संतापं मा कार्षीः सौम्य गम्यताम् ।

लम्बते यदि तु स्नेहो गत्वापि पुनराव्रजा ॥५०॥

तब ऐसा होनेपर, हे सौम्य, संताप मत करो, जाओ। यदि स्नेह बना ही रहे तो जाकर भी फिर आओ ॥ ५० ॥

ब्रूयाश्चास्मत्कृतपेक्षं जनं कपिलवास्तुनि ।

त्यज्यतां तदगतः स्नेहः श्रूयतां चास्य निश्चयः ॥५१॥

कपिलवास्तुमें मेरी आशा (=प्रतीक्षा) करनेवाले लोगोंसे कहना—उसके प्रति स्नेह छोड़िये और उसका निश्चय सुनिये ॥ ५१ ॥

क्षिप्रमेष्यति वा कृत्वा जन्ममृत्युक्षयं किल ।

अकृतार्थो निरारम्भो निधनं यास्यतीति वा ॥५२॥

जन्म और मृत्युका क्षय करके या तो वह शीत्र ही आवेगा, या प्रयत्नहीन और असफल होकर मृत्युको प्राप्त होगा” ॥ ५२ ॥

इति तस्य वचः श्रुत्वा कन्थकस्तुरगोत्तमः ।

जिह्वया लिलिहे पादौ वाष्पमुण्डं मुमोच च ॥५३॥

उसका वचन सुनकर, तुरग-श्रेष्ठ कन्थकने जीभसे उसके पाँव चाटे और गर्म आँसू बहाये ॥ ५३ ॥

जालिना स्वस्तिकाङ्क्षेन चक्रमध्येन पाणिना ।

आमर्मश्च कुमारस्तं बभाषे च चयस्यवत् ॥५४॥

(रेखा-) जाल-युक्त और स्वस्तिक-चिह्न-युक्त हाथसे, जिसके बीच चक्र (का चिह्न) था, कुमारने उसे स्पर्श किया और समवयस्कके समान कहाः—॥ ५४ ॥

मुश्च कन्थक मा बाष्पं दर्शितेयं सदश्वता ।

मृष्यतां सफलः शीघ्रं श्रमस्तेऽयं भविष्यति ॥५५॥

“हे कन्थक आँसू मत बहाओ, तुमने यह सदश्वता (=अच्छे घोड़ेका गुण) दिखाई। धैर्य रखो, शीत्र ही तुम्हारा यह श्रम सफल होगा” ॥ ५५ ॥

मणित्सरुं छन्दकहस्तसंस्थं ततः स धीरो निशितं गृहीत्वा ।
कोशादर्सि काज्चनभक्तिचित्रं विलादिवाशीविषमुद्बवर्ह ॥५६॥

तब उस धीर (कुमार)ने मणियोंकी बेंटवाली, सोनेसे मढ़ी तेज तलवार, जो छन्दकके हाथमें थी, (अपने हाथमें) ले ली और उसे म्यानसे ऐसे निकाला जैसे विलसे साँपको (निकाल रहा हो) ॥ ५६ ॥

निष्कास्य तं चोत्पलपत्रनीलं चिच्छेदं चित्रं मुकुटं सकेशम् ।
विकीर्यमाणांशुकमन्तरीक्षे चिक्षेपं चैनं सरसीवं हंसम् ॥५७॥

और, उत्पलके पत्तोंके समान नीलवर्ण उस (तलवार) को निकालकर, केय-सहित चित्र-विचित्र मुकुटको काटा; और फैलती किरणोंके साथ उसे आकाशमें फेंका, जैसे हंसको सरोवरमें (फेंक रहा हो) ॥ ५७ ॥

पूजाभिलाषेण च वाहुमान्याद्वौकसस्तं जग्नुः प्रविद्धम् ।
यथावदेनं दिवि देवसङ्घा दिव्यैर्विशेषमहयां च चक्रुः ॥५८॥

और, देवताओंने उस फेंके हुए (मुकुट) को सभ्मानके कारण पूजा (करने) की अभिलाषासे ले लिया और स्वर्गमें देव-सङ्घोंने दिव्य विशेषताओंके साथ उसकी यथावत् पूजा की ॥ ५८ ॥

मुक्त्वा त्वलंकारकलब्रवत्तां श्रीविप्रवासं शिरसश्च कृत्वा ।
दृष्ट्वांशुकं काज्चनहंसचिह्नं वन्यं स धीरोऽभिचकाड़क्ष वासः ॥५९॥

अलङ्काररूप कलब्रका स्वामित्व छोड़कर और शिरकी शोभाको निर्वासित-कर, सुवर्ण-हंसोंसे चित्रित अपने अंशुकको देखकर, उस धीरने तपोवनके योग्य वस्त्रकी आकांक्षा की ॥ ५९ ॥

ततो मृगव्याधवपुर्दिवौका भावं विदित्वास्य विशुद्धभावः ।
काषायवस्थोऽभिययौ समीपं तं शाक्यराजप्रभवोऽभ्युवाच ॥६०॥

तब उसका भाव जानकर, विशुद्धभाव देवता मृगोंके व्याधके रूपमें काषाय वस्त्र पहने हुए, उसके समीप गया; शाक्यराजके पुत्रने उसे कहा:—॥ ६० ॥

शिवं च काषायमृषिध्वजस्ते न युज्यते हिंस्मिदं धनुश्च ।
तत्सौम्य यद्यस्ति न सक्तिरत्र महां प्रयच्छेदमिदं गृहाण ॥६१॥

“इस हिंसक धनुषके साथ तुम्हारा यह मङ्गलमय काषाय वस्त्र, जो ऋषियों का चिन्ह है, मेल नहीं खाता। इसलिए, हे सौम्य, यदि इसमें आसक्ति नहीं है, तो मुझे यह (अपना) दो, और यह (मेरा) लो।” ॥ ६१ ॥

व्याधोऽब्रवीत्कामद् काममारादनेन विश्वास्य मृगान्निहन्मि ।
अर्थस्तु शक्रोपम यद्यनेन हन्त प्रतीच्छानय शुक्लमेतत् ॥६२॥

व्याधने कहा—“हे कामनाओंकी पूर्ति करनेवाले, समीपसे इसके द्वारा विश्वास पैदाकर मृगोंको मारता हूँ। किंतु, हे इन्द्र-नुत्य, यदि इससे प्रयोजन हो, तो लो और यह श्वेत (वस्त्र) लाओ” ॥ ६२ ॥

परेण हर्षेण ततः स वन्यं जग्राह वासौऽशुक्लमुत्सर्ज ।
व्याधस्तु दिव्यं वपुरेव विभ्रत्तच्छुक्लमादाय दिवं जगाम ॥६३॥

तब परम हर्षसे उसने वन-योग्य वस्त्र ग्रहण किया और अंशुक छोड़ दिया। व्याध दिव्य शरीर धारणकर, श्वेत (वस्त्र) ले, स्वर्गको चला गया ॥६३॥
ततः कुमारश्च स चाश्वगोपस्तस्मिस्तथा याति विसिस्मियाते ।
आरण्यके वाससि चैव भूयस्तस्मिन्नकाष्ठौ बहुमानमाशु ॥६४॥

तब उसके उस प्रकार जानेपर, कुमार और वह अश्व-रक्षक विस्मित हुए और उन्होंने वन-योग्य वस्त्रके प्रति (मनमें) बढ़ा सम्मान किया ॥६४॥
छन्दं ततः साश्रुमुखं विसुन्य काषायसंभृदधृतिकीर्तिभृत्सः ।
येनाश्रमस्तेन ययौ महात्मा संध्याभ्रसंवीत इवोहुराजः ॥६५॥

तब अश्रुमुख छन्दको विदाकर, काषाय-धारी धृतिमान् कीर्तिमान् वह महात्मा, सन्ध्या-कालीन मेघोंसे आवृत चन्द्रमाके समान, जहाँ आश्रम था वहाँ गया ॥६५॥

ततस्तथा भर्तरि राज्यनिःस्पृहे तपोवनं याति विवर्णवाससि ।
भुजौ समुत्क्षण्य ततः स वाजिभृद्भृशं विचुक्रोश पपात च क्षितौ ॥६६॥

राज्य (-भोगकी) इच्छासे मुक्त हुआ उसका स्वामी जब विवर्ण वस्त्र पहनकर वहाँसे तपोवनकी ओर गया, तब भुजाओंको फैलाकर रोते-रोते वह अश्व-रक्षक पृथ्वीपर गिर पड़ा ॥६६॥

विलोक्य भूयश्च रुरोद सखरं हयं भुजाभ्यासुपगुह्या कन्थकम् ।
ततो निराशो विलपन्मुहुर्यथौ शरीरेण पुरं न चेतसा ॥६७॥

फिर (पीछे) देखकर, भुजाओंसे कन्थक घोड़ेको पकड़कर जोर-जोरसे रोया । तब निराश होकर बार-बार रोता हुआ वह, शरीरसे, न कि चित्त से, नगरकी ओर गया ॥६७॥

कच्चित्प्रदध्यौ विललाप च कच्चित् कच्चित्प्रचस्थाल पपात च कच्चित् ।
अतो ब्रजन् भक्तिवशेन दुःखितश्चार बहीरवशःपथि क्रियाः ॥६८॥

इति बुद्धचरिते महाकाव्ये छन्दकनिवर्तनो नाम पष्ठः सर्गः ।

कहीं ध्यान किया और कहीं विलाप, कहीं फिसला और कहीं गिरा ।
अतः भक्ति-वश दुःखी होकर जाते हुए, उस वेवसने मार्गमें बहुत-सी कियाएँ कीं ॥६८॥

बुद्धचरित महाकाव्यका “छन्दक-विसर्जन” नामक
षष्ठि सर्ग समाप्त ।

६८—चतुर्थ पादमें “अवसः”की जगह “अवशः” रखा गया है ।

सप्तम सर्ग

तपोवन-प्रवेश

ततो विसृज्याथुमुखं रुदन्ते छन्दं वनच्छन्दतया निरास्थः ।

सर्वार्थसिद्धो वपुषाभिभूय तमाश्रमं सिद्धं इव प्रपेदे ॥ १ ॥

तब वन (जाने) की इच्छाके कारण आसक्तियोंसे मुक्त होकर, अश्रुमुख रोते छन्दको बिदा कर, सिद्धके समान अपने रूपसे उस आश्रमको अभिभूत करता हुआ सर्वार्थसिद्ध (= सिद्धार्थ) वहाँ गया ॥ १ ॥

स राजसूनुमृगराजगामी मृगाजिरं तन्मृगवत्प्रविष्टः ।

लक्ष्मीवियुक्तोऽपि शरीरलक्ष्मया चक्षुषिं सर्वाश्रमिणां जहार ॥ २ ॥

मृगराजगामी उस नृपात्मजने मृगोंके उस आँगनमें मृगके समान प्रवेश किया । (वस्त्राभूषणोंकी) लक्ष्मी (= शोभा)से रहित होनेपर भी शरीरकी लक्ष्मीसे उसने सब आश्रमवासियोंकी आँखें हर लीं ॥ २ ॥

स्थिता हि दस्तस्थयुगास्तथैव कौतूहलाच्चकधराः सदाराः ।

तमिन्द्रकर्पं दद्वयुर्न जग्मुर्धुर्या इवार्धाविनतैः शिरोभिः ॥ ३ ॥

चक्रधर तपस्वी पक्षियोंके साथ कुतूहल-वश उसी प्रकार हाथोंमें जुए रखकर (भार-वाहक) बैलोंके समान आधे-छुके शिरोंसे उस इन्द्र-तुल्यको देखते रहे, (वहाँसे) गये नहीं ॥ ३ ॥

विप्राश्च गत्वा वहिरिधमहेतोः प्राप्ताः समित्युष्पपवित्रहस्ताः ।

तपःप्रधानाः कृतबुद्धयोऽपि तं द्रष्टुमीयुर्न मठानभीयुः ॥ ४ ॥

होमकी लकड़ीके लिए बाहर गये विप्र लौट चुके थे, समिधा और फूलोंसे उनके हाथ पवित्र थे । महातपस्वी एवं बुद्धिमान् होनेपर भी वे उसे देखनेके लिए गये; मठोंमें नहीं गये ॥ ४ ॥

३—चक्रधर तपस्वी हाथोंमें जुए रखकर हल चलाते होंगे ।

हृष्टाश्च केका मुमुक्षुर्मयूरा दृष्टाम्बुदं नीलमिवोन्नमन्तः ।
शष्पाणि हित्वामिमुखाश्च तस्युर्मगाश्चलाक्षा मृगचारिणश्च ॥५॥

प्रसन्न होकर उठते हुए मोर वैसे ही बोलने लगे, जैसे नीले बादलको देखकर। तृण छोड़कर चञ्चल आँखोंवाले मृग व मृगोंके समान (तृण) चरनेवाले तपस्वी समने खड़े हुए ॥ ५ ॥

दृष्टा तमिक्षवाकुकुलप्रदीपं ज्वलन्तमुद्यन्तमिवांशुमन्तम् ।

कृतेऽपि दोहे जनितप्रमोदाः प्रसुम्भुवुर्होमदुहश्च गाचः ॥ ६ ॥

उदय होते सूर्यके समान प्रज्वलित होते उस इक्षवाकु-कुल-प्रदीपको देखकर, प्रसन्न हुईं गाएँ जो होमके लिए दूही जाती थीं, दूही जानेपर भी (फिर) प्रस्तवित हुईं (उनके थर्नोंसे दूध चूने लगा) ॥ ६ ॥

कच्चिद्दसूनामयमष्टमः स्यात्स्यादश्विनोरन्यतरश्चयुतो वा ।

उच्चेष्वरुच्चैरिति तत्र वाचस्तदर्शनाद्विस्मयजा मुनीनाम् ॥ ७ ॥

‘क्या यह बसुओंमेंसे अष्टम है या अश्विनोंमेंसे गिरा हुआ एक ?’ उसके दर्शनसे मुनियोंके ऐसे ही विस्मय-जनक बचन बहाँ जोर जोरसे उच्चरित हुए ॥ ७ ॥

लेखर्षभस्येव वपुद्दितीयं धामेव लोकस्य चराचरस्य ।

स द्योतयामास वनं हि कृतस्नं यद्वच्छया सूर्य इवावतीर्णः ॥ ८ ॥

इन्द्रके दूसरे शरीरके समान, चराचर संसारकी ज्योतिके समान, उसने समस्त वनको भासित किया, जैसे स्वेच्छासे उत्तरा हुआ सूर्य हो ॥ ८ ॥

ततः स तैराश्रमिभिर्यथावदभ्यर्चितश्चोपनिमन्त्रितश्च ।

प्रत्यर्चयां धर्मभृतो वभूव स्वरेण साम्भोऽम्बुधरोपमेन ॥ ९ ॥

तब उन आश्रम-वासियों द्वारा यथावत् पूजित और निमन्त्रित होनेपर, उसने सजल जलदके समान स्वरसे उन धार्मिकोंकी प्रतिपूजा की ॥ ९ ॥

कीर्णं तथा पुण्यकृता जनेन स्वर्गाभिकामेन विमोक्षकामः ।

तमाश्रमं सोऽनुचरार धीरस्तपांसि चित्राणि निरीक्षमाणः ॥ १० ॥

पुण्य (अर्जन) करनेवाले स्वर्गाभिलाषी लोगोंसे भरे उस आश्रममें मोक्षके इच्छुक उस धीरने, विविध तपस्या ओंको देखते हुए, विचरण किया ॥ १० ॥

तपःप्रकारांश्च निरीक्ष्य सौम्यस्तपोवने तत्र तपोधनानाम् ।
तपस्विनं कंचिदनुबज्जन्तं तत्त्वं विजिज्ञासुरिदं वभाषे ॥११॥

वहाँ तपोवनमें तपस्वियोंकी विविध तपस्याएँ देखकर, उस सौम्यने पीछे-
पीछे जाते हुए किसी तपस्सीसे, तत्त्व जाननेकी इच्छा से, यह कहा— ॥११॥
तत्पूर्वमद्याश्रमदर्शनं मे यस्मादिमं धर्मविधि न जाने ।
तस्माद्द्वावानर्हति भाषितुं मे यो निश्चयो यत्प्रति वः प्रवृत्तः ॥१२॥

“मेरा यह प्रथम आश्रम-दर्शन है, जिस कारण मैं इस धर्म-विधिको नहीं
जानता हूँ । इसलिए आप मुझे कहें कि आप लोगोंका निश्चय क्या है, (और)
किसके प्रति (यह निश्चय) प्रवृत्त है ॥१२॥

ततो द्विजातिः स तपोविहारः शाक्यर्षभार्यर्षभविक्रमाय ।
क्रमेण तस्मै कथयांचकार तपोविशेषांस्तपसः फलं च ॥१३॥

तत्र उस तपस्सी द्विजने उत्तम पराक्रमवाले उस शाक्य-श्रेष्ठसे क्रमशः
तपस्याकी विशेषताएँ और तपस्याका फल बताये:— ॥१३॥

अग्राम्यमन्नं सलिले प्ररुढं पर्णानि तोयं फलमूलमेव ।
यथागमं वृत्तिरियं मुनीनां भिन्नास्तु ते ते तपसां विकल्पाः ॥१४॥

“जलमें उत्पन्न अग्राम्य (= जंगली) अन्न, पत्ते, जल, फल और मूल,
जैसा कि शास्त्र कहता है, यही मुनियोंकी वृत्ति (= आहार) है; तपस्याओंके
भिन्न-भिन्न बहुतसे प्रकार हैं ॥१४॥

उज्जेन जीवन्ति खगा इवान्ये तृणानि केचिन्मृगवच्चरन्ति ।
केचिद्भूजङ्गैः सह वर्तयन्ति वल्मीकभूता वनमारुतेन ॥१५॥

दूसरे (तपस्सी) चिड़ियोंकी तरह चुने हुए (अन्न)पर जीते हैं, (तो)
कुछ मृगोंके समान तृण चरते हैं । वल्मीक (मिट्टीके ढेर) हुए कुछ (तपस्सी)
साँपोंके साथ जंगली हवापर रहते हैं ॥१५॥

अद्यप्रयत्नार्जितवृत्तयोऽन्ये केचित्स्वदन्तापहतान्नभक्षाः ।
कृत्वा परार्थं श्रपणं तथान्ये कुर्वन्ति कार्यं यदि शोषमस्ति ॥१६॥

१ १—“तपोविकारांश्च”की जगह “तपःप्रकारांश्च” रखा गया है ।

दूसरे पत्थरोंसे कूटकर जीविका चलाते हैं, कोई अपने दाँतोंसे छिले अब्र खाते हैं। तथा दूसरे दूसरोंके लिए पाक करते हैं और यदि शेष रहता है, तो (अपना) कार्य (=भोजन आदि) करते हैं ॥१६॥

**केचिज्जलकिलन्नजटाकलापा द्विः पावकं जुह्वति मन्त्रपूर्वम् ।
मीनैः समं केचिदपो विगाह्य वसन्ति कूर्मालिलखितैः शरीरैः ॥१७॥**

कोई जलसे जटा-कलाप भिंगोकर दो बार मन्त्रपूर्वक अग्निमें हवन करते हैं। कोई जलमें प्रवेश कर मछलियोंके साथ रहते हैं, कछुओंसे उनके शरीर विद्ध होते रहते हैं ॥१७॥

**परंविधैः कालचित्स्तपोमिः परैर्दिवं यान्त्यपरैर्नुलोकम् ।
दुःखेन मार्गेण सुखं ह्यपैति सुखं हि धर्मस्य वदन्ति मूलम् ॥१८॥**

(उचित) कालमें अर्जित ऐसी उत्तम तपस्याओंसे वे स्वर्ग जाते हैं और निकृष्ट तपस्याओंसे मर्त्यलोक। दुःखके मार्गसे सुख प्राप्त होता है; (लोग) सुखको ही धर्मका मूल (=उद्देश्य) कहते हैं” ॥१८॥

**इत्येवमादि द्विपदेन्द्रवत्सः श्रुत्वा वचस्तस्य तपोधनस्य ।
अद्वृष्टतत्त्वोऽपि न संतुतोष शनैरिदं चात्मगतं वभाषे ॥१९॥**

उस तपसीका ऐसा वचन सुनकर, राज-कुमारको, यद्यपि उसने तच्चको नहीं देखा था, संतोष नहीं हुआ और उसने धीरे-धीरे अपनेको यों कहा:-॥१९॥

**दुःखात्मकं नैकविधं तपश्च स्वर्गप्रधानं तपसः फलं च ।
लोकाश्च सर्वे परिणामवन्तः स्वल्पे श्रमः खल्वयमाश्रमाणाम् ॥२०॥**

“अनेक प्रकारकी तपस्याएँ दुःखात्मक हैं, और तपस्याका प्रधान फल स्वर्ग है, और सब लोक विकारवान् (परिवर्तनशील) हैं; (तब) आश्रमों (=आश्रमवासियों)का यह श्रम निश्चय ही स्वल्प (उद्देश्य)के लिए है ॥२०॥

**प्रियांश्च बन्धूनिषयांश्च हित्वा ये स्वर्गहेतोनियमं चरन्ति ।
ते विप्रयुक्ताः खलु गन्तुकामा महत्तरं बन्धनमेव भूयः ॥२१॥**

जो प्रिय बन्धुओं और विषयोंको छोड़कर स्वर्ग प्राप्त करनेके लिए नियमका आचरण करते हैं; वे उससे बिछुड़कर फिर और भी बड़े बन्धनमें जाना चाहते हैं ॥२१॥

कायकलमैर्यश्च तपोऽभिधानैः प्रवृत्तिमाकाङ्क्षति कामहेतोः ।
संसारदोषानपरीक्षमणो दुःखेन सोऽन्विच्छाति दुःखमेव ॥२२॥

जो तप नामक शारीरिक क्लेशोंसे कामोपभोगके हेतु प्रवृत्ति (जीवन)की आकांक्षा करता है, वह भव-चक्रके दोषोंको नहीं देखता हुआ (तपरूप) दुःखसे (जीवनरूप) दुःखकी ही इच्छा करता है ॥२२॥

त्रासश्च नित्यं मरणात्प्रजानां यत्नेन चेच्छन्ति पुनःप्रसूतिम् ।
सत्यां प्रवृत्तौ नियतश्च मृत्युस्तत्रैव मग्ना यत एव भीताः ॥२३॥

मृत्युसे जीव बराबर डरते हैं और यत्नपूर्वक पुनर्जन्म चाहते हैं । प्रवृत्ति होनेपर मृत्यु निश्चित है । अतः वे जिससे डरते हैं उसीमें छबते हैं ॥२३॥
इहार्थमेके प्रविशन्ति खेदं स्वर्गार्थमन्ये श्रममाण्नुवन्ति ।
सुखार्थमाशाङ्कपणोऽकृतार्थः पतत्यनर्थं खलु जीवलोकः ॥२४॥

कोई इस लोकके लिए कष्ट करते हैं, दूसरे स्वर्गके लिए श्रम करते हैं । निश्चय ही सुखकी आशासे दीन प्राणि-जगत् अकृतार्थ होकर विपत्तिमें पड़ता है ॥२४॥

न खल्वर्थं गर्हित एव यत्तो यो हीनसुत्तुज्य विशेषगामी ।
प्राज्ञैः समानेन परिश्रमेण कार्यं तु तद्यत्र पुनर्न कार्यम् ॥२५॥

अवश्य ही यह यत्न निन्दित नहीं जो हीनको छोड़कर विशेष (= उत्तम) की ओर जाता है । बुद्धिमानोंको समान परिश्रमसे वह करना चाहिए जिसमें फिर उन्हें (कुछ) न करना पड़े ॥२५॥

शरीरपीडा तु यदीह धर्मः सुखं शरीरस्य भवत्यधर्मः ।
धर्मेण चाप्रोति सुखं परत्र तस्मादधर्मं फलतीह धर्मः ॥२६॥

यदि इस लोकमें शरीर-पीडा (क्लेश, तप) धर्म है, तो शरीरका सुख अधर्म । धर्मसे पर-लोकमें (जीव) सुख प्राप्त करता है, इसलिए धर्म, इस लोकमें, अधर्मका फल धारण करता है ॥२६॥

यतः शरीरं मनसो वशेन प्रवर्तते चापि निवर्तते च ।
युक्तो दमश्वेतस एव तस्माच्चित्ताद्वते काष्ठसमं शरीरम् ॥२७॥

क्योंकि मनकी प्रभुतासे शरीर (कर्ममें) प्रवृत्त और (कर्मसे) निवृत्त होता है; इसलिए चित्तका ही दमन उचित है, चित्तके बिना शरीर काठके समान है ॥२७॥

आहारशुद्ध्या यदि पुण्यमिष्टं तस्मान्मृगाणामपि पुण्यमस्ति ।
ये चापि वाह्याः पुरुषाः फलेभ्यो भाग्यापराधेन पराङ्मुखार्थाः ॥२८॥

आहारकी शुद्धिसे यदि अभिलिप्ति पुण्य हो, तब मृगोंको भी पुण्य होता है और उन लोगोंको भी, जो (वर्मके) फल (= सुख)से रहित हैं और भाग्य-दोषसे धन जिनसे विमुख हैं (क्योंकि ऐसे दुःखी तथा निर्धन मनुष्य तपस्वीका ही आहार करते हैं) ॥२८॥

दुःखेऽभिसंधिस्त्वथपुण्यहेतुः सुखेऽपि कार्यो ननु सोऽभिसंधिः ।
अथ प्रमाणं न सुखेऽभिसंधिर्दुःखे प्रमाणं ननु नाभिसंधिः ॥२९॥

दुःख (तपस्या)में यदि सङ्कल्प पुण्यका कारण है तो सुखमें भी वह सङ्कल्प करना चाहिए (जो कि पुण्यका कारण है) । यदि सुखमें सङ्कल्प प्रमाण नहीं है, तो दुःखमें भी सङ्कल्प प्रमाण नहीं है ॥ २९ ॥

तथैव ये कर्मविशुद्धिहेतोः स्पृशन्त्यपस्तीर्थमिति प्रवृत्ताः ।
तत्रापि तोषो हृदि केवलोऽयं न पावयिष्यन्ति हि पापमापः ॥३०॥

उसी प्रकार कर्मकी शुद्धिके लिए जो लोग जलको तीर्थ समक्षकर स्पर्श करते हैं, उनके हृदयमें यह केवल संतोष ही है; क्योंकि पानी पापको पवित्र नहीं कर सकता ॥ ३० ॥

स्पृष्टं हि यद्यद्गुणवद्विरम्भस्तत्पृथिव्यां यदि तीर्थमिष्टम् ।
तस्माद्गुणानेव परैमि तीर्थमापस्तु निःसंशयमाप एव ॥३१॥

२९—इस श्लोककी व्याख्या यह होगी:—“तपस्या करते हुए जो पुण्य प्राप्त होता है उसका कारण यदि मानसिक संकल्प (intention) है, तो सुखोपभोग करते हुए भी वही संकल्प करना चाहिए जिससे पुण्य प्राप्त हो । यदि सुखोपभोग करते हुए संकल्प करनेसे पुण्य नहीं मिल सकता है तो तपस्या करते हुए भी संकल्प करनेसे पुण्य नहीं मिलना चाहिए ।

गुणवान् जिस-जिस जलका स्पर्श करते हैं यदि पृथिवीपर वही इष्ट तीर्थ है,
तब गुणोंको ही मैं तीर्थ समझता हूँ, पानी तो निसंदेह पानी ही है' ॥३१॥
इति स्म तत्तद्बहुयुक्तियुक्तं जगाद् चास्तं च ययौ विवस्वान् ।
ततो द्विर्धूमविवर्णवृक्षं तपःप्रशान्तं स वनं विवेश ॥३२॥

इस तरह उसने युक्ति-युक्त बहुत कुछ कहा और तब सूर्य अस्त हुआ ।
उसके बाद उसने वनमें प्रवेश किया, जिसके बृक्ष होमके धु एँसे विवर्ण थे और
जहाँ तपस्याकी शान्ति थी ॥ ३२ ॥

अभ्युदधृतप्रज्वलितानिहोत्रं कृताभिषेकर्षिजनावकीर्णम् ।
जाप्यस्वनाकूजितदेवकोष्ठं धर्मस्य कर्मान्तमिव प्रवृत्तम् ॥३३॥

वहाँ प्रज्वलित अग्निहोत्र उठाये जा रहे थे, स्नान किये ऋषियोंसे वह वन
भर रहा था, जपके शब्दसे देव-मन्दिर कूजित थे, मानो वह वन धर्मका कर्मान्त
हो गया था ॥ ३३ ॥

काञ्चित्त्रिशास्तत्र निशाकराभः परीक्षमाणश्च तपांस्युवास ।
सर्वं परिक्षेप्य तपश्च मत्वा तस्मात्पःक्षेत्रतलाजगाम ॥३४॥

वह चन्द्रोपम तपोंकी परीक्षा करता हुआ कई रातों तक वहाँ रहा । चारों
ओरसे सब तपको समझकर, वह उस तरोंभूमिसे चला गया ॥ ३४ ॥

अन्ववजन्नाश्रमिणस्ततस्तं तद्रूपमाहात्म्यगतैर्मनोभिः ।
देशादनार्थं रभिभूयमानान्महर्षयो धर्ममिवापयान्तम् ॥३५॥

उसके रूप तथा माहात्म्यसे आकृष्टचित्त आश्रम-वासी उसके पीछे-पीछे
गये, जैसे अनार्थोंसे जीते जाते देशसे हटते धर्मके पीछे-पीछे महर्षिगण जा
रहे हों ॥ ३५ ॥

ततो जटावल्कलचीरखेलांस्त्पोधनांश्चैव स तान्ददर्श ।
तपांसि चैषामनुरुद्धयमानस्तस्यौ शिवे श्रीमति बृक्षमूले ॥३६॥

तब उसने जटा-वल्कल-चीर-वस्त्र-धारी उन तपस्वियोंको आते देखा और
उनके तपोंका सम्मान करता हुआ वह मंगलमय सुन्दर बृक्षके नीचे ठहर
गया ॥ ३६ ॥

३३—कर्मान्त = खलिहान, कारखाना, स्थली ।

अथोपसृत्याश्रमवासिनस्तं मनुष्यवर्यं परिवार्यं तस्युः ।
बृद्धश्च तेषां बहुमानपूर्वं कलेन साम्ना गिरमित्युवाच ॥३७॥

तब समीप जाकर, आश्रम-वासी उस नर-श्रेष्ठको धेरकर खड़े हो गये और उनमें से बृद्धने अति सम्मानपूर्वक मधुरता एवं सान्त्वनासे यह वचन कहा:—॥३७॥

त्वय्यागते पूर्ण इवाश्रमोऽभूत्संपद्यते शून्य इव प्रयाते ।
तस्मादिमं नार्हसि तात हातुं जिजीविषोदैहमिवेष्टमायुः ॥३८॥

“आपके आनेपर आश्रम मानो पूर्ण हो गया था, जानेपर मानो शून्य हो रहा है । इसलिए, हे तात, आपको इसे न छोड़ना चाहिए, जैसे जीनेकी इच्छा करनेवालेकी देहको अभिलपित आयु (न छोड़े) ॥३८॥

ब्रह्मर्षिराजर्षिसुरर्षिजुष्टः पुण्यः समीपे हिमवान् हि शैलः ।
तपांसि तान्येव तपोधनानां यत्संनिकर्षाद्वहुलीभवन्ति ॥३९॥

ब्रह्मर्षियों, राजर्षियों और देवर्षियोंसे सेवित पवित्र हिमवान् पर्वत समीपमें है, जिसकी निकटतासे तपस्त्रियोंकी ये ही तपस्याएँ (प्रभावमें) बढ़ जाती हैं ॥३९॥

तीर्थानि पुण्यान्यभितस्तथैव सोपानभूतानि नभस्तलस्य ।
जुष्टानि धर्मात्मभिरात्मवद्धिदेवर्षिभिश्चैव महर्षिभिश्च ॥४०॥

उसी प्रकार स्वर्गके सोपान-स्वरूप ये पवित्र तीर्थ चारों ओर हैं, जो धर्मात्मा तथा आत्मवान् देवर्षियों और महर्षियोंसे सेवित हैं ॥ ४० ॥

इतश्च भूयः क्षममुत्तरैव दिक्सेवितुं धर्मविशेषहेतोः ।
न तु क्षमं दक्षिणातो बुधेन पदे भवेदेकमपि प्रयातुम् ॥४१॥

और, यहाँसे फिर विशेष धर्मके हेतु उत्तर दिशाका ही सेवन करना उचित है, बुद्धिमानके लिए दक्षिणकी ओर एक पग भी जाना उचित नहीं होगा ॥४१॥

तपोवनेऽस्मिन्नथ निष्क्रियो वा संकीर्णधर्मपतितोऽशुचिर्वा ।
दृष्टस्त्वया येन न ते विवल्सा तद्गूहि यावद्रूचितोऽस्तु वासः ॥४२॥

यदि आपने इस तपोवनमें (किसीको) निष्क्रिय, या संकीर्ण धर्ममें गिरा हुआ अपवित्र देखा है, जिससे आपकी यहाँ रहनेकी इच्छा नहीं, तो वैसा कहिये, और तबतक आप यहाँ रहें ॥ ४२ ॥

इमे हि वाज्ञान्ति तपःसहायं तपोनिधानप्रतिमं भवन्तम् ।

वासस्त्वया हीन्द्रसमेन सार्थं बृहस्पतेरभ्युदयावहः स्यात् ॥४३॥

क्योंकि ये (तपस्वी) आप तप-निधान सदृशको तपका साथी (बनाना) चाहते हैं, क्योंकि इन्द्र-तुल्य आपके साथ निवास करना बृहस्पतिके लिए भी उदयप्रद होगा ।” ॥ ४३ ॥

इत्येवमुक्तः स तपस्विमध्ये तपस्विमुख्येन मनीषिमुख्यः ।

भवप्रणाशाय कृतप्रतिज्ञः स्वं भावमन्तर्गतमाच्चक्षे ॥४४॥

तपस्वियोंके बीच उस प्रधान तपस्वीद्वारा इस प्रकार कहे जानेपर उस श्रेष्ठ मनीषीने, जिसने जन्म-विनाशके लिए प्रतिज्ञा की थी, अपना आन्तरिक भाव बतायाः— ॥ ४४ ॥

ऋज्वात्मनां धर्मभृतां मुनीनामिष्टातिथित्वात्स्वजनोपमानाम् ।

एवंविघ्नैर्मां प्रति भावजातैः प्रीतिः परा मे जनितश्च मानः ॥४५॥

“सरल तथा धर्मपालक मुनि अपनी आतिथ्य प्रियताके कारण स्वजनोंके समान हैं, मेरे प्रति उनके ऐसे भावोंसे मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई और मैं सम्मानित हुआ ॥ ४५ ॥

स्निग्धाभिराभिर्हृदयंगमाभिः समासतः स्नात इवास्मि वाग्भिः ।

रतिश्च मे धर्मनवग्रहस्य विस्पन्दिता संप्रति भूय एव ॥४६॥

संक्षेपमें, स्नेह-भरे हृदय-स्पर्शी इन वचनोंसे मैंने मानों स्नान किया; और हालमें ही धर्मको ग्रहण करनेपर भी (धर्मकी प्रति) मेरा आनंद इस समय फिर बढ़ रहा है ॥ ४६ ॥

एवं प्रवृत्तान् भवतः शरण्यानतीव संदर्शितपक्षपातान् ।

यास्यामि हित्वेति ममापि दुःखं यथैव बन्धुं स्त्यजतस्तथैव ॥४७॥

इस प्रकार (तपस्यामें) लगे हुए आप लोगोंको, जो आश्रय देनेवाले हैं और जिन्होंने मेरे प्रति अत्यन्त पक्षपात (ममत्व) दिखाया है, छोड़कर जाऊँगा—इससे मुझे भी वैसा ही दुःख है जैसा कि बन्धुओंको छोड़ते समय मुझे (हुआ था) ॥४७॥

स्वर्गाय युज्माकमयं तु धर्मो ममाभिलाषस्त्वपुनर्भवाय ।
अस्मिन्वने येन न मे चिवत्सा भिन्नः प्रवृत्त्या हि निवृत्तिर्धर्मः ॥४८॥

आप लोगोंका यह धर्म स्वर्गके लिए है, मेरी अभिलाषा पुनर्जन्मके अभावके लिए (= पुनर्जन्म न हो, इसके लिए) है, इसी कारण इस बनमें मेरी रहनेकी इच्छा नहीं; क्योंकि निवृत्ति-धर्म प्रवृत्तिसे भिन्न है ॥४८॥

तत्त्वारतिर्मं न परापचारो वनादितो येन परिव्रजामि ।

धर्मे स्थिताः पूर्वयुगानुरूपे सर्वे भवन्तो हि महर्षिकल्पाः ॥४९॥

यह न मेरी अस्त्रि है न दूसरोंकी आचार-हीनता, जिससे मैं इस बनसे जा रहा हूँ; क्योंकि महर्षि-तुल्य आप सब पूर्व युगके अनुरूप धर्ममें स्थित हैं ।” ॥४९॥

ततो चत्वः सूनृतमर्थवच्च सुशलक्षणमोजस्त्व च गर्वितं च ।

थ्रुत्वा कुमारस्य तपस्विनस्ते विशेषयुक्तं वहुमानमीयुः ॥५०॥

तब कुमारका प्रिय, अर्थ-पूर्ण, स्त्रिध, ओजस्वी तथा गौरव-पूर्ण बनन सुनकर वे तपस्वी अत्यन्त सम्मानित हुए ॥५०॥

कश्चिद्दिविजरतत्र तु भस्मशाश्वी प्रांशुः शिखी दारवचीरवासाः ।

अपिङ्गलाक्षस्त्वनुदीर्घवोणः कुण्डैकहस्तो गिरमित्युवाच ॥५१॥

वहाँ राखमें सोनेवाले, लम्बा शरीरवाले, शिखावाले, बल्कल बल्लवाले, पीली आँखोंवाले, पतली व लम्बी नाकवाले, किसी द्विजने, जिसके हाथमें पात्र था, यह बनन कहाः— ॥५१॥

धीमनुदारः खलु निश्चयस्ते यस्त्वं युवा जन्मनि दृष्टदोषः ।

स्वर्गापवर्गै हि विचार्य सम्यग्यस्यापवर्गे मतिरस्ति सोऽस्ति ॥५२॥

“हे मेधाविन्, आपका निश्चय उदार (उत्तम) है, आपने युवा होकर जन्ममें दोष देखा; क्योंकि स्वर्ग व अपवर्गका सम्यक् विचार कर अपवर्ग में जिसकी बुद्धि है, (वास्तवमें) वही है ॥५२॥

यद्यैस्तपोभिर्नियमैश्च तैस्तैः स्वर्गं यियासन्ति हि रागवन्तः ।

रागेण सार्थं रिपुणेव युद्धवा मोक्षं परीप्सन्ति तु सत्त्ववन्तः ॥५३॥

रागी (पुरुष) उन उन यज्ञों, तपों और नियमोंसे स्वर्ग जानेकी इच्छा करते हैं; किंतु सत्त्ववान् (पुरुष) रागके साथ, शत्रुके समान, युद्ध कर मोक्ष पानेकी इच्छा करते हैं ॥५३॥

तद्बुद्धिरेषा यदि निश्चिता ते तूर्णं भवान् गच्छतु विन्ध्यकोष्ठम् ।

असौ मुनिस्तत्र वसत्यराङ्गो यो नैषिके श्रेयसि लब्धचक्षुः ॥५४॥

इसलिए यदि आपकी यह निश्चित बुद्धि है, तो शीघ्र ही आप विन्ध्यकोष्ठ जाइये । वहाँ वह मुनि अराड रहता है जिसने नैषिक कल्याणमें हृषि पार्द है ॥ ५४ ॥

तस्माद्गवाञ्छोप्यति तत्त्वमार्गं सत्यां रुचौ संप्रतिपत्स्यते च ।

यथा तु पश्यामि मतिस्तथैषा तस्यापि यास्यत्यवधूय बुद्धिम् ॥५५॥

उससे आप तत्त्व-मार्ग सुनेंगे और रुचि होनेपर स्वीकार करेंगे; किंतु जैसा मैं देखता हूँ, आपकी यह बुद्धि ऐसी है कि उसकी भी बुद्धिका तिरस्कार कर आप चले जायेंगे ॥ ५५ ॥

स्पष्टोच्चधोर्णं विपुलायताक्षं ताम्राधरौष्टं सिततीक्ष्णदंष्ट्रम् ।

इदं हि वक्तुं तनुरक्तजिह्वं श्वेरार्णवं पास्यति कृत्स्नमेव ॥५६॥

स्पष्ट व ऊँची नाकवाला, बड़ी व लम्बी आँखोवाला, लाल ओठवाला, सफेद व तेज दाँतोवाला, पतली व लाल जीभवाला (आपका) यह मुख सम्पूर्ण ही ज्ञान-सागरका पान करेगा ॥ ५६ ॥

गम्भीरता या भवतस्त्वगाधा या दीपता यानि च लक्षणानि ।

आचार्यकं प्राप्यस्यसि तत्पृथिव्यां यन्नर्षिभिः पूर्वयुगेऽप्यवासम् ॥५७॥

आपकी जो अगाध गम्भीरता है, जो दीपि है, और जो लक्षण हैं (इनसे प्रकट है कि) आप पृथिवीपर वह आचार्य-पद प्राप्त करेंगे, जो ऋषियोंने पूर्व युगमें भी नहीं पाया” ॥५७॥

परममिति ततो नृपात्मजस्तमृषिजनं प्रतिनन्द्य निर्ययौ ।

विधिवदनुविधाय तेऽपि तं प्रविविशुराश्रमिणस्तपोवनम् ॥५८॥

इति बुद्धचरिते महाकाव्ये तपोवनप्रवेशो नाम सप्तमः सर्ग

तब “अच्छा” कह और उन ऋषियोंको प्रणाम कर, राजका पुत्र चला गया । उन आश्रम-वासियोंने भी उसका विधिवत् सम्मान कर तपोवनमें प्रवेश किया ॥५८॥

बुद्धचरित महाकाव्यका “तपोवन-प्रवेश” नामक-

सप्तम सर्ग समाप्त ।

अष्टम सर्ग

अन्तःपुर-विलाप

ततस्तुरङ्गावचरः स दुर्मनास्तथा वनं भर्तरि निर्ममे गते ।
चकार यत्नं पथि शोकनिग्रहे तथापि चैवाश्रु न तस्य चिक्षिये ॥१॥

तब निर्मम स्वामीके उस प्रकार वन चले जानेपर उस उदास अश्व-रक्षकने
रास्तेमें अपने शोक-निग्रहका यज्ञ किया; तो भी उसका ओंसू क्षीण नहीं
हुआ ॥२॥

यमेकरात्रेण तु भर्तुराश्रया जगाम मार्गं सह तेन वाजिना ।

इयाय भर्तुर्विरहं विचिन्तयंस्तमेव पन्थानमहोभिरष्टभिः ॥३॥

स्वामीकी आज्ञासे उस घोड़ेके साथ जिस मार्गसे वह एक दिनमें गया,
स्वामि-वियोगकी चिन्ता करता हुआ उसी रास्तेसे वह आठ दिनोंमें आया ॥२॥

हयश्च सौजा विचार कन्थकस्तताम भावेन बभूव निर्मदः ।

अलंकृतश्चापि तथैव भूषणैरभूदगतश्रीरिव तेन वर्जितः ॥३॥

ओजस्वी घोड़ा कन्थक चला, (दुःखके) भावसे थक गया, मद-रहित
हो गया । भूषणोंसे उसी प्रकार अलंकृत होनेपर भी अपने स्वामीके विना वह
मानो श्री-हीन था ॥३॥

निवृत्य चैवाभिमुखस्तपोवनं भृशं जिहेषे करुणं मुहुर्मुहुः ।

क्षुधान्वितोऽप्यध्वनि शप्पमम्बु वा यथा पुरा नाभिनन्द नाददे ॥४॥

और, तपोवनकी ओर मुड़कर वह दुःखके साथ बार-बार खूब हिनहिनाया ।
रास्तेमें भूख लगनेपर भी वह तृण था जलसे पहलेकी तरह न आनन्दित हुआ,
न उसे ग्रहण किया ॥४॥

ततो विहीनं कपिलाह्यं पुरं महात्मना तेन जगद्वितात्मना ।

क्रमेण तौ शून्यमिवोपग्नमतुर्दिवाकरेणेव विनाकृतं नभः ॥५॥

तब वे दोनों, जगत्के हितमें ही जिसकी आत्मा थी, उस महात्मासे रहित

कपिल नामक नगरके समीप कमसे गये, जो (नगर) सूर्य-रहित आकाशके समान सूना-सा था ॥ ५ ॥

सुषुण्डरीकैरपि शोभितं जलैरलंकृतं पुष्पधरैर्नगैरपि ।
तदेव तस्योपवनं वनोपमं गतप्रहर्षेन रराज नागरैः ॥ ६ ॥

कमल-युक्त जलाशयोंसे शोभित होनेपर भी, पुष्पयुक्त वृक्षोंसे अलंकृत इहनेपर भी उसका वही उपवन जंगलके समान जान पड़ा; आनन्द रहित नगर-निवासियोंसे वह दीत नहीं हुआ ॥ ६ ॥

ततो भ्रमद्धिर्दिशि दीनमानसैरनुज्जवलैर्वाप्पहतेक्षणैर्नरैः ।
निवार्यमाणाविव तातुभौ पुरं शनैरपस्नातमिवाभिजग्मतुः ॥ ७ ॥

तब चारों ओर धूमते हुए उदास लोगोंसे, जिनके चित्त दुःखी थे और आँखें आँसूसे आकुल थीं, मानो मना किये जानेपर भी वे दोनों धीरे-धीरे उस नगरमें गये जो मृत-स्नात (= किसीके मरनेपर स्नान किये हुए पुरुष) के समान था ॥ ७ ॥

निशाम्य च स्वस्तशरीरगाभिनौ विनागतौ शाक्यकुलर्घभेण तौ ।

मुमोच वाप्पं पथि नागरो जनः पुरा रथे दाशरथेरित्वागते ॥ ८ ॥

शिथिल शरीरोंसे जानेवाले वे दोनों शाक्य-कुल-ऋषभके विना ही आये, यह देखकर नगरकी जनताने मार्गमें आँसू बहाये, जैसे प्राचीन कालमें रामका रथ (वनसे खाली लैट) आनेपर (आँसू बहाये थे) ॥ ८ ॥

अथ ब्रुवन्तः समुपेतमन्यवो जनाः पथि छन्दकमागताश्रवः ।

क राजपुत्रः पुरराष्ट्रनन्दनो हृतस्त्वयासाविति पृष्ठतोऽन्वयुः ॥ ९ ॥

तब शोकित लोग, जिन्हें आँसू आ गये थे, रास्तेमें छन्दकसे कहने लगे—“नगर व राष्ट्रको आनन्दित करनेवाला राज-पुत्र कहाँ है ? तुमने उसका हरण किया है !” इस तरह कहते हुए वे उसके पीछे-पीछे चले ॥ ९ ॥

ततः स तान् भक्तिमतोऽव्रवीजनान्नरेन्द्रपुत्रं न परित्यजामयहम् ।

रुदञ्जहं तेन तु निर्जने वने गृहस्थवेशश्च विसर्जिताविति ॥ १० ॥

तब उसने उन भक्त लोगोंसे कहा—“मैंने राजाके पुत्रको नहीं छोड़ा, किन्तु निर्जन-वनमें उसने ही मुझ रोते हुएको और अपने गृहस्थ वेशको विसर्जित किया” ॥ १० ॥

इदं वचस्तस्य निशम्य ते जनाः सुदुष्करं खलिवति निश्चयं ययुः ।
पतिद्वं जह्नः सलिलं न नेत्रजं मनो निनिन्दुश्च फलोत्थमात्मनः ॥११॥

उसका यह वचन सुनकर, उन लोगोंने विचारा—“निश्चय ही (राज-कुमारका) यह दुष्कर काम है ।” वे अपने बाँसू न रोक सके और फलासकि (स्वार्थपरता)से उत्पन्न अपनी मानसिक स्थितिकी उन्होंने निन्दाकी ॥ ११ ॥ अथोच्चुरद्यैव विशाम तद्वनं गतः स यत्र द्विपराजविक्रमः ।
जिजीविषा नास्ति हि तेन नो विना यथेन्द्रियाणां विगमे शारीरिणाम् ॥१२॥

तब वे बोले—“आज ही हम उस वनमें जा रहे हैं, जहाँ गजराजके समान पराक्रमी वह (राजकुमार) गया है । उसके विना हमारी जीनेकी इच्छा नहीं है, जैसे इन्द्रियों (की शक्ति)के नष्ट होनेपर देह-धारियोंकी (जीनेकी इच्छा नहीं होती) ॥ १२ ॥

इदं पुरं तेन विवर्जितं वनं वनं च तत्तेन समन्वितं पुरम् ।
न शोभते तेन हि नो विना पुरं मरुत्वता वृत्रवधे यथा दिवम् ॥१३॥

उससे रहित यह नगर वन है और उससे युक्त वह वन नगर; क्योंकि उसके विना हमारा नगर उसी प्रकार शोभा-हीन है, जिस प्रकार वृत्र-वधके समय इन्द्रके त्रिना स्वर्ग ॥ १३ ॥

पुनः कुमारो विनिवृत्त इत्यथो गवाक्षमालाः प्रतिपेदिरेऽङ्गनाः ।
विविक्तपृष्ठं च निशम्य वाजिनं पुनर्गवाक्षाणि पिधाय चुक्त्युः ॥१४॥

“कुमार फिर लौट आये हैं” यह सोचकर स्त्रियाँ खिड़कियोंके सामने आ गईं; और घोड़ेकी पीठ खाली देखकर फिर खिड़कियोंको बन्द कर वे रोने लगीं ॥१४॥

प्रविष्टीक्षस्तु सुतोपलब्धये व्रतेन शोकेन च खिन्नमानसः ।
जजाप देवायतने नराधिपञ्चकार तास्ताच्च यथाशयाः क्रियाः ॥१५॥

पुत्रकी प्राप्तिके लिए दीक्षा ग्रहण कर, व्रत व शोकसे खिन्नचित्त राजाने देव-मन्दिरमें जप किया और अपने आशयके अनुरूप भाँति-भाँतिकी क्रियाएँ कीं ॥१५॥

ततः स बाष्पप्रतिपूर्णलोचनस्तुरङ्गमादाय तुरङ्गमानुगः ।
विवेश शोकाभिहतो नृपक्षयं युधापिनीते रिपुणेव भर्तरि ॥१६॥

तब आँसू-भरी आँखोंसे उस अश्वरक्षकने घोड़ेको लिवाते हुए कातर होकर राज-महलमें प्रवेश किया, जैसे योद्धा शत्रुके द्वारा उसके स्वामीका अपहरण कर लिया गया हो ॥१६॥

**विगाहमानश्च नरेन्द्रमन्दिरं विलोक्यनश्चुवहेन चक्षुषा ।
स्वरेण पुष्टेन रुराव कन्थको जनाय दुःखं प्रतिवेदयन्निव ॥१७॥**

राज-महलमें प्रवेश करता हुआ, आँसू-भरी आँखोंसे देखता हुआ कन्थक जोरसे हिनहिनाया, मानो लोगोंसे वह (अपना) दुःख निवेदन कर रहा हो ॥१७॥

**ततः स्वगाश्च क्षयमध्यगोचराः समीपवद्वास्तुरगाश्च सत्कृताः ।
हयस्य तस्य प्रतिसस्वनुः स्वनं नरेन्द्रसूतोरुपयानशङ्किनः ॥१८॥**

तब महलके बीच रहनेवाले पक्षियोंने और समीपमें बँधे हुए सत्कृत (= प्रिय) घोड़ोंने उस घोड़ेके हिनहिनानेके प्रति शब्द किया, यह जानकर कि शायद राजकुमार आ रहा है ॥१८॥

**जनाश्च हर्षातिशयेन चञ्चिता जनाधिपान्तःपुरसंनिकर्षगाः ।
यथा हयः कन्थक एष हेषते ध्रुवं कुमारो विशतीति मेनिरे ॥१९॥**

“यह कन्थक घोड़ा जिस प्रकार हिनहिना रहा है, इससे यह प्रकट है कि कुमार निश्चय ही प्रवेश कर रहा है” — ऐसा मानकर राजाके अन्तःपुरके समीप जानेवाले लोग अतिशय हर्षसे उछलने लगे ॥१९॥

**अतिप्रहर्षादथ शोकमूर्छिताः कुमारसंदर्शनलोललोचनाः ।
गृहाद्विनिश्चक्षुराशया स्त्रियः शरत्पयोदादिव विद्युतश्वलाः ॥२०॥**

स्त्रियाँ, जो शोकसे मूर्छित थीं, अति आनन्दित हुईं । कुमारको देखनेकी लालसासे उनकी आँखें चञ्चल हो उठीं, आशाके साथ वे घरसे निकल आईं, जैसे शरत्कालके बादलसे चपल बिजली (निकल आवे) ॥२०॥

**विलम्बकेश्यो मलिनांशुकाम्बरा निरञ्जनैर्बाप्पहतेक्षणौर्मुखैः ।
स्त्रियो न रेजुमूर्जया विनाकृता दिवीव तारा रजनीक्षयारुणाः ॥२१॥**

उनके केशपाश लटक रहे थे, बारीक कपड़े मलिन थे, मुखोंमें अंजन नहीं था, आँखें आँसुओंसे आकुल थीं; सिंगार किये विना स्त्रियाँ शोभित नहीं हुईं, जैसे रात बीतनेपर आकाशमें फीके तारे ॥२१॥

अरक्तताम्रैश्वरणैरन् पुरैरकुण्डलैरार्जवकन्धरैमुखैः ।

स्वभावपीतैर्जग्नैरमेखलैरहारयोक्त्रैमुषितैरिव स्तनैः ॥२२॥

उनके पाँव महावरसे रँगे नहीं थे, उनमें नूपुर भी नहीं थे, मुख (कानोंके) कुण्डलोंसे रहित थे, गले अनलंकृत थे, स्वभावसे मोटी जाँघें मेखला रहित थीं, हार व योक्तू (= सूत्र ?) से रहित स्तन लुटे-से थे ॥२२॥

निरीक्ष्य ता बाषपपरीतलोचना निराश्रयं छन्दकमश्वमेव च ।

विषण्णवक्ता रुदुर्वराङ्गना वनान्तरे गाव इवर्षभोज्ज्ञिताः ॥२३॥

अशु-पूर्ण आँखोंसे छन्दक और घोड़ेको स्वामीके विना देखकर वे उत्तम स्त्रियाँ विषण्णवदन होकर रोईं, जैसे बनके भीतर साँड़से परित्यक्त गाएँ ॥२३॥
ततः सवाष्पा महिषी महीपतेः प्रनष्टवत्सा महिषीव वत्सला ।
प्रगृह्य बाहू निपपात गौतमी विलोलपर्णा कदलीव काञ्चनी ॥२४॥

तब रोती हुई राजा की पटरानी गौतमी, जो उस महिषीके समान (अपने पुत्रके लिए) वत्सल थी जिसका बछड़ा नष्ट हो गया हो, भुजाएँ फेंककर, हिलते पत्तोंवाली सोनेकी कदलीके समान गिर पड़ी ॥२४॥

हतत्विषोऽन्याः शिथिलांसवाहवः स्त्रियो विषादेन विचेतना इव ।

न चुक्षशुर्नाश्रु जहुर्न शश्वसुर्न चेलुरासुर्लिखिता इव स्थिताः ॥२५॥

अन्य निष्प्रभ स्त्रियोंने, जिनके कन्धे व मुजाएँ शिथिल थीं, विषादसे मानो बेहोश होकर न विलाप किया, न आँसू बहाये, न साँसें लीं, और न हिली-हुली ही; केवल चित्रित-सी खड़ी रहीं ॥२५॥

अधीरमन्याः पतिशोकमूर्छिता विलोचनप्रस्त्रवणैमुखैः स्त्रियः ।

सिधिज्ञिरे प्रोषितचन्दनान् स्तनान्धराधरः प्रस्त्रवणैरिवोपलान् ॥२६॥

दूसरी स्त्रियोंने, जो अधीर होकर पतिके शोकसे मूर्छित थीं, नेत्र-निर्झर मुखोंसे चन्दन-शून्य स्तनोंको सींचा, जैसे पर्वत अपने झारनोंसे शिलाओंको (सींचता है) ॥२६॥

मुखैश्च तासां नयनम्बुताडितै रराज तद्राजनिवेशनं तदा ।

नवाम्बुकालेऽम्बुदवृष्टिताडितैः स्वज्जलैस्तामरसैर्यथा सरः ॥२७॥

तब उनके अशु-पूर्ण मुखोंसे वह राज-भवन वैसे ही शोभित हुआ, जैसे

कि सरोवर, जो वर्षाके आरम्भमें वृष्टि-जलसे ताढ़ित हुए जल-सावी कमलोंसे भरा हो ॥२७॥

सुवृत्तपीनाङ्गुलिभिर्निरन्तरैरभूषणैर्गूढसिरैर्वर्गाङ्गनाः ।
उरांसि जन्मुः कमलोपमैः करैः स्वपल्लवैर्वातचला लता इव ॥२८॥

उत्तम स्त्रियोंने गोल, मोटी व सटी अँगुलियोंवाले कमलोपम करोंसे, जो भूषण-रहित थे और जिनकी सिराएँ (= धमनियाँ) छिपी हुई थीं, छाती पीटी, जैसे हवासे हिलती लताएँ अपने पल्लवोंसे (अपनेको ही पीटती हैं) ॥२८॥
करप्रहारप्रचलैश्च ता बभुस्तथापि नार्यः सहितोन्नतैः स्तनैः ।
बनानिलाघूर्णितपद्मकम्पितै रथाङ्गनाम्नां मिथुनैरिवापगाः ॥२९॥

हाथोंकी चोटोंसे हिलते हुए कठोर व उन्नत स्तनोंवाली वे स्त्रियाँ उन नदियोंके समान शोभित हुईं जिनके चक्रवाक-युगल जंगलकी हवासे हिलाये गये कमलोंसे काँप रहे हों ॥२९॥

यथा च वक्षांसि करैरपीडयं स्तथैव वक्षोभिरपीडयन् करान् ।

अकारयस्तत्र परस्परं व्यथाः कराग्रवक्षांस्यवला दयालसाः ॥३०॥

और, जैसे हाथोंसे छातियोंको पीड़ित किया, वैसे ही छातियोंसे भी हाथोंको पीड़ित किया । निर्दय होकर अबलाओंने हाथों व छातियों द्वारा एक दूसरेको व्यथित कराया ॥३०॥

ततस्तु रोषप्रविरक्तलोचना विषादसंबन्धिकधायगद्गदम् ।

उचाच निश्वासचलत्पयोधरा विगादशोकाश्रुधरा यशोधरा ॥३१॥

तब रोषसे लाल आँखोंवाली, साँसोंसे हिलते स्तनोंवाली गाढ़ शोकसे आँसू बहानेवाली यशोधराने विषाद-सम्बन्धी कसैलेपन (= कटुतासे) गद्गद होकर कहा:—॥३१॥

निशि प्रसुतामवशां विहाय मां गतः क स छन्दक मन्मनोरथः ।

उपागते च त्वयि कन्थके च मे समं गतेषु त्रिषु कम्पते मनः ॥३२॥

“रातको सोई हुई मुझ विवशको छोड़कर, हे छन्दक, मेरा वह मनोरथ (= प्रियतम) कहाँ गया ? तीनों साथ गये थे, और कन्थक व तुम आ गये, मेरा मन काँप रहा है ॥३२॥

अनार्यमस्तिगधममित्रकर्म मे नृशंस कृत्वा किमिहाद्य रोदिषि ।
नियच्छ वाष्पं भव तुष्टमानसो न संवदत्यश्रु च तत्त्व कर्म ते ॥३३॥

मेरे लिए अनार्य, अस्तिगध और शत्रुतापूर्ण काम करके, हे क्रूर, क्यों आज यहाँ रो रहे हो ? आँसू रोको, सन्तुष्टचित्त होओ, आँसू और तुम्हारा वह काम (परस्पर) मेल नहीं खाते ॥३३॥

प्रियेण वश्येन हितेन साधुना त्वया सहायेन यथार्थकारिणा ।
गतोऽर्थपुत्रो ह्यपुनर्निवृत्तये रमस्व दिष्ट्या सफलः श्रमस्तव ॥३४॥

प्रिय, वशवर्ती, हित, साधु और यथार्थकारी तुक्ष साथीके साथ आर्यपुत्र गये, फिर लौटनेके लिए नहीं । आनन्द करो, सौभाग्यसे तुम्हारा श्रम सफल (हुआ) ॥ ३४ ॥

वरं मनुष्यस्य विचक्षणो रिपुर्न मित्रमप्राज्ञमयोगपेशलभ् ।
सुहृदव्रुत्वेण ह्यविपश्चिता त्वया कृतः कुलस्यास्य महानुपर्णवः ॥३५॥

मनुष्यका चतुर शत्रु अच्छा है, न कि मूर्ख मित्र जो वियोग (कराने)में निपुण होता है । मित्र कहे जानेवाले तुक्ष मूर्खने इस कुलका बड़ा ही अनर्थ किया ॥ ३५ ॥

इमा हि शोच्या व्यवमुक्तभूषणाः प्रसक्तवाप्पाविलरक्तलोचनाः ।
स्थितेऽपि पत्यौ हिमवन्महीसमे प्रनष्टशोभा विधवा इव द्वियः ॥३६॥

हिमालय और पृथिवीके समान (धैर्यशाली) स्वामीके रहनेपर भी, विधवाओंके सदृश शोभा-हीन हुई ये द्वियाँ दयनीय हैं, जिन्होंने गहने फेंक दिये हैं और जिनकी आँखें निरन्तर बहते अश्रु-जलसे मलिन और लाल हैं ॥ ३६ ॥

इमाद्य विक्षिप्तविटङ्गवाहवः प्रसक्तपारावतदीर्घनिस्वनाः ।
विनाकृतास्तेन सहावरोधनैर्भृशः रुदन्तीव विमानपङ्क्त्यः ॥३७॥

और कपोत-पालिका रुपी मुजाँ फैलाये हुए ये प्रसाद-पङ्क्तियाँ, जो आसक्त कपोतोंसे लम्बी साँसेले रही हैं, रनिवासोंके साथ उनके वियोगमें मानो खूब रो रही हैं ॥ ३७ ॥

अनर्थकामोऽस्य जनस्य सर्वथा तुरङ्गमोऽपि ध्रुवमेष कन्थकः ।
जहार सर्वस्वमितस्तथा हि मे जने प्रसुते निशि रत्नचौरवत् ॥३८॥

३५ “अयोग-पेशल”का दूसरा अर्थ होगा—“अनुचित करनेमें निपुण” ।

निश्चय ही यह कन्थक घोड़ा भी इस व्यक्तिके अनर्थका सर्वथा इच्छुक था; क्योंकि लोगोंके सौये रहनेपर रातमें रक्ष-चोरके समान इसने मेरे सर्वस्वका यहाँसे उस प्रकार हरण किया ॥ २८ ॥

यदा समर्थः खलु सोदुमागतानिषुप्रहारानपि किं पुनः कशाः ।

गतः कशापातभयात्कथं न्वयं श्रियं गृहीत्वा हृदयं च मे समम् ॥ २९ ॥

जब तीरोंके आये हुए प्रहार सहनेमें वह समर्थ है, कोडँका क्या कहना, तब कोडँके भयसे यह मेरे हृदय और सौभाग्यको साथ लेकर कैसे गया ? ॥ २९ ॥ अनार्थकर्मा भृशमद्य हेषते नरेन्द्रधिष्ठयं प्रतिपूरयन्निव ।

यदा तु निर्वाहयति स्म मे प्रियं तदा हि मूकस्तुरगाधमोऽभवन् ॥ ४० ॥

(यह) अनार्थकर्मा आज खूब हिनहिना रहा है, मानो राज-भवनको भर रहा हो । किंतु जब मेरे प्रियतमको ले जा रहा था, तब यह अधम अश्व गूँगा हो गया था ॥ ४० ॥

यदि ह्येषिष्यत बोधयन् जनं खुरैः क्षितौ वाप्यकरिष्यत ध्वनिम् ।

हनुस्वनं वाजनिष्यदुत्तमं न चाभविष्यन्मम दुःखमीदृशम् ॥ ४१ ॥

यदि हिनहिनाकर लोगोंको जगाता, या खुरोंसे पृथिवीपर शब्द करता, या जबडँोंसे जोरोंका शब्द करता, तो मुझे ऐसा दुःख न होता ।” ॥ ४१ ॥

इतीह देव्याः परिदेविताश्रयं निशम्य वाप्यग्रथिताक्षरं वचः ।

अधोमुखः साध्रुक्लः कृताञ्जलिः शनैरिदं छन्दक उत्तरं जगौ ॥ ४२ ॥

देवीका यह शोक-मूलक वचन, जिसके अक्षर आँसुओंसे ग्रथित थे, सुनकर अधोमुख छन्दकने, रोते हुए, हाथ जोड़कर, धीरे-धीरे २ ह उत्तर दियाः—॥ ४२ ॥

विगर्हितुं नार्हसि दर्दि कन्थकं न चापि रोषं मयि कर्तुर्मर्हसि ।

अनागसौ रवः समवेहि सर्वशो गतो नृदेवः स हि देवि देववत् ॥ ४३ ॥

“हे देवि, आपको न कन्थककी निन्दा करनी चाहिए और न मुझपर ही रोष करना चाहिए । हम दोनोंको सर्वथा निर्दोष समझिये, हे देवि, वह नरदेव देवताके समान गये ॥ ४३ ॥

अहं हि जानन्नपि राजशासनं बलात्कृतः कैरपि दैवतैरिव ।

उपानयं तूर्णमिमं तुरङ्गमं तथान्वगच्छं विगतश्रमोऽध्वनि ॥ ४४ ॥

यद्यपि मैं राजाकी आज्ञाको जानता था, तो भी मानो किन्हीं देवताओंने

मुझसे बलात् कराया । जलदीसे मैं इस घोड़ेको समीप ले आया । मार्गमें विना थके ही उस प्रकार उसके पीछे-पीछे गया ॥४४॥

वजन्नयं वाजिवरोऽपि नास्पृशन्महीं खुरात्रैर्विधृतैरिचान्तरा ।
तथैव दैवादिव संयताननो हनुस्वर्णं नाकृतं नाप्यहेषत ॥४५॥

जाते हुए इस अश्व-श्रेष्ठने भी खुरोंके अग्रभागसे, जो मानो बीचमें ही (किसीके द्वारा) पकड़े हुए थे, धरतीका स्पर्श नहीं किया । उसी प्रकार मानो दैव-वश संयत-मुख होकर न जबड़ोंसे शब्द किया और न हिनहिनाया ॥४५॥

यतो वहिर्गच्छति पार्थिवात्मजे तदाभवद्द्वारमपावृतं स्वयम् ।
तमश्च नैशां रविणेव पाटितं ततोऽपि दैवो विधिरेष गृह्णताम् ॥४६॥

क्योंकि जब राजाका पुत्र बाहर जा रहा था, तब द्वार आप ही आप खुल गया और रात्रिका अन्धकार दूर हो गया, जैसे सूर्य द्वारा विदीर्ण हुआ हो, इससे भी इसे दैव-विधान ही समझना चाहिए ॥४६॥

यदप्रमत्तोऽपि नरेन्द्रशासनादगृहे पुरे चैव सहस्रशो जनः ।
तदा स नाबुध्यत निद्रया हृतस्ततोऽपि दैवो विधिरेष गृह्णताम् ॥४७॥

क्योंकि राजाकी आज्ञासे सावधान रहनेपर भी महल और नगरमें हजार-हजार लोग नहीं जागे, नींदसे अभिभूत थे, इससे भी इसे दैव-विधान ही समझना चाहिए ॥४७॥

यतश्च वासो वनवाससंमर्तं निसृष्टमस्मै समये दिवौकसा ।
दिवि प्रविद्धं मुकुटं च तद्वृतं ततोऽपि दैवो विधिरेष गृह्णताम् ॥४८॥

और, क्योंकि वन-वास-योग्य बल्ल देवताने उन्हें समयपर दिया और आकाशमें फेंका गया वह मुकुट पकड़ा गया, इससे भी इसे दैव-विधान ही समझना चाहिए ॥४८॥

तदेवमावां नरदेवि दोषतो न तत्प्रयातं प्रति गन्तुमर्हसि ।
न कामकारो मम नास्य वाजिनः कृतानुयात्रः स हि दैवतैर्गतः ॥४९॥

इसलिए, हे नर-देवि, इनके जानेके बारेमें आपको हमें दोषी नहीं समझना चाहिए । न मेरी इच्छासे (कुछ) हुआ और न इस घोड़ेकी इच्छासे ही । देवोंसे अनुसृत होकर वह गये” ॥४९॥

इति प्रयाणं बहुदेवमङ्गुतं निशम्य तास्तस्य महात्मनः स्त्रियः ।
प्रनष्टशोका इव विस्मयं यथुर्मनोज्वरं प्रवजनात्तु लेभिरे ॥५०॥

इस तरह उस महात्माका अनेक देवोंसे युक्त अङ्गुत प्रयाण सुनकर वे स्त्रियाँ विस्मित हुईं, जैसे उनका शोक नष्ट हो गया हो; किन्तु उसके प्रवज्या ग्रहण करनेसे उन्हें मानसिक ताप हुआ ॥५०॥

विषादपारिष्ठवलोचना ततः प्रनष्टपोता कुररीव दुःखिता ।
विहाय धैर्यं विस्तराव गौतमी तताम चैवाथ्रुमुखी जगाद् च ॥५१॥

तब विषादसे चंचल आँखोंवाली गौतमी, उस कुररीके समान जिसके बच्चे खो गये हों, दुःखी और अधीर होकर रोई। वह मूर्छित हुई और रोती हुई बोली:—॥५१॥

महोर्मिमन्तो मृदवोऽसिताः शुभाः पृथक् पृथक् मूलरुहाः समुद्रताः ।
प्रवेरितास्ते भुवि तस्य मूर्धजा नरेन्द्रमौलीपरिवेष्टनक्षमाः ॥५२॥

“क्या उसके वे अत्यन्त तरंगित कोमल काले और मङ्गलमय केश, जो पृथक्-पृथक् मूलसे उत्पन्न होकर ऊपर उठे थे और जो राजमुकुटके परिवेष्टनके योग्य थे, पृथिवीपर गिराये गये ? ॥५२॥

प्रलम्बवाहुमूर्गराजविक्रमो महर्षभाक्षः कनकोज्ज्वलद्युतिः ।
विशालवक्षा घनदुन्दुभिस्वनस्तथाविधोऽप्याश्रमवासमर्हति ॥५३॥

उसकी सुजाएँ लम्बी हैं, मृगराजकी-सी गति है, महा वृषभकी-सी आँखें हैं। सोनेकी-सी उज्ज्वल द्युति है, वक्षःथल विशाल है, मेघरूपी दुन्दुभीकी-सी ध्वनि है; क्या ऐसा (कुमार) भी आश्रम-वासके योग्य है ? ॥५३॥

अभागिनी नूनमियं वसुन्धरा तमार्यकर्मणमनुत्तमं पतिम् ।
गतस्ततोऽसौ गुणवान् हि तावशो नृपः प्रजाभाग्यगुणैः प्रसूयते ॥५४॥

निश्चय ही वह आर्यकर्मा अद्वितीय पति इस वसुन्धराके भागमें नहीं है, इसीलिए तो वह चला गया। ऐसा गुणवान् राजा प्रजाके सौभाग्यसे ही जन्म लेता है ॥ ५४ ॥

सुजातजालावतताङ्गुली मृदु निगृदगुल्फौ विसपुष्पकोमलौ ।
वनान्तभूर्मिं कठिनां कथं नु तौ सचक्रमध्यौ चरणौ गमिष्यतः ॥५५॥

वे मृदु चरण—जिनकी अंगुलियोंपर सुन्दर (रेखा-) जाल बिछा हुआ

है, जिनकी पाद-ग्रन्थियाँ छिपी हुई हैं, जो कमल-तन्तु या फूलके समान कोमल हैं, जिनके मध्य भागमें चक्र हैं—वनकी कठिन भूमिपर कैसे चलेंगे ? ॥ ५५ ॥
विमानपृष्ठे शयनासनोचितं महार्हवस्त्रागुरुचन्दनार्चितम् ।
कथं तु शीतोष्णजलागमेषु तच्छरीरमोजस्वि वने भविष्यति ॥ ५६ ॥

महलकी छतपरके शयन और आसनसे परिचित वह ओजस्वी शरीर, जो बहुमूल्य वस्त्र, अगुरु और चन्दनसे पूजित (=अलंकृत) हुआ है, जाड़ेगर्मी व वर्षामें वनमें कैसे रहेगा ? ॥ ५६ ॥

कुलेन सत्त्वेन बलेन वर्चसा श्रुतेन लक्ष्म्या वयसा च गर्वितः ।

प्रदातुमेवाभ्युचितो न याचितुं कथं स भिक्षां परतश्चरिष्यति ॥ ५७ ॥

कुल, सत्त्व, बल, रूप, विद्या, लक्ष्मी और वयस (=यौवन)से गौरवान्वितके लिए देना ही उचित है न कि माँगना; कैसे वह दूसरोंसे भिक्षा माँगेगा ? ॥ ५७ ॥
शुचौ शयित्वा शयने हिरण्मये प्रबोध्यमानो निशि तूर्यनिस्वनैः ।

कथं वत स्वप्स्यति सोऽद्य मे ब्रती पटैकदेशान्तरिते महीतले ॥ ९८ ॥

वह सोनेकी पवित्र शर्यापर सोता था और रातके अन्तमें तूर्यकी ध्यनिए जगाया जाता था; मेरा वह ब्रती कपड़ेके एक छोरसे ढकी घरतीपर आज कैसे सोयेगा ?” ॥ ५८ ॥

इमं प्रलापं करुणं निशम्य ता भुजैः परिष्वज्य पंरस्परं स्त्रियः ।

विलोचनेभ्यः सलिलानि तत्यजुर्मधूनि पुष्पेभ्य इवेरिता लताः ॥ ५९ ॥

यह करुण प्रलाप सुनकर, उन स्त्रियोंने भुजाओंसे एक दूसरेका आलिङ्गन-कर आँखोंसे आँसू बहाये, जैसे कम्पित लताएँ (अपने) फूलोंसे मधु (बहायें) ॥ ५९ ॥

ततो धरायामपत्यशोधरा विचक्रवाकेव रथाङ्गसाङ्गया ।

शनैश्च तत्तद्विललाप विकलवा मुहुर्मुहुर्गदगदरुद्धया गिरा ॥ ६० ॥

तब चक्रवाकसे वियुक्त चक्रवाकीके समान यशोधरा धरतीपर गिरी और विकल होकर बाष्पसे बार-बार रुकती वाणीमें धीरे-धीरे भाँति-भाँतिसे विलाप कियाः—॥ ६० ॥

स मामनाथां सहधर्मचारिणीमपास्य धर्मं यदि कर्तुमिच्छति ।

कुतोऽस्य धर्मः सहधर्मचारिणीं विना तपोयः परिभोक्तमिच्छति ॥ ६१ ॥

“मुझ अनाथा सहधर्मचारिणीको छोड़कर यदि वह धर्म करना चाहते हैं, तो कहाँसे इन्हें धर्म होगा जो सहधर्मचारिणीके बिना ही तपस्या करना चाहते हैं ? ॥ ६१ ॥

श्रुणोति नूनं स न पूर्वपार्थिवान्महासुदर्शप्रभृतीन् पितामहान्
वनानि पत्नीसहितानुपेयुपस्तथा हि धर्म मदते चिकीर्षति ॥ ६२ ॥

अवश्य ही उन्होंने प्राचीन राजाओं, महासुदर्श-आदि अनने पितामहों, के बारमें नहीं सुना है, जो पत्नी-सहित बन गये थे; क्योंकि वह मेरे बिना इसी प्रकार धर्म करना चाहते हैं ॥ ६२ ॥

मखेषु वा वेदविधानसंस्कृतौ न दंपती पश्यति दीक्षिताबुभौ ।

समं बुभुक्षु परतोऽपि तत्फलं ततोऽस्य जातो मयि धर्ममत्सरः ॥ ६३ ॥

या यज्ञोमें वेद-विधानके अनुसार संस्कृत तथा दीक्षित उभय दम्पतीको नहीं देख रहे हैं, जो परलोकमें भी यज्ञ-फलका साथ ही उपभोग करना चाहते हैं; अतः मेरे धर्मसे इन्हें द्वेष हो गया है ॥ ६३ ॥

ध्रुवं स जानन्मम धर्मचल्लभो मनः प्रियेष्यकलहं मुहुर्मिथः ।

सुखं चिभीर्मामपहाय रोषणां महेन्द्रलोकेऽप्सरसो जिघृक्षति ॥ ६४ ॥

निश्चय ही वह धर्म-बहुभ मेरे मनको एकान्तमें बार-बार ईर्ष्यालु और कलह-प्रिय जानकर सुख (न होनेके) डरसे मुझ कोपशीलाको छोड़कर इन्द्र-लोकमें अप्सराओंको पाना चाहते हैं ॥ ६४ ॥

इयं तु चिन्ता मम कीदृशं तु ता वपुर्गुणं विभ्रति तत्र योषितः ।

वने यदर्थं स तपांसि तप्यते श्रियं च हित्वा मम भक्तिमेव च ॥ ६५ ॥

मेरी यह चिन्ता है कि वहाँ वे खियाँ कैसा उत्तम रूप धारण करती हैं, जिसके लिए लक्ष्मी और मेरी भक्तिको छोड़कर, वह बनमें तप कर रहे हैं ॥ ६५ ॥

न खल्वियं स्वर्गसुखाय मे स्पृहा न तज्जनस्यात्मवतोपि दुर्लभम् ।

स तु प्रियो मामिह वा परत्र वा कथं न जहादिति मे मनोरथः ॥ ६६ ॥

निश्चय ही स्वर्ग-सुखके लिए मेरी यह इच्छा नहीं है, वह सुख आत्मवान् व्यक्ति (संयतात्मा के) लिए दुर्लभ नहीं; किन्तु वह प्रिय इस लोक या परलोकमें मुझे कैसे न छोड़ें, यही मेरा मनोरथ है ॥ ६६ ॥

अभागिनी यद्यहमायतेक्षणं शुचिस्मितं भर्तुस्दीक्षितुं सुखम् ।
न मन्दभाग्योऽर्हति राहुलोऽप्ययं कदाचिदङ्के परिवर्तितुं पितुः ॥६७॥

यदि लम्बी औँखोंवाले पवित्र मुसकानवाले स्वामि-सुखको देखना मेरे भागमें नहीं है, तो क्या मन्दभाग्य यह राहुल भी पिताकी गोदमें कदाचित् लोटने योग्य नहीं ? ॥६७॥

अहो नृशंसं सुकुमारवर्चसः सुदारुणं तस्य मनस्विनो मनः ।
कलप्रलापं द्विषतोऽपि हर्षणं शिशुं सुतं यस्त्यजतीदृशं वत ॥६८॥

अहो ! सुकुमार रूपवाले उस मनस्वीका मन कठोर और अतिदारुण है, जो शत्रुओंको भी हरसानेवाले तुतलाते हुए ऐसे बाल-सुतको छोड़ रहे हैं ॥६८॥

ममापि कामं हृदयं सुदारुणं शिलामयं वाण्ययसोऽपि वा कृतम् ।
अनाथवच्छ्रीरहिते सुखोचिते बनं गते भर्तरि यज्ञ दीर्घते ॥६९॥

मेरा भी हृदय अतिदारुण है, पत्थरका बना है या लोहेका भी, जो, सुखसे परिचित स्वामीके श्री-रहित होकर अनाथके समान बन जानेपर, विदीर्ण नहीं हो रहा है” ॥६९॥

इतीह देवी पतिशोकमूर्छिता रुरोद दध्यौ विलाप चासकृत् ।
स्वभावधीरापि हि सा सती शुचा धृतिं न सस्मार चकार नो हियम् ॥७०॥

इस तरह पतिके शोकसे मूर्छित होकर, देवी रोई, चिन्तित हुई, और बार-बार विलाप किया । स्वभावसे धीर होनेपर भी शोकके कारण वह धैर्य भूल गई और लाज नहीं की ॥७०॥

ततस्तथा शोकविलापविक्लवां यशोधरां प्रेक्ष्य वसुंधरागताम् ।

महारविन्दैरिव वृष्टिताडितैर्मुखैः सवाष्ठैर्वनिता विच्छुकुशः ॥७१॥

तब उस प्रकार शोक व विलापसे विहळ यशोधराको वसुंधरापर आई देखकर, वृष्टि-ताडित बड़े-बड़े कमलोंके समान साश्रु सुखोंसे वनिताओंने क्रन्दन किया ॥७१॥

समाप्तजाप्यः कृतहोममङ्गलो नृपस्तु देवायतनाद्विनिर्ययौ ।

जनस्य तेनार्तरवेण चाहतश्चचाल वज्रध्वनिनेव वारणः ॥७२॥

जप समाप्त कर, मंगलमय हवन-कर्म करके, राजा देव-मन्दिरसे बाहर

आया और लोगोंकी उस आर्त ध्वनि से आहत होकर वैसे ही काँप उठा, जैसे वज्र के शब्द से हाथी ॥७२॥

निशास्य च छन्दककन्थकाबुभौ सुतस्य संश्रुत्य च निश्चयं स्थिरम् ।
पपात शोकाभिहृतो महीपतिः शचीपतेर्वृत्तं इवोत्सवे ध्वजः ॥७३॥

छन्दक व कन्थक दोनोंको देखकर और पुत्रका दृढ़ निश्चय सुनकर, शोक से अभिभूत हो, राजा वैसे ही गिर पड़ा, जैसे उत्सव समाप्त होने पर इन्द्रकी ध्वजा ॥७३॥

ततो मुहूर्तं सुतशोकमोहितो जनेन तुल्याभिजनेन धारितः ।

निरीक्ष्य दृष्ट्या जलपूर्णया हयं महीतलस्थो विललाप पार्थिवः ॥७४॥

तब मुहूर्त भर पुत्रके शोक से वह मूर्छित रहा, तुल्य कुलके लोगोंने उसे धारण किया; जलपूर्ण दृष्टि से घोड़े को देखकर, पृथिवी पर पड़े हुए राजा ने विलाप किया:— ॥ ७४ ॥

बहूनि कृत्वा समरे प्रियाणि मे महत्त्वया कन्थक विप्रियं कृतम् ।

गुणप्रियो येन वने स मे प्रियः प्रियोऽपि सञ्चप्रियवत्प्रवेरितः ॥७५॥

“युद्धमें मेरे बहुतेरे प्रिय (काम) करके, हे कन्थक, तुमने यह बड़ा अप्रिय (कर्म) किया, मेरे उस गुण-प्रिय प्रियको प्रिय होने पर भी अप्रियके समान वनमें फेंक दिया ॥ ७५ ॥

तद्य मां वा नय तत्र यत्र स वज द्रुतं वा पुनरेनमानय ।

ऋते हि तस्मान्मम नास्ति जीवितं विगाढ़रोगस्य सदौषधादिव ॥७६॥

अतः आज मुझे वहाँ ले चलो जहाँ वह है; या जल्दी जाओ, फिर उसे ले आओ क्योंकि उसके बिना मैं जीवित नहीं रहूँगा, जैसे अच्छी ओषधिके बिना रोग-ग्रस्त व्यक्ति (जीवित नहीं रह सकता) ॥ ७६ ॥

सुवर्णनिष्ठीविनि मृत्युना हृते सुदुष्करं यत्र ममार संजयः ।

अहं पुनर्धर्मरतौ सुते गते मुमुक्षुरात्मानमनात्मवानिव ॥७७॥

सुवर्णनिष्ठीवीका मृत्युद्वारा हरण होने पर संजय (=सुज्जय) नहीं मरा, यह अति दुष्कर हुआ; किंतु मैं, धर्म-रत पुत्रके चले जाने पर, असंयता तमाके समान आत्मा (=प्राण) छोड़ने की इच्छा कर रहा हूँ ॥ ७७ ॥

विभोर्दशक्षत्रकृतः प्रजापतेः परापरश्चस्य विवस्वदात्मनः ।
प्रियेण पुत्रेण सता विनाकृतं कथं न मुह्येद्धि मनो मनोरणि ॥७८॥

दस राज्योंके स्थान, प्रभु, प्रजापति, पर व अपरको जाननेवाले, विवस्वानके पुत्र, मनुका भी मन, अच्छे प्रिय पुत्रसे वियुक्त होकर, कैसे मूर्छित न हो ? ॥ ७८ ॥

अजस्य राज्ञस्तनयाय धीमते नराधिपायेन्द्रसखाय मे स्पृहा ।
गते वनं यस्तनये दिवं गतो न मोघवाच्पः कृपणं जिजीव ह ॥७९॥

राजा अजके बुद्धिमान् पुत्र, इन्द्रके मित्र, नराधिप (दशरथ)से मुझे ईर्ष्या है जो पुत्रोंके वन जानेपर स्वर्ग चले गये, व्यर्थ आँखू बहाते हुए दीन होकर जीवित नहीं रहे ॥ ७९ ॥

प्रचक्षव मे भद्र तदाश्रमाजिरं हृतस्त्वया यत्र स मे जलाञ्जलिः ।
इमे परीप्सन्ति हि तं पिपासवो ममासवः प्रेतगतिं यियासवः ॥८०॥

हे भद्र, मुझे वह आश्रम-स्थान बताओ जहाँ तुम मेरी उस जलाञ्जलि (= जलाञ्जलि देनेवाले)को ले गये हो; क्योंकि प्रेत गतिको जानेकी (=मरनेकी) इच्छा करनेवाले मेरे ये प्यासे प्राण उसे पाना चाहते हैं ।” ॥ ८० ॥

इति तनयियोगजातदुःखः क्षितिसदृशं सहजं विहाय धैर्यम् ।

दशरथ इव रामशोकवश्यो बहु विलाप नृपो विसंब्रकल्पः ॥८१॥

इस तरह पुत्रके वियोगसे दुःखी होकर धरतीकी-सी स्वाभाविक धीरताको छोड़कर, रामके शोकसे परतंत्र दशरथके समान, राजाने मानो अचेत होकर बहुत विलाप किया ॥ ८१ ॥

श्रुतविनयगुणान्वितस्ततस्तं मतिसचिवः प्रवयाः पुरोहितश्च ।
समधृतमिदमूच्यतुर्यथावन्न च परितप्तमुखौ न चाप्यशोकौ ॥८२॥

तब विद्या, विनय व गुणसे युक्त मंत्री तथा प्रौढ़ पुरोहितने, न संतसमुख होकर और न शोक-रहित होकर, तुल्य जनसे धारण किये गये राजाको ठीक-ठीक यों कहा:- ॥ ८२ ॥

त्यज नरवर शोकमेहि धैर्यं कुधृतिरिवार्हसि धीर नाश्रु मोक्षुम् ।

स्वजमिव मृदितामपास्य लक्ष्मीं भुवि वहवो नृपा वनान्यतीयुः ॥८३॥

“हे नर-श्रेष्ठ शोक छोड़िए, धैर्य धारण कीजिए । हे धीर, अधीरके समान

आपको आँसू न बहाना चाहिए। रौंदी गई मालाके समान लक्ष्मीको छोड़कर, (इस) पृथ्वीपर बहुतसे राजा वन चले गये ॥ ८३ ॥

अपि च नियत एष तस्य भावः स्मर वचनं तद्वेषः पुरासितस्य ।
न हि स दिवि न चक्रवर्तिराज्ये क्षणमपि वासयितुं सुखेन शक्यः ॥ ८४ ॥

और भी, उसका यह भाव तो नियत ही था; पूर्वके असित ऋषि का वह वचन स्मरण कीजिए। न स्वर्ग में, न चक्रवर्तिराज्यमें क्षणभरके लिए भी वह सुखसे रखा जा सकता है ॥ ८४ ॥

यदि तु नुवर कार्यं एव यत्नस्त्वरितमुदाहर यावदत्र यावः ।
वहुविधमिह युद्धमस्तु तावत्तव तनयस्य विधेश्च तस्य तस्य ॥ ८५ ॥

हे नर-श्रेष्ठ, यदि यत्न करना ही है, तो तुरत कहिए, और हम वहाँ जायें। तब आपके पुत्र और तरह-तरहके उपायके बीच भाँति भाँतिका युद्ध हो” ॥ ८५ ॥
नरपतिरथं तौ शशास तस्माद्दुतमित एव युवामभिप्रयातम् ।

न हि मम हृदयं प्रयाति शान्तिं वनशकुनेरिव पुत्रलालसस्य ॥ ८६ ॥

इसलिए तब राजाने उन्हें आज्ञा दी—“यहीसे आप दोनों शीघ्र चले जायें। क्योंकि, मेरा हृदय, पुत्रके लिए उत्सुक वन-पक्षीके हृदयके समान, शान्ति नहीं पा रहा है” ॥ ८६ ॥

परममिति नरेन्द्रशासनात्तौ ययतुरमात्यपुरोहितौ वनं तत् ।
कृतमिति सवधूजनः सदारो नृपतिरपि प्रचकार शेषकार्यम् ॥ ८७ ॥

इति बुद्धचरिते महाकाव्येऽन्तःपुरविलापो नामाष्टमः सर्गः ।

“अच्छा” कहकर राजाकी आज्ञासे मंत्री और पुरोहित दोनों ही उस वनको चले गये। “अच्छा ही किया गया”, ऐसा समझकर (पुत्र-) वधुओं और पत्नियोंके साथ राजाने भी शेष कार्य किया ॥ ८७ ॥

बुद्धचरित महाकाव्यका “अन्तःपुर-विलाप” नामक अष्टम सर्ग समाप्त ।

नवम सर्ग

कुमार-अन्वेषण

ततस्तदा मन्त्रिपुरोहितौ तौ बाष्पप्रतोदाभिहृतौ नृपेण ।
विद्धौ सदश्वाविव सर्वयत्नात्सौहार्दशीव्रं यथतुर्वर्णं तत् ॥१॥

तब उस समय मन्त्री और पुरोहित दोनों, राजाके द्वारा अशुरूप अङ्गुश से आहत होकर, विद्ध हुए अच्छे धोड़ोंके समान समस्त यत्नसे, सौहार्दके कारण वेगसे उस बनको चले ॥१॥

तमाश्रमं जातपरिश्रमौ तावुपेत्य काले सदशानुयात्रौ ।
राजङ्ग्निमुत्सृज्य विनीतचेष्टावुपेयतुर्भार्गवधिष्यमेव ॥२॥

समयपर योग्य अनुयायियोंके साथ उस आश्रमके पास वे थके हुए पहुँचे ।
राजङ्ग्निको छोड़, विनीत-चेष्ट हो, वे भार्गवके स्थानपर गये ॥२॥
तौ न्यायतस्तं प्रतिपूज्य विप्रं तेनार्चितौ तावपि चानुरूपम् ।
कृतासनौ भार्गवमासनस्थं छित्वा कथामूचतुरात्मकृत्यम् ॥३॥

उन दोनोंने उस विप्रकी उचित पूजा की और उसने उन दोनोंकी भी योग्य पूजा की । आसन ग्रहण कर, दोनोंने आसनपर स्थित भार्गवसे कथा काटकर (= संक्षिप्त कर) अपना काम कहा:—॥३॥

शुद्धौजसः शुद्धविशालकीर्तिरिक्षवाकुवंशप्रभवस्य राज्ञः ।

इमं जनं वेत्त भवानधीतं श्रुतग्रहे मन्त्रपरिग्रहे च ॥४॥

“शुद्ध ओजवाले, शुद्ध व विशाल कीर्तिवाले, इक्षवाकु-वंश-प्रसूत राजाके इस व्यक्तिको (= हम दोनोंको) आप शास्त्र और मंत्रणामें निपुण (= पुरोहित और मंत्री) जानें ॥४॥

तस्येन्द्रकल्पस्य जयन्तकल्पः पुत्रो जरामृत्युभयं तितीषुः ।

इहाभ्युपेतः किल तस्य हेतोराचामुपेतौ भगवानवैतु ॥५॥

उस इन्द्र-तुल्यका जयन्त-तुल्य पुत्र जरा और मृत्युका भय पार करनेकी

इच्छासे यहाँ आया है, इस हेतु हम दोनों आये हैं, ऐसा भगवान् जानें” ॥५॥
तौ सोऽब्रवीदस्ति स दीर्घबाहुः प्राप्तः कुमारो न तु नाचबुद्धः ।

धर्मोऽयमावर्तक इत्यवेत्य यातस्त्वराडाभिसुखो मुमुक्षुः ॥ ६ ॥

उसने उन दोनोंसे कहा—“वह दीर्घबाहु आया था, कुमार है, किन्तु
बुद्धि-हीन नहीं । ‘यह धर्म आवर्तक (= भ्रामक) है, ऐसा जानकर वह मुमुक्षु
अराड़के (आश्रमकी) ओर चला गया’” ॥६॥

तसात्ततस्तावुपलभ्य तत्त्वं तं विप्रमामन्त्र्य तदैव सद्यः ।

खिन्नावखिन्नाविव राजभक्त्या प्रसस्तुतुस्तेन यतः स यातः ॥ ७ ॥

तब उससे वे दोनों सच्ची बात जानकर, उस विप्रसे उसी समय तुरत विदा
लेकर, उस ओर चल पड़े जिधर वह गया था, खिन्न होकर भी राज-भक्तिके
कारण वे मानो अ-खिन्न थे ॥७॥

यान्तौ ततस्तौ मृजया विहीनमपश्यतां तं वपुषोज्जवलन्तम् ।

उपोपविष्टं पथि वृक्षमूले सूर्यं घनाभोगमिव प्रविष्टम् ॥ ८ ॥

तब जाते हुए उन दोनोंने मार्जन-विहीन, किन्तु रूपसे जलते कुमारको
देखा; रास्तेपर वृक्षकी जड़में वह बैठा हुआ था, जैसे बादलोंके फैलावमें सूर्य
बुसा हुआ हो ॥८॥

यानं विहायोपययौ ततस्तं पुरोहितो मन्त्रधरेण सार्धम् ।

यथा वनस्थं सहवामदेवो रामं दिव्यक्षुर्मुनिरौर्वशेयः ॥ ९ ॥

तब रथ छोड़कर मन्त्रीके साथ पुरोहित उसके समीप गया, जैसे वनमें
स्थित रामके समीप वामदेवके साथ दर्शनाभिलाषी और्वशेय मुनि (= वसिष्ठ)
गया था ॥९॥

तावर्च्यामासतुरर्हतस्तं दिवीव शुक्राङ्गिरसौ महेन्द्रम् ।

प्रत्यर्च्यामास स चार्हतस्तौ दिवीव शुक्राङ्गिरसौ महेन्द्रः ॥ १० ॥

उन दोनोंने उसकी उचित पूजा की, जैसे स्वर्गमें शुक्र और आङ्गिरस
(= बृहस्पति)ने इन्द्रकी (पूजा की थी) और उसने उन दोनोंकी उचित
पूजा की, जैसे स्वर्गमें इन्द्रने शुक्र और आङ्गिरसकी (पूजा की थी) ॥१०॥

कृताभ्यनुशावभितस्ततस्तौ निषेदतुः शाक्यकुलध्वजस्य ।

विरेजतुस्तस्य च संनिकर्षे पुनर्वसू योगगताविवेन्द्रोः ॥ ११ ॥

आज्ञा पाकर, शाक्य-कुलकी पताका (सिद्धार्थ) की दोनों ओर वे दोनों बैठ गये और उसके समीप ऐसे विराजे जैसे चन्द्रमा के समीप योगको प्राप्त पुनर्वसु-युगल ॥११॥

तं वृक्षमूलस्थमभिज्वलन्तं पुरोहितो राजसुतं बभाषे ।

यथोपविष्टं दिवि पारिजाते वृहस्पतिः शक्सुतं जयन्तम् ॥१२॥

वृक्ष मूलमें स्थित उस जलते हुए राज-पुत्रसे पुरोहितने कहा, जैसे स्वर्गमें पारिजात वृक्षके नीचे बैठे हुए शक्ष-पुत्र जयन्तसे वृहस्पति (कह रहा हो):—॥१२॥ त्वच्छोकशाख्ये हृदयावगाढे मोहं गतो भूमितले मुहूर्तम् ।

कुमार राजा नयनाम्बुवर्णो यत्त्वामवोचत्तदिदं निबोध ॥१३॥

“तुम्हारा शोकरूप शाल्य हृदयमें गड़नेपर, भूतलपर मुहूर्त भर मूर्छित होकर, हे कुमार, राजाने नयन-जल बरसाते हुए, तुम्हें जो कहा है वह यह है, सुनोः—॥१३॥

जानामि धर्मं प्रति निश्चयं ते परैमि ते भाविनमेतमर्थम् ।

अहं त्वकाले वनसंश्रयात्ते शोकाग्निनाग्निप्रतिमेन दह्ये ॥१४॥

“धर्मके प्रति तुम्हारा निश्चय जानता हूँ, समझता हूँ कि यह तुम्हारा भावी लक्ष्य है, किन्तु असमयमें तुम वनका आश्रय ले रहे हो, अतः अग्नि-तुल्य शोकाग्निसे मैं जल रहा हूँ ॥१४॥

तदेहि धर्मप्रिय मत्प्रियार्थं धर्मार्थमेव त्यज बुद्धिमेताम् ।

अयं हि मा शोकरयः प्रवृद्धो नदीरयः कूलमिवाभिद्वन्ति ॥१५॥

इसलिए, हे धर्मप्रिय, मेरा प्रिय करनेके लिए आओ, धर्मके लिए ही इस बुद्धिको छोड़ो । यह बढ़ा हुआ शोकका वेग मुझे वैसे ही मार रहा है, जैसे बढ़ा हुआ नदीका वेग किनारेको (काटता है) ॥१५॥

मेघाम्बुकक्षाद्रिषु या हि वृत्तिः समीरणार्काग्निमहाशनीनाम् ।

तां वृत्तिमस्मासु करोति शोको विकर्षणोच्छोषणदाहभेदैः ॥१६॥

मेघ, जल, तृण व पर्वतके प्रति (क्रमशः) पवन, सूर्य, अग्नि व महा-वज्र-का जो काम होता है, विकर्षण, शोषण, दाह व भेदन द्वारा वही काम हमारे प्रति शोक कर रहा है ॥१६॥

तद्भृक्ष्व तावद्वसुधाधिपत्यं काले वनं यास्यसि शाश्वद्दृष्टे ।
अनिष्टवन्धौ कुरु मय्यपेक्षां सर्वेषु भूतेषु दया हि धर्मः ॥१७॥

इसलिए तबतक वसुधाके आधिपत्यका भोग करो, शास्त्र-सम्मत समयपर वन जाओगे । मुक्ष अवांछित पिताकी आकांक्षा करो, क्योंकि सब भूतोंपर दया (करना ही तो) धर्म है ॥ १७ ॥

न चैष धर्मो वनं एव सिद्धः पुरेऽपि सिद्धिनियता यतीनाम् ।
बुद्धिश्च यज्ञश्च निमित्तमत्र वनं च लिङ्गं च हि भीरुचिह्नम् ॥१८॥

और, यह धर्म (कैवल) वनमें ही सिद्ध नहीं होता, नगरमें भी यतियों (= संयमियों) की सिद्धि नियत है । इसमें बुद्धि और यत्न निमित्त हैं, वन और (भिक्षु-) वेष तो कायरके चिह्न हैं ॥ १८ ॥

मौलीधरैरंसविष्कहारैः केयूरविष्टव्यभुजैर्नरेन्द्रैः ।
लक्ष्म्यङ्गमध्ये परिवर्तमानैः प्राप्तो गृहस्थैरपि मोक्षधर्मः ॥१९॥

मुकुट धारण करनेवाले राजाओंने, जिनके गलोंमें हार लटकते थे और जिनकी भुजाएँ केयूरोंसे बँधी थीं, गृहस्थ होकर भी (= घरमें रहकर भी) लक्ष्मीकी गोदमें लोटते हुए मोक्ष-धर्म प्राप्त किया ॥ १९ ॥

ध्रुवानुजौ यौ बलिवज्रबाहु वैभ्राजमाषाढमथान्तिदेवम् ।
विदेहराजं जनकं तथैव (रामं) द्रुमं सेनजितश्च राज्ञः ॥२०॥

ध्रुवके जो दो छोटे भाई बलि और वज्रबाहु, वैभ्राज, आषाढ़ और अन्तिदेव, विदेह-राज जनक, राम, द्रुम और सेनजित् राजागण ॥ २० ॥

एतान् गृहस्थान्नृपतीनवेहि नैःश्रेयसे धर्मविद्यौ विनीतान् ।
उभौऽपि तस्माद्युगपद्मजस्व ज्ञानाधिपत्यं च नृपत्रियं च ॥२१॥

विदित हो कि ये गृहस्थ राजा परम कल्याण-कारी धर्म-विधिमें शिक्षित थे । इसलिए एक ही साथ ज्ञानके आधिपत्य व राज्यलक्ष्मी दोनोंका सेवन करो ॥ २१ ॥

इच्छामि हि त्वामुपगृह्य गाढं कृताभिषेकं सलिलार्द्धमेव ।
धृतातपत्रं समुदीक्षमाणस्तेनैव हृष्णं वनं प्रवेष्टुम् ॥२२॥

मैं चाहता हूँ कि अभिषेक करनेपर जलसे आर्द्र रहनेपर ही तुम्हारा गाढ़

आलिङ्गन कर, छत्रके नीचे तुम्हें देखता हुआ उसी आनन्दसे वनमें प्रवेश करूँ” ॥ २२ ॥

इत्यब्रवीदभूमिपतिर्भवन्तं वाक्येन वाष्पग्रथिताक्षरेण ।

श्रुत्वा भवानर्हति तत्प्रियार्थं स्नेहेन तत्स्नेहमनुप्रयातुम् ॥ २३ ॥

राजाने आपको ऐसा कहा; उसके वाक्यके अक्षर वाष्पसे ग्रथित थे । यह सुनकर उसका प्रिय करनेके लिए आपको स्नेहपूर्वक उसके स्नेहका अनुसरण करना चाहिए ॥ २३ ॥

शोकाम्भसि त्वत्प्रभवे ह्यगाधे दुःखार्णवे मज्जति शाक्यराजः ।

तस्मात्तमुत्तारय नाथहीनं निराश्रयं मग्नमिवार्णवे नौः ॥ २४ ॥

तुमसे उत्पन्न अगाध दुःख-सागरमें, जिसका जल शोक है, शाक्यराज छूट रहा है । उससे उस नाथ-हीनको उबारो, जैसे सागरमें छूटते हुए निराश्रय (व्यक्ति)को नाव (उबारती) है ॥ २४ ॥

भीष्मेण गङ्गोदरसंभवेन रामेण रामेण च भार्गवेण ।

श्रुत्वा कृतं कर्म पितुः प्रियार्थं पितुस्त्वमप्यर्हसि कर्तुमिष्टम् ॥ २५ ॥

गङ्गाके उदरसे उत्पन्न भीष्मने, रामने, और भार्गव रामने, पिता के प्रियके लिए काम किया, यह सुनकर तुम्हें भी पिताका प्रिय करना चाहिए ॥ २५ ॥

संवर्धीयित्रीं समवेहि देवीमगस्त्यजुष्टां दिशमप्रयाताम् ।

प्रनष्टवत्सामिव वत्सलां गामजस्तमार्तां करुणं रुदन्तीम् ॥ २६ ॥

विदित हो कि तुम्हारा संवर्धन करनेवाली देवी, (गौतमी) जो (अब तक) अगस्त्यसे सेवित दिशाको नहीं गई है (= नहीं मरी है), उस वत्सल गायके समान, जिसका बछड़ा नष्ट हो गया हो, आर्त और करुण होकर निरन्तर रो रही है ॥ २६ ॥

हंसेन हंसीमिव विप्रयुक्तां त्यक्तां गजेनेव वने करेणुम् ।

आर्तां सनाथामपि नाथहीनां त्रातुं वधूमर्हसि दर्शनेन ॥ २७ ॥

हंससे वियुक्त हंसीके समान, हाथीसे वनमें परित्यक्त हथिनीके समान, आर्त पत्नीको, जो सनाथ होनेपर भी अनाथा है, तुम्हें दर्शन देकर वचाना चाहिए ॥ २७ ॥

एकं सुतं बालमनर्हदुःखं संतापमन्तर्गतमुद्ध्रहन्तम् ।

तं राहुलं मोक्षय बन्धुशोकाद्राहूपसर्गादिव पूर्णचन्द्रम् ॥ २८ ॥

एकमात्र बाल-पुत्र, जो दुःखके योग्य नहीं है, भीतरी संताप वहन कर रहा है। उस राहुलको पितृ-शोकसे मुक्त करो, जैसे राहुके ग्रहणसे पूर्ण चन्द्रको (मुक्त किया जाय) ॥ २८ ॥

शोकाभिनन्ता त्वद्विरहेन्धनेन निःश्वासधूमेन तमःशिखेन ।
त्वद्वर्शनाभिवच्छति दह्यमानमन्तःपुरं चैव पुरं च कृत्स्नम् ॥२९॥

शोकरूप अभिसे, जिसका इन्धन तुम्हारा विरह है, जिसका धुआँ लम्बी सौंस हैं, जिसकी शिखा अन्धकार है, जलता हुआ अन्तःपुर और सम्पूर्ण नगर तुम्हारे दर्शन-जलकी इच्छा कर रहे हैं ।” ॥ २९ ॥

स बोधिसत्त्वः परिपूर्णसत्त्वः श्रुत्वा वचस्तस्य पुरोहितस्य ।
ध्यात्वा मुहूर्तं गुणवदगुणज्ञः प्रत्युत्तरं प्रश्नितमित्युवाच ॥३०॥

उस पुरोहितका वचन सुनकर धैर्यशाली, गुणवान् व गुणज बोधिसत्त्वने मुहूर्त भर ध्यान किया और विनय-युक्त यह उत्तर दिया:— ॥ ३० ॥

अवैमि भावं तनये पितृणां विशेषतो यो मयि भूमिपस्य ।
जानन्नपि व्याधिजराविपद्भ्यो भीतस्त्वगत्या स्वजनं त्यजामि ॥३१॥

“पुत्रके प्रति पिताका भाव जानता हूँ, विशेष कर मेरे प्रति राजाका जो (भाव) है; यह जानता हुआ भी मैं रोग, बुद्धापे व मौतसे डरकर, (अन्य) उपायके अभावमें स्वजनको छोड़ रहा हूँ ॥ ३१ ॥

द्रष्टुं प्रियं कः स्वजनं हि नेच्छेन्नान्ते यदि स्यात्प्रियविग्रयोगः ।
यदा तु भूत्वापि चिरं वियोगस्ततो गुरुं स्त्रिघमपि त्यजामि ॥३२॥

यदि अन्तमें वियोग न हो, तो प्यारे स्वजनको देखना कौन नहीं चाहेगा ? जब कि देर होकर भी वियोग होता ही है, इसलिए स्नेही पिताको भी छोड़ रहा हूँ ॥ ३२ ॥

मञ्जेतुकं यत्तु नराधिपस्य शोकं भवानाह न तत्प्रियं मे ।
यत्स्वप्नभूतेषु समागमेषु संतप्यते भाविनि विप्रयोगे ॥३३॥

मेरे कारण हुआ राजाका शोक आपने जो कहा वह मुझे प्रिय नहीं; क्योंकि समागम स्वप्न-सदृश होनेपर और वियोग अवश्यं भावी होनेपर वह संताप कर रहे हैं ॥ ३३ ॥

एवं च ते निश्चयमेतु बुद्धिर्द्वापा विचित्रं जगतः प्रचारम् ।
संतापहेतुर्न सुतो न वन्धुरक्षाननैमित्तिक पष तापः ॥३४॥

जगत्की विचित्र गति देखकर, आपकी बुद्धि इस प्रकार निश्चय करे—
संतापका कारण न पुत्र है न पिता, इस संतापका निमित्त अज्ञान है ॥ ३४ ॥
यथाध्वगानामिह संगतानां काले वियोगो नियतः प्रजानाम् ।

प्राणो जनः को तु भजेत शोकं वन्धुप्रतिक्षातजनैर्विहीनः ॥३५॥

पथिकोंके समान, इस संसारमें, सम्मिलित हुए लोगोंका वियोग नियत है;
अतः वन्धु समझे जानेवाले लोगोंसे वियुक्त होकर कौन जानी जन शोक
करे ? ॥ ३५ ॥

इहैति हित्वा स्वजनं परत्र प्रलभ्य चेहापि पुनः प्रयाति ।

गत्वापि तत्राप्यपरत्र गच्छत्येवं जने त्यागिनि कोऽनुरोधः ॥३६॥

पूर्व जन्ममें स्वजनको छोड़कर मनुष्य यहाँ आता है और फिर यहाँ भी
(स्वजनको) ठगकर वह यहाँसे (परलोक) चला जाता है, वहाँ भी जाकर
वहाँसे अन्यत्र चला जाता है; इस प्रकार परित्याग करनेवाले आदमीमें आसक्ति
क्यों की जाय ? ॥ ३६ ॥

यदा च गर्भात्प्रभृति प्रवृत्तः सर्वास्ववस्थासु वधाय मृत्युः ।

कस्मादकाले वनसंश्रयं मे पुत्रप्रियस्तत्रभवानवोचत् ॥३७॥

और जब गर्भसे लेकर सब अवस्थाओंमें मौत मारनेके लिए तैयार रहती है,
तब क्यों पुत्र-प्रिय पूज्य (पिताजी)ने कहा कि मैं अकालमें वनका आश्रय ले
रहा हूँ ? ॥ ३७ ॥

भवत्यकालो विषयाभिपत्तौ कालस्तथैवार्थविधौ प्रदिष्टः ।

कालो जगत्कर्षति सर्वकालान्निर्वाहके श्रेयसि नास्ति कालः ॥३८॥

विषय-सेवनके लिए अकाल होता है, उसी प्रकार धन (=अर्जन)के उपाय
के लिए समय निर्दिष्ट है, सब समयमें काल संसारको लाचार करता रहा है,
मोक्ष-प्रद कल्याणके लिए (कोई निश्चित) समय नहीं है ॥ ३८ ॥

राज्यं मुमुक्षुर्मयि यच्च राजा तदप्युदारं सदृशं पितुश्च ।

प्रतिग्रहीतुं मम न क्षमं तु लोभादपथ्यान्नपिवातुरस्य ॥३९॥

मेरे ऊपर राजा राज्य छोड़ना चाहते हैं यह उनकी उदारता है और पिता-

के अनुरूप है; किन्तु मेरे लिए इसे ग्रहण करना ठीक नहीं, जैसे रोगीके लिए लोभसे अपश्य अब ग्रहण करना ठीक नहीं ॥ ३९ ॥

कथं तु मोहायतनं नृपत्वं क्षमं प्रपत्तुं विदुषा नरेण ।

सोद्वेगता यत्र मदः श्रमश्च परापत्रारेण च धर्मपीडा ॥४०॥

किस प्रकार विद्वान् आदमीके लिए उस राजत्वका सेवन करना उचित है, जो मोहका मन्दिर है, जहाँ उद्वेग, मद व थकावट हैं, और जहाँ दूसरोंपर अनाचार करनेसे धर्ममें बाधा होती है ? ॥ ४० ॥

जाम्बूनदं हर्म्यमिव प्रदीपं विषेण संयुक्तमिवोत्तमान्नम् ।

आहाकुलं चाम्बिव वारविन्दं राज्यं हि रम्यं व्यसनाश्रयं च ॥४१॥

सोनेके जलते महलके समान, विष-युक्त उत्तम भोजनके समान, घड़ियालों-से भरे कमल-युक्त जलाशयके समान, राज्य रमणीय है और विपत्तियोंका आश्रय है ॥ ४१ ॥

इत्थं च राज्यं न सुखं न धर्मः पूर्वे यथा जातघृणां नरेन्द्राः ।

वयःप्रकर्षेऽपरिहार्यदुःखे राज्यानि मुक्त्वा वनमेव जग्मुः ॥४२॥

इस प्रकार, राज्यसे न सुख होता है, न धर्म; पूर्वमें घृणा (= अहन्ति) उत्पन्न होनेपर राजा लोग वृद्धावस्थामें, जिसमें दुःख अवश्यंभावी है, राज्य छोड़कर वनको ही गये ॥ ४२ ॥

वरं हि भुक्तानि तृणान्यरण्ये तोषं परं रत्नमिवोपगुह्यं ।

सद्वौषितं श्रीसुलभैर्न चैव दोषैरदृश्यैरिव कृष्णसप्तैः ॥४३॥

जंगलमें तृण खाकर मानो रत्न-स्पर्शका परम संतोष पाना अच्छा है, न कि श्री-सुलभ उन दोषोंके साथ रहना जो कृष्ण-सप्तोंके समान देखे जाने योग्य नहीं ॥ ४३ ॥

इलाध्यं हि राज्यानि विहाय राज्ञां धर्माभिलाषेण वनं प्रवेष्टुम् ।

भग्नप्रतिज्ञस्य न तूपपञ्चं वनं परित्यज्य गृहं प्रवेष्टुम् ॥४४॥

राज्य छोड़कर धर्मकी अभिलाषासे राजाओंका वनमें प्रवेश करना इलाध्य है; किंतु प्रतिज्ञा तोड़ करके, वन छोड़कर, धर्में प्रवेश करना उचित नहीं ॥ ४४ ॥

जातः कुले को हि नरः ससत्त्वो धर्माभिलाषेण वनं प्रविष्टः ।

काषायमुत्सृज्य विमुक्तलज्जाः पुरंदरस्यापि पुरं श्रयेत ॥४५॥

(उत्तम) कुलमें उत्पन्न हुआ कौन धैर्यशाली आदमी, जिसने धर्मकी अभिलाषासे बनमें प्रवेश किया है, काषाय-वस्त्र छोड़, निर्लंज हो इन्द्रके भी नगरमें जावगा ? ॥४५॥

लोभाद्वि मोहादथवा भयेन यो वान्तमन्नं पुनराददीत ।
लोभात्स मोहादथवा भयेन संतज्य कामान् पुनराददीत ॥४६॥

लोभसे, मोहसे अथवा भयसे जो उगले हुए अन्नको फिर ग्रहण करेगा, वही लोभसे, मोह अथवा भयसे काम-मोर्गोंको छोड़कर फिर ग्रहण करेगा ॥४६॥
यथा प्रदीपाच्छरणात्कथंचिन्निष्कम्य भूयः प्रविशेत्तदेव ।
गार्हस्थ्यमुत्सृज्य स दृष्टदोषो मोहेन भूयोऽभिलेषेद्ग्रहीतुम् ॥४७॥

और, जो जलते घरसे किसी प्रकार निकलकर फिर उसीमें प्रवेश करे वही मनुष्य, दोष देखकर गार्हस्थ्य (= घरमें रहना) छोड़नेके बाद, मोहसे फिर उसे ग्रहण करना चाहेगा ॥ ४७ ॥

या च श्रुतिर्मोक्षमवाप्तवन्तो नृपा गृहस्था इति नैतदस्ति ।
शमप्रधानः क च मोक्षधर्मो दण्डप्रधानः क च राजधर्मः ॥४८॥

यह (जन -) श्रुति कि गृहस्थ (= घरमें रहते हुए) राजा औने मोक्ष पाया, यह सच नहीं है; कहाँ शम-प्रधान मोक्ष-धर्म और कहाँ दण्ड-प्रधान राज-धर्म ! ॥ ४८ ॥

शमे रतिद्वेचिछिथिलं च राज्यं राज्ये मतिश्चेच्छमविष्टवश्च ।
शमश्च तैक्षण्यं च हि नोपन्नं शीतोष्णयोरैक्यमिवोदकान्योः ॥४९॥

यदि शम (= शान्ति)में रति हो, तो राज्य शिथिल होगा; यदि राज्यमें मति हो, तो शान्तिमें विष्टव होगा । शान्ति व तीक्ष्णताका मेल नहीं, जैसे शीतल जल व गर्म आगकी एकता नहीं होती ॥ ४९ ॥

४७—नेपाल दरबारके हस्तलिखित ग्रन्थमें ४७ के बाद और तिब्बती अनुवादमें ४९ के बाद निम्नलिखित पद्य है—

वह्नेश्च तोयस्य च नास्ति संधिः शठस्य सत्यस्य च नास्ति संधिः ।

आर्यस्य पापस्य च नास्ति संधिः शमस्य दण्डस्य च नास्ति संधिः ॥

अरिन और जलका मेल नहीं है, शठ और सत्यका मेल नहीं है, आर्य और पापका मेल नहीं है, शम और दण्डका मेल नहीं है ।

तन्निश्चयाद्वा वसुधाधिपास्ते राज्यानि मुक्त्वा शममाप्तवन्तः ।

राज्याङ्गिता वा निभृतेन्द्रियत्वादनैषिके मोक्षकृताभिमानाः ॥५०॥

इसलिए उन वसुधाधिपोंने या तो निश्चय-पूर्वक राज्य छोड़कर शम प्राप्त किया, या राज्यके स्वामी होकर (केवल) इन्द्रिय-संयम होनेके कारण अनैषिक अवस्थामें ही मोक्ष पानेका अभिमान किया ॥ ५० ॥

तेषां च राज्येऽस्तु शमो यथावत्प्राप्तो वनं नाहमनिश्चयेन ।

छित्त्वा हि पाशं गृहवन्धुसशं मुक्तः पुनर्न प्रविविश्वरस्मि ॥५१॥

उन्हें राज्यमें सभ्यक् शान्ति मिली हो, मैंने अनिश्चयसे वनमें प्रवेश नहीं किया है । गृह व वन्यु नामक बन्धन काटकर मुक्त हुआ मैं फिर (बन्धन में) प्रवेश करना नहीं चाहता हूँ ।” ॥ ५१ ॥

इत्यात्मविज्ञानगुणानुरूपं मुक्तस्पृहं हेतुमदूर्जितं च ।

श्रुत्वा नरेन्द्रात्मजमुक्तवन्तं प्रत्युत्तरं मन्त्रधरोऽप्युवाच ॥५२॥

इस तरह राजा के पुत्रका अपने ज्ञान व गुणोंके अनुरूप निरभिलाष युक्ति-युक्त व बलवान् उत्तर सुनकर, मन्त्रीने भी प्रति-उत्तर दियाः—॥ ५२ ॥

यो निश्चयो धर्मविधौ तवायं नायं न युक्तो न तु कालयुक्तः ।

शोकाय दत्त्वा पितरं वयःस्थं स्याद्धर्मकामस्य हि ते न धर्मः ॥५३॥

“धर्मके उपायके लिए तुम्हारा जो यह निश्चय है, यह अनुचित नहीं; किन्तु यह समय इसके लिए उचित नहीं । बृद्ध पिताको शोक देकर, तुझ धर्म-भिलाषीको धर्म नहीं हो सकता ॥ ५३ ॥

नूनं च बुद्धिस्तव नातिसूक्ष्मा धर्मार्थकामेष्वविचक्षणा वा ।

हेतोरदृष्टस्य फलस्य यस्त्वं प्रत्यक्षमर्थं परिभूय यासि ॥५४॥

अवश्य ही धर्म, अर्थ, व काममें तुम्हारी बुद्धि या तो अति सूक्ष्म नहीं, या मन्द है, जो अदृष्ट फलके हेतु तुम प्रत्यक्ष अर्थ (वस्तु)का तिरस्कार करके जा रहे हो ॥ ५४ ॥

पुनर्भवोऽस्तीति च केचिदाहुर्नास्तीति केचिन्नियतप्रतिज्ञाः ।

एवं यदा संशयितोऽयमर्थस्तस्मात्क्षमं भोक्तुमुपस्थिता श्रीः ॥५५॥

कुछ लोग कहते हैं कि पुनर्जन्म है, कुछ लोग प्रतिज्ञापूर्वक कहते हैं नहीं है। इस तरह जब यह बात संशय-युक्त है, तब उपस्थित श्रीका भोग करना ही ठीक है ॥ ५५ ॥

भूयः प्रवृत्तिर्थदि काचिदस्ति रस्यामहे तत्र यथोपपत्तौ ।
अथ प्रवृत्तिः परतो न काचित्सद्गोऽप्रयत्नाजगतोऽस्य मोक्षः ॥५६॥

यदि फिर कोई प्रवृत्ति है, तो वहाँ जो कुछ मिलेगा उसी में हम रमेंगे। यदि इससे परे कोई प्रवृत्ति नहीं है, तो इस जगत्का मोक्ष अनायास ही सिद्ध है ॥ ५६ ॥

अस्तीति केचित्परलोकमाहुमोक्षस्य योगं न तु वर्णयन्ति ।
अग्नेर्यथा ह्यौष्ण्यमपां द्रवत्वं तद्वप्वृत्तौ प्रकृतिं वदन्ति ॥५७॥

कोई कहते हैं कि परलोक है, किन्तु मोक्षका उपाय नहीं बताते हैं। वे कहते हैं जैसे अभिमें उष्णता है, पानीमें द्रवत्व है वैसे ही प्रवृत्तिमें प्रकृति (= स्वभाव) है ॥ ५७ ॥

केचित्स्वभावादिति वर्णयन्ति शुभाशुभं चैव भवाभवौ च ।
स्वाभाविकं सर्वमिदं च यस्मादतोऽपि मोघो भवति प्रयत्नः ॥५८॥

कोई बताते हैं कि शुभ-अशुभ और उत्पत्ति-अनुत्पत्ति स्वभावसे होती है। क्योंकि यह सब स्वाभाविक है, इसलिए भी प्रयत्न व्यर्थ है ॥ ५८ ॥

यदिन्द्रियाणां नियतः प्रचारः प्रियाप्रियत्वं विषयेषु चैव ।
संयुज्यते यज्जरयार्तिभिश्च कस्तत्र यत्तो ननु स स्वभावः ॥५९॥

इन्द्रियोंका चलना (= काम करना) नियत है, प्रिय व अप्रिय लगना (इन्द्रिय-) विषयोंमें है और लोग बुढ़ापे व रोगसे युक्त होते हैं। इन सबमें यत्न क्या? वह तो स्वभाव है ॥ ५९ ॥

अद्भुताशः शममभ्युपैति तेजांसि चापो गमयन्ति शोषम् ।
भिन्नानि भूतानि शरीरसंस्थान्यैक्यं च गत्वा जगदुद्धृदन्ति ॥६०॥

जलसे अभि शान्त होती है और तेज जलको सोखते हैं। शरीरमें स्थित (पाँचों) तत्त्व (स्वभावसे) पृथक्-पृथक् हैं और एक होकर जगत्को बनाते हैं ॥ ६० ॥

यत्पाणिपादोदरपृष्ठमूर्घनीं निवर्तते गर्भगतस्य भावः ।

यदात्मनस्तस्य च तेन योगः स्वाभाविकं तत्कथयन्ति तज्ज्ञाः ॥६१॥

गर्भमें जानेपर (व्यक्तिके) हाथ, पाँव, पेट, पीठ व मस्तक होते हैं, आत्मा-से उसका योग होता है, पण्डित यह सब स्वाभाविक बताते हैं ॥ ६१ ॥

कः कण्टकस्य प्रकरोति तैक्षण्यं विचित्रभावं सृगपक्षिणां वा ।

स्वभावतः सर्वमिदं प्रवृत्तं न कामकारोऽस्ति कुतः प्रयत्नः ॥६२॥

कौन काँटेकी तीक्ष्णता या पशु-पक्षियोंकी विचित्रता (का सूजन) करता है ? यह सब स्वभावसे हुआ है, अपनी इच्छा काम नहीं करती, प्रयत्न कहाँसे ? ॥६२॥

सर्गं वदन्तीश्वरतस्तथान्ये तत्र प्रयत्ने पुरुषस्य कोऽर्थः ।

य एव हेतुर्जगतः प्रवृत्तौ हेतुर्निवृत्तौ नियतः स एव ॥६३॥

उसी तरह दूसरे कहते हैं ईश्वरसे सुषिं होती है, उसमें पुरुषके प्रयत्नका क्या प्रयोजन ? जगत्की प्रवृत्तिमें जो कोई भी हेतु है, निश्चय ही उसकी निवृत्ति में भी वही हेतु है ॥ ६३ ॥

केचिद्वदन्त्यात्मनिमित्तमेव प्रादुर्भवं चैव भवक्षयं च ।

प्रादुर्भवं तु प्रवदन्त्ययत्नाद्यत्नेन मोक्षाधिगमं ब्रुवन्ति ॥६४॥

कोई कहते हैं जन्म व विनाशका निमित्त आत्मा ही है । वे कहते हैं कि जन्म विना यत्नके होता है और मोक्ष-प्राप्ति यत्नसे होती है ॥ ६४ ॥

नरः पितृणामनुणः प्रजाभिर्वैदैर्कृषीणां कर्तुभिः सुराणाम् ।

उत्पद्यते सार्धमृणैस्त्रिभिस्तैर्यस्यास्ति मोक्षः ॥६५॥

मनुष्य सन्तान द्वारा पितृ-ऋणसे, वेद द्वारा क्रषि-ऋणसे और यज्ञ द्वारा देव-ऋणसे मुक्त होता है, वह तीन-ऋणोंके साथ उत्पन्न होता है, जो उनसे मुक्त होता है उसीको मोक्ष है ॥ ६५ ॥

इत्येवमेतेन विधिकमेण मोक्षं सयत्नस्य वदन्ति तज्ज्ञाः ।

प्रयत्नवन्तोऽपि हि विकमेण मुमुक्षवः खेदमवाप्नुवन्ति ॥६६॥

इस प्रकार इस विधि-क्रमसे यत्न करनेवालेको मोक्ष मिलता है, ऐसा-पण्डित कहते हैं, अपनी शक्तिसे मोक्ष चाहनेवाले प्रयत्न करनेपर भी थकावट ही पाते हैं ॥ ६६ ॥

तत्सौम्य मोक्षे यदि भक्तिरस्ति न्यायेन सेवस्व विधि यथोक्तम् ।

एवं भविष्यत्युपपत्तिरस्य संतापनाशश्च नराधिपस्य ॥६७॥

इसलिए, हे सौम्य, यदि मोक्षमें भक्ति हो, तो कही गई विधिका उचित रीतिसे सेवन करो; इस प्रकार इसकी प्राप्ति होगी और राजाका संतापनाश होगा ॥ ६७ ॥

या च प्रवृत्ता तव दोषबुद्धिस्तपोवनेभ्यो भवनं प्रवेष्टुम् ।

तत्रापि चिन्ता तव तात मा भूत पूर्वेऽपि जग्मुः स्वगृहान्वनेभ्यः ॥६८॥

तपोवनसे घर प्रवेश करनेमें तुम जो दोष समझते हो, उसके लिए भी, हे तात, तुम्हें चिन्ता न करनी चाहिए; पूर्वमें भी लोग बनसे अपने घर गये हैं ॥ ६८ ॥

तपोवनस्थोऽपि वृतः प्रजाभिर्जगाम राजा पुरमम्बरीषः ।

तथा महां विप्रकृतामनायैस्तपोवनादेत्य रक्ष रामः ॥६९॥

तपोवनमें रहनेपर भी राजा अम्बरीष प्रजाओंसे विरकर नगरको गया। उसी प्रकार अनायैसे सताई जाती पृथ्वीकी रक्षा रामने बनसे आकर की ॥६९॥

तथैव शाल्वाधिपतिर्दुमाख्यो वनात्ससूनुर्नगरं विवेश ।

ब्रह्मर्षिभूतश्च मुनेर्वसिष्ठाद्भ्रे श्रियं सांकृतिरन्तिदेवः ॥७०॥

उसी प्रकार द्रुमनामक शाल्व-राजने पुत्रके साथ बनसे नगरमें प्रवेश किया और ब्रह्मर्षि हुए सांकृति अन्तिदेवने मुनि वसिष्ठसे राज्य-लक्ष्मी ग्रहण की ॥७०॥

एवंविधा धर्मयशःप्रदीप्ता वनानि हित्वा भवनान्यतीयुः ।

तस्मान्न दोषोऽस्ति गृहं प्रयातुं तपोवनाद्वर्मनिमित्तमेव ॥७१॥

धर्मके यशसे जलते हुए ऐसे व्यक्ति बन छोड़कर घर गये। इसलिए धर्म-के निमित्त ही तपोवनसे घर जानेमें दोष नहीं है ॥” ॥ ७१ ॥

ततो वचस्तस्य निशम्य मञ्जिणः प्रियं हितं चैव नृपस्य चक्षुषः ।

अनूनमव्यस्तमसक्तमद्रुतं धृतौ स्थितो राजसुतोऽब्रवीद्वचः ॥७२॥

तब राजाकै नेत्रस्वरूप उस मंत्रीका प्रिय व हितकारी वचन सुनकर, राजा-के पुत्रने धैर्यपूर्वक परिपूर्ण, सुलझा हुआ, आसक्तिरहित वे ठोस उत्तर दिया:—॥ ७२ ॥

इहास्ति नास्तीति य एष संशयः परस्य वाक्यैर्न ममात्र निश्चयः ।

अवेत्य तत्त्वं तपसा शमेन च स्वयं ग्रहीज्यामि यदत्र निश्चितम् ॥७३॥

“है, नहीं है, इस संसारमें जो यह संशय है, इसमें दूसरोंके वचनसे मुझे निश्चय नहीं होगा। तपस्या और शान्तिसे तत्त्वको जानकर इस विषयमें जो निश्चय होगा वह मैं स्वयं ग्रहण करूँगा ॥ ७३ ॥

न मे क्षमं संशयं हि दर्शनं ग्रहीतुमव्यक्तपरस्पराहृतम् ।

बुधः परप्रत्ययतो हि को वजेज्जनोऽन्धकारेऽन्ध इवान्धदेशिकः ॥७४॥

संशयसे उत्पन्न, अस्पष्ट व परस्पर-विरोधी दर्शन ग्रहण करना मेरे लिए ठीक नहीं। अँधेरमें अंधा गुरुवाले अँधेके समान कौन बुद्धिमान् दूसरोंपर विश्वास-कर चलेगा ? ॥ ७४ ॥

अद्वृष्टतत्त्वस्य सतोऽपि किं तु मे शुभाशुभे संशयिते शुभे मतिः ।

वृथापि खेदो हि वरं शुभात्मनः सुखं न तत्त्वेऽपि विगर्हितात्मनः ॥७५॥

यद्यपि मैंने तत्त्वको नहीं देखा है, तो भी शुभ व अशुभ संशययुक्त होनेपर शुभमें मेरी मति है। शुभात्मा (= शुभमें लगे हुए) का वृथा श्रम अच्छा है न कि अशुभात्माका सुख, यदि वास्तवमें वह सुख हो भी ॥७५॥

इमं तु द्वृष्टागममव्यवस्थितं यदुक्तमासैस्तदवेहि साध्विति ।

प्रहीणदोषत्वमवेहि चासतां प्रहीणदोषो ह्यनृतं न वक्ष्यति ॥७६॥

इस शास्त्रको अव्यवस्थित देख रहे हैं, अतः आस-जनोंने जो कहा उसे ही टीक समझिए और दोष-विनाश ही आसता है, क्योंकि जिसका दोष नष्ट हो गया है वह झूँठ नहीं कहेगा ॥७६॥

गृहप्रवेशं प्रति यच्च मे भवानुवाच रामप्रभृतीन्निदर्शनम् ।

न ते प्रमाणं न हि धर्मनिश्चयेष्वलं प्रमाणाय परिक्षतव्रताः ॥७७॥

घर जानेके बारेमें आपने राम-आदिके जो उदाहरण दिये वे प्रमाण नहीं हैं; क्योंकि धर्मके निश्चयमें वे प्रमाण नहीं हो सकते जिनका व्रत भङ्ग हो गया ॥७७॥

तदेवमप्येव रविर्महीं पतेदपि स्थिरत्वं हिमवान् गिरिस्त्यजेत् ।

अद्वृष्टतत्त्वो विषयोन्मुखेन्द्रियः श्रयेय न त्वेव गृहान् पृथग्जनः ॥७८॥

इसलिए यदि सूर्य पृथ्वीपर गिर पड़े, हिमालय पर्वत अपनी स्थिरता छोड़ दे, तो भी तत्त्वको देखे विना इन्द्रियोंको विषयाभिसुख कर, मैं अज्ञानी घर नहीं जा सकता ॥७८॥

अहं विशेषं ज्वलितं हुताशनं न चाकृतार्थः प्रविशेयमालयम् ।

इति प्रतिज्ञां स चकार गर्वितो यथेष्टु मुत्थाय च निर्ममो यथौ ॥७९॥

जलती आगमें मैं प्रवेश करूँगा, किन्तु असफल होकर घरमें प्रवेश नहीं करूँगा ।” अभिमानपूर्वक उसने यह प्रतिज्ञा की और इच्छानुसार उठकर वह निर्मम चला गया ॥७९॥

ततः सवाष्णौ सचिवद्विजावुभौ निशम्य तस्य स्थिरमेव निश्चयम् ।

विषण्णवक्त्रावनुगम्य दुःखितौ शनैरगत्या पुरमेव जग्मतुः ॥८०॥

तब उसका स्थिर निश्चय सुनकर, रोते हुए मंत्री और विप्र विषण्ण-सुख व दुःखी होकर पीछे-पीछे गये, तब उपायके अभावमें वे धीरे-धीरे नगरकी ही ओर चले ॥८०॥

तत्स्नेहादथ नृपतेश्च भक्तिस्तौ सापेक्षं प्रतिययतुश्च तस्थतुश्च ।

दुर्धर्षं रावमिति दीसमात्मभासा तं द्रष्टुं न हि पथि शेकतुर्न मोक्षम् ॥८१॥

तब उसके स्नेहसे और राजाकी भक्तिसे वे दोनों उत्कण्ठित होकर लौटे और ठहर गये। आत्मतेजसे चमकते सूर्यके समान उस दुर्धर्षको रास्तेमें वे न देख सकते थे, न छोड़ सकते थे ॥८१॥

तौ ज्ञातुं परमगतेर्गतिं तु तस्य
प्रच्छन्नांश्चरपुरुषाङ्गुचीन्विधाय ।

राजानं प्रियसुतलालसं तु गत्वा
द्रक्ष्यावः कथमिति जग्मतुः कथंचित् ॥८२॥

इति बुद्धचरिते महाकाव्ये कुमारान्वेषणो नाम नवमः सर्गः ।

उस परमगतिकी गति जाननेके लिए उन्होंने पवित्र गुप्तचर रक्खे और “प्रिय पुत्रके लिए उत्सुक राजाको जाकर कैसे देखेंगे”, यह सोचते हुए वे किसी-किसी तरह गये ॥८२॥

बुद्धचरित महाकाव्यका “कुमार-अन्वेषण” नामक
नवम सर्ग समाप्त ।

दशम सर्ग

विम्बसारका आगमन

स राजवत्सः पृथुपीनवक्षास्तौ हव्यमन्नाधिकृतौ विहाय ।
उत्तीर्णं गङ्गां प्रचलन्तरङ्गां श्रीमद्गृहं राजगृहं जगाम ॥ १ ॥

हवन और मंत्रणाके उन अधिकारियोंको छोड़कर, चौड़ी व मोटी छाती-वाला वह राज-कुमार चब्बल तरंगोंवाली गंगाको पारकर, श्रीसम्पन्न गृहोंसे युक्त राजगृहको गया ॥ १ ॥

शैलैः सुगुर्तं च विभूषितं च धृतं च पूतं च शिवैस्तपोदैः ।
पञ्चाचलाङ्कं नगरं प्रपेदे शान्तः स्वर्यंभूरिव नाकपृष्ठम् ॥ २ ॥

पर्वतोंसे सुरक्षित व विभूषित तथा कल्याण-कारी तपोदों (=गर्म जलके झरनों) से धारण और पवित्र किये गये नगर में, जो पाँच पहाड़ोंसे चिह्नित है, उसने शान्त होकर प्रवेश किया, जैसे स्वर्गमें स्वर्यंभू (प्रवेश कर रहा हो) ॥ २ ॥
गाम्भीर्यमोजश्च निशाम्य तस्य वपुश्च दीर्तं पुरुषानतीत्य ।
विसिसिये तत्र जनस्तदार्नीं स्थाणुव्रतस्येव वृषध्वजस्य ॥ ३ ॥

कठोर-ब्रत धारी शिवका-सा उसका गाम्भीर्य, ओज तथा असाधारण दीप्त रूप देखकर लोग उस समय वहाँ विस्मित हुए ॥ ३ ॥
तं प्रेक्ष्य योऽन्येन ययौ स तस्यौ यस्तत्र तस्यौ पथि सोऽन्वगच्छत् ।
द्रुतं ययौ यः स जगाम धीरं यः कश्चिदास्ते स्म स चोत्पात ॥ ४ ॥

उसे देखकर, जो दूसरी ओर जा रहा था वह ठहर गया, जो वहाँ रास्तेमें ठहरा हुआ था वह पीछे-पीछे गया, जो धीरे-धीरे जा रहा था वह शीघ्रता से गया, जो कोई बैठा हुआ था वह उछल पड़ा ॥ ४ ॥

कश्चित्तमानर्च जनः कराभ्यां सत्कृत्य कश्चिच्छिरसा ववन्दे ।
स्त्रिग्नेन कश्चिद्वचसाभ्यन्दन्नैनं जगामाप्रतिपूज्य कश्चित् ॥ ५ ॥

किसीने हाथ जोड़कर उसकी पूजा की, किसीने शिरसे प्रणाम कर

सत्कार किया, किसीने स्नेह-भरे वचनसे अभिनन्दन किया, उसकी पूजा किये विना कोई नहीं गया ॥ ५ ॥

**तं जिह्वियुः प्रेक्ष्य विचित्रवेषाः प्रकीर्णवाचः पथि मौनमीयुः ।
धर्मस्य साक्षादिव संनिकर्षे न कश्चिदन्यायमतिर्बभूव ॥ ६ ॥**

उसे देखकर विचित्र वेषबाले लज्जित हुए, रास्ते में बहुत बोलनेवाले चुप हो गये । साक्षात् धर्मके समान उसके समीप किसीकी अन्यायबुद्धि नहीं हुई ॥ ६ ॥

अन्यक्रियाणामपि राजमार्गे रुग्णां नुणां वा बहुमानपूर्वम् ।

तं देवकर्त्पं नरदेवसूनुं निरीक्षमाणा न तर्तप दृष्टिः ॥ ७ ॥

राज-मार्गमें अन्य कार्योंमें व्यस्त रहनेपर भी स्त्रियों या पुरुषोंकी दृष्टि उस देव-तुल्य राज-कुमारको अति सम्मानपूर्वक देखती हुई रुत नहीं हुई ॥ ७ ॥

भ्रुवौ ललाटं मुखमीक्षणे वा वपुः करौ वा चरणौ गतिं वा ।

यदेव यस्तस्य ददर्श तत्र तदेव तस्याथ बबन्ध चक्षुः ॥ ८ ॥

उसकी भौंहें, ललाट, मुख, आँखें, आकृति, हाथ, पाँव या गति जिसे ही जिसने देखा उसीमें उसकी आँखें बँध गईं ॥ ८ ॥

दृष्टा च सोर्णभ्रुवमायताक्षं ज्वलच्छरीरं शुभजालहस्तम् ।

तं भिक्षुवेषं क्षितिपालनाहं संचुक्षुमे राजगृहस्य लक्ष्मीः ॥ ९ ॥

उसकी भौंहें लोमश थीं, आँखें लम्बी थीं, शरीर जल रहा था, हाथोंमें शुभसूचक (रेखा-) जाल थे, वह भिक्षु-वेषमें था, किन्तु पृथ्वी-पालनके योग्य था; उसे देखकर राजगृहकी लक्ष्मी संक्षुब्ध हुई ॥ ९ ॥

श्रेष्ठोऽथ भर्ता मगधाजिरस्य बाह्याद्विमानाद्विपुलं जनौघम् ।

ददर्श प्रच्छ च तस्य हेतुं ततस्तमस्मै पुरुषः शाशंस ॥ १० ॥

तब मगध-देशके स्वामी श्रेष्ठ (विम्बसार) ने बाहरी महलसे विशाल जन-समूहको देखा और उसका कारण पूछा । तब किसी राजपुरुषने उसे कहा:— ॥ १० ॥

ज्ञानं परं वा पृथिवीश्चियं वा विग्रैर्य उक्तोऽधिगमिष्यतीति ।

स पष शाक्याधिपतेस्तनूजो निरीक्ष्यते प्रव्रजितो जनेन ॥ ११ ॥

“शाक्य-राजका वह यही पुत्र है, जो विप्रोंके कथनानुसार परम ज्ञान

या पृथ्वीकी लक्ष्मी प्राप्त करेगा। उसने प्रत्रज्या ली है, लोग उसे देख रहे हैं” ॥ ११ ॥

ततः श्रुतार्थो मनसागतास्थो राजा बभाषे पुरुषं तमेव।
विज्ञायतां क प्रतिगच्छतीति तथेत्यथैनं पुरुषोऽन्वगच्छत् ॥ १२ ॥

तब कारण जानकर राजाके मनमें आदर हुआ, उसने उसी राजपुरुष-से कहा—“मालूम करो कि वह कहाँ जा रहा है।” “बहुत अच्छा” कहकर वह उसके पीछे-पीछे गया ॥ १२ ॥

अलोलचक्षुर्युगमात्रदर्शी निवृत्तवाग्यन्त्रितमन्दगामी।

चचार भिक्षां स तु भिक्षुवर्यो निधाय गात्राणि चलं च चेतः ॥ १३ ॥

उसकी आँखें स्थिर थीं, वह जुएकी दूरीतक ही देखता था, वाणी बन्द थी, चाल मन्द व नियन्त्रित थी, गात्र व चञ्चल चित्तको वशमें करके वह भिक्षु-श्रेष्ठ भिक्षा माँग रहा था ॥ १३ ॥

आदाय भैक्षं च यथोपवनं ययौ गिरेः प्रस्त्रवणं विविक्तम्।

न्यायेन तत्राभ्यवहृत्य चैनन्महीधरं पाण्डवमारुरोह ॥ १४ ॥

जो कुछ मिली भिक्षा को लेकर, वह पर्वत के एकान्त झरनेकी ओर गया। वहाँ उसे उचित रीतिसे खाकर, वह पाण्डव-पर्वतपर चढ़ गया ॥ १४ ॥

तस्मिन्नवौ लोध्रवनोपगृहे मयूरनादप्रतिपूर्णकुञ्जे ।

काषायधासाः स बभौ नृसूर्यो यथोदयस्योपरि बालसूर्यः ॥ १५ ॥

लोध्र-वनसे युक्त उस पर्वतपर, जिसके कुञ्ज मोरोंकी ध्वनिसे भर रहे थे, काषाय-वस्त्र-धारी वह नर-सूर्य इस प्रकार शोभित हुआ, जैसे उदयाचलपर बाल-सूर्य ॥ १५ ॥

तचैनमालोक्य स राजभृत्यः श्रेष्ठाय राजे कथयांचकार।

संश्रुत्य राजा स च बाहुमान्यात्तत्र प्रतस्थे निभृतानुयात्रः ॥ १६ ॥

वहाँ उसे देखकर उस राजपुरुषने राजा श्रेष्ठसे यह सब निवेदन किया। यह सुनकर अति सम्मानके कारण विनीत अनुचरोंके साथ वह राजा वहाँ चला ॥ १६ ॥

स पाण्डवं पाण्डवतुल्यवीर्यः शैलोक्तमं शैलसमानवर्षम्।

मौलीधरः सिंहगतिर्नृसिंहश्वलत्सटः सिंह इवारुरोह ॥ १७ ॥

पाण्डवोंके समान उसकी वीरता थी, पर्वतके समान उसका शरीर था, वह पाण्डव नामक उत्तम पर्वतपर चढ़ा; वह नर-सिंह, जो मुकुट पहने हुए था और जिसकी चाल सिंहकी-सी थी, उस सिंहके समान था जिसके केसर हिल रहे हों ॥ १७ ॥

**ततः स्म तस्योपरि श्रङ्गभूतं शान्तेन्द्रियं पश्यति बोधिसत्त्वम् ।
पर्यङ्गमास्थाय विरोचमानं शशाङ्गमुद्यन्तमिवाध्रुकुञ्जात् ॥१८॥**

तब उस (पर्वत) के ऊपर शिखर-सदृश बोधिसत्त्वको देखा, जिसके इन्द्रिय शान्त थे; पर्यङ्ग आसनमें बैठा हुआ वह, मेघ-कुञ्जसे उगते चाँदके समान चमक रहा था ॥ १८ ॥

**तं रूपलक्ष्मया च शमेन चैव धर्मस्य निर्माणमिवोपविष्टम् ।
सविस्मयः प्रश्रयवान्नरेन्द्रः स्वयंभुवं शक्र इवोपतस्थे ॥१९॥**

रूप-सम्पत्ति व शान्तिसे जान पड़ता था जैसे धर्मका बनाया हुआ कोई बैठा हो; विस्मय और विनयपूर्वक राजा उसके समीप उपस्थित हुआ, जैसे स्वयंभूके समीप इन्द्र (उपस्थित हो रहा हो) ॥ १९ ॥

**तं न्यायतो न्यायविदां वरिष्ठं समेत्य प्रपञ्चु च धातुसाम्यम् ।
स चाप्यवोचत्सदृशेन साम्ना नृपं मनःस्वास्थ्यमनामयं च ॥२०॥**

औचित्य जाननेवालोंमें वह श्रेष्ठ था, उसके समीप उचित रीतिसे जाकर उसका धातु-साम्य (= स्वास्थ्य) पूछा। उसने भी योग्य नम्रतापूर्वक राजासे मानसिक स्वास्थ्य और (शारीरिक) आरोग्य कहे ॥ २० ॥

**ततः शुचौ वारणकर्णनीले शिलातले संनिषसाद् राजा ।
उपोपविश्यानुमतश्च तस्य भावं विजिश्वासुरिदं वभाषे ॥२१॥**

तब स्वच्छ शिला-तलपर, जो हाथीके कानके समान नीला था, राजा बैठ गया। समीपमें बैठकर और अनुमति पाकर उसका भाव जाननेकी इच्छासे यों कहा:— ॥ २१ ॥

**प्रीतिः परा मे भवतः कुलेन क्रमागता चैव परीक्षिता च ।
जाता विवक्षा स्ववयो यतो मे तस्मादिदं स्नेहवचो निवोध ॥२२॥**

“आपके कुलसे मेरी बड़ी प्रीति है, वह परम्परागत है और परीक्षित है; अतः, है मित्र, मुझे कुछ कहनेकी इच्छा हुई है। इसलिए यह स्नेह-वचन सुनिये:— ॥ २२ ॥

आदित्यपूर्वे विपुलं कुलं ते नवं वयो दीप्तमिदं वपुश्च ।
कस्मादियं ते मतिरक्षमेण भैक्षाकं एवाभिरता न राज्ये ॥२३॥

आपका कुल महान् है, सूर्यसे उत्पन्न हुआ है, आपकी अवस्था नई है और यह दीप्त रूप है। किस कारण क्रम तोड़कर आपकी बुद्धि भिक्षावृत्तिमें रत है, राज्यमें नहीं ? ॥२३॥

गात्रं हि ते लोहितचन्दनाहं काषायसंश्लेषमनर्हमेतत् ।
हस्तः प्रजापालनयोग्य एष भोक्तुं न चार्हः परदत्तमन्नम् ॥२४॥

आपका शरीर लाल चन्दनके योग्य है, काषाय-स्पर्शके योग्य यह नहीं। यह हाथ प्रजा-पालनके योग्य है, दूसरोंका दिया अब खाने योग्य नहीं ॥२४॥ तत्सौम्य राज्यं यदि पैतृकं त्वं स्नेहात्पितुर्नेच्छसि विक्रमेण ।
न च क्रमं मर्षयितुं मतिस्ते भुद्ध्वार्धमस्मद्विषयस्य शीघ्रम् ॥२५॥

इसलिए, हे सौम्य, यदि आप स्नेह-वश पितासे पैतृक राज्य पराक्रमपूर्वक नहीं (लेना) चाहते हैं और यदि क्रमको सहनेका (= क्रमसे राज्य प्राप्ति तक ठहरनेका) विचार आपका नहीं है, तो शीघ्र ही मेरे आधे राज्यका आप पालन करें ॥२५॥

एवं हि न स्यात्स्वजनावमर्दः कालक्रमेणापि शमश्रया श्रीः ।
तस्मात्कुरुष्व प्रणयं मयि त्वं सद्ग्निः सहीया हि सतां समृद्धिः ॥२६॥

इस प्रकार स्वजनका उत्पीड़न नहीं होगा, काल-क्रमसे शान्तिमें रहनेवाली सम्पत्ति भी मिलेगी। इसलिए आप मुझसे प्रीति करें, क्योंकि सज्जनोंकी संगतिसे सज्जनोंकी समृद्धि होती है ॥२६॥

अथ त्विदार्नीं कुलगर्वितत्वादस्मासु विश्रमभगुणो न तेऽस्ति ।
व्यूढान्यनीकानि विगाह्य बाणैर्मया सहायेन परान् जिगीष ॥२७॥

यदि इस समय कुलके गर्वके कारण हमारे ऊपर आपका विश्वास नहीं है, तो मुझ सहायकके साथ बाणोंसे सैन्य-समूहोंमें प्रवेश कर शत्रुओंको जीतिये ॥२७॥

तद्बुद्धिमत्रान्यतरां वृणीष्व धर्मार्थकामान्विधिवद्वजस्व ।
व्यत्यस्य रागादिहं हि त्रिवर्गं प्रेत्येह च भ्रंशमवाप्नुवन्ति ॥२८॥

इसलिए दोमेंसे एक विचार स्वीकार कीजिये। धर्म, अर्थ और कामका

विविवत् सेवन कीजिए, क्योंकि राग-वश यहाँ त्रिवर्गका उलट-पुलट होनेसे लोग यहाँ और परलोकमें भी झष्ट होते हैं ॥२८॥

यो ह्यर्थधर्मौ परिपीड्य कामः स्याद्वर्मकामौ परिभूय चार्थः ।
कामार्थयोश्चोपरमेण धर्मस्त्याज्यः स कृत्स्नो यदि काङ्क्षितोऽर्थः ॥२९॥

अर्थ व धर्मको परिपीड़ित कर जो काम होगा, धर्म व कामको दबाकर जो अर्थ होगा और काम व अर्थके विनाशसे जो धर्म होगा उसे छोड़िये, यदि आप सम्पूर्ण लक्ष्य (की सिद्धि) चाहते हैं ॥२९॥

तस्मात्त्रिवर्गस्य निषेवणेन त्वं रूपमेतत्सफलं कुरुत्व ।
धर्मार्थकामाधिगमं ह्यनूनं नृणामनूनं पुरुषार्थमाहुः ॥३०॥

इसलिए त्रिवर्गके सेवनसे आप इस रूपको सफल कीजिए; क्योंकि कहते हैं कि धर्म, अर्थ व काम की सम्पूर्ण प्राप्ति ही मनुष्यों का सम्पूर्ण पुरुषार्थ है ॥३०॥

तत्त्विष्फलौ नार्हसि कर्तुमेतौ पीनौ भुजौ चापविकर्षणाहौ ।
मान्धातुवज्जेतुमिमौ हि योग्यौ लोकानपि त्रीनिह किं पुनर्गाम् ॥३१॥

इसलिए धनुष खींचने योग्य इन मोटी भुजाओंको आपको निष्फल नहीं करना चाहिए; क्योंकि मान्धाताके समान ये तीनों लोक जीतने योग्य हैं, फिर इस पृथिवीका क्या कहना ॥३१॥

स्नेहेन खल्वेतदहं ब्रवीमि नैश्वर्यरागेन न विस्मयेन ।
इमं हि दृष्ट्वा तत्र भिक्षुवेषं जातानुकम्पोऽस्मयपि चागताश्रुः ॥३२॥

स्नेहसे मैं यह कह रहा हूँ, देश्वर्यके अनुरागसे नहीं, विस्मय (औद्धत्य ?) से नहीं । आपका यह भिक्षु-वेष देखकर मुझे अनुकम्पा हो गई है, और आँसू आ गये हैं ॥३२॥

यावत्स्ववंशप्रतिरूप रूपं न ते जराभ्येत्यभिभूय भूयः ।
तद्गुड्क्षव भिक्षाश्रमकाम कामान् कालेऽसि कर्ता प्रियधर्मं धर्मम् ॥३३॥

हे स्व-वंश-प्रतिब्रिम्ब, जबतक आपके रूपको दबाकर बुढ़ापा फिर नहीं आता, तबतक, हे भिक्षु-आश्रमके इच्छुक, कामोपभोग कीजिए । हे प्रियधर्मी, समवधर धर्म कीजिएगा ॥३३॥

शक्नोति जीर्णः खलु धर्ममाप्तुं कामोपभोगेष्वगतिर्जरायाः ।

अतश्च यूनः कथयन्ति कामान्मध्यस्य वित्तं स्थविराय धर्मम् ॥३४॥

बृद्ध धर्म प्राप्त कर सकता है, कामोपभोगमें बुढ़ापेकी गति नहीं है। और इस कारण युवकके लिए काम, मध्यके लिए वित्त, और बूढ़ेके लिए धर्म बताते हैं ॥३४॥

धर्मस्य चार्थस्य च जीवलोके प्रत्यर्थिभूतानि हि यौवनानि ।

संरक्ष्यमाणान्यपि दुर्ग्रहाणि कामा यतस्तेन पथा हरन्ति ॥३५॥

जीव-लोकमें धर्म और अर्थका शत्रु यौवन है। यत्न करनेपर भी उसे पकड़ रखना कठिन है; क्योंकि काम अपने मार्गसे उसे ले जाते हैं ॥३५॥

वयांसि जीर्णानि विमर्शवन्ति धीराण्यवस्थानपरायणानि ।

अव्यपेन यत्नेन शमात्मकानि भवन्त्यगत्यैव च लज्जया च ॥३६॥

बृद्धावस्था विचारती, धीर और स्थिरता-परायण होती है। उपायहीनता और लज्जाके कारण अव्यपेन यत्नसे ही उसमें शान्ति मिलती है ॥३६॥

अतश्च लोलं विषयप्रधानं प्रमत्तमश्वान्तमदीर्घदर्शि ।

वहुच्छलं यौवनमभ्यतीत्य निस्तीर्य कान्तारमिवाश्वसन्ति ॥३७॥

अतः चञ्चल, विषय-प्रधान, प्रमत्त (= प्रमादपूर्ण) असहनशील, अदीर्घ-दर्शी और अनेक छलोंसे युक्त यौवनको विताकर लोग वैसे ही आश्रस्त होते हैं, जैसे जंगलको पार कर ॥३७॥

तस्मादधीरं चपलप्रमादि नवं वयस्तावदिदं दयपैतु ।

कामस्य पूर्वं हि वयः शरव्यं न शक्यते रक्षितुमिन्द्रियेभ्यः ॥३८॥

इसलिए अधीर, चपल और प्रमादपूर्ण यह नई वयस तबतक बीते; क्योंकि कामदेवका लक्ष्य नई जवानी है, जिसकी इन्द्रियोंसे रक्षा नहीं की जा सकती ॥३८॥

अथो चिकीर्षा तव धर्मे एव यजस्व यज्ञं कुलधर्मे एषः ।

यज्ञैरधिष्ठाय हि नागपृष्ठं ययौ मस्त्वानपि नाकपृष्ठम् ॥३९॥

३९—“नाक” की जगह “नाग” रक्खा गया है। नमुचिके वधके बाद, यज्ञद्वारा ब्रह्म-हत्याके पापसे मुक्त होकर, इन्द्र स्वर्गको लौटा था।

यदि आपकी इच्छा धर्म करना ही है, तो यज्ञ कीजिए, यह आपका कुल-धर्म है। यज्ञों द्वारा हाथीकी पीठपर चढ़कर इन्द्र भी स्वर्गको गया था ॥२९॥
सुवर्णकेयूरविदष्टवाहवो मणिप्रदीपोज्ज्वलचित्रमौलयः ।
नृपर्षयस्तां हि गतिं गता मस्यैः श्रमेण यामेव महर्षयो ययुः ॥४०॥

राजषिं-गण, जिनकी मुजाँ सुवर्ण-केयूरोंसे बँधी थीं और जिनके रंग-विरगे मुकुट मणि-प्रदीपोंसे उज्ज्वल थे, यज्ञों द्वारा उस गतिको प्राप्त हुए, जिसको ही महर्षि-गण तपस्या द्वारा प्राप्त हुए ॥४०॥
इत्येवं मगधपतिर्वचो वभाषे यः सम्यग्वलभिदिव ब्रुवन् वभासे ।
तच्छ्रुत्वा न स विचचाल राजसूनुः कैलासो गिरिरिव नैकचित्रसानुः ॥४१॥

इति बुद्धचरिते महाकाव्येऽश्वघोषकृते श्रेष्ठाभिगमनो नाम दशमः सर्गः

इस प्रकार मगध-राजने वह वचन कहा । वह ठीक-ठीक बोलनेमें इन्द्रके समान शोभित हुआ । यह सुनकर वह राज-पुत्र विचलित नहीं हुआ, जैसे अनेक रंग-विरंगी चोटियोंसे युक्त कैलास पर्वत (विचलित नहीं होता है) ॥४१॥

अश्वघोष-कृत बुद्धचरित महाकाव्यका “विम्बसारका आगमन”

नामक दशम सर्ग समाप्त ।

एकादश सर्ग

काम-निन्दा

अथैवमुक्तो मगधाधिपेन सुहन्मुखेन प्रतिकूलमर्थम् ।
स्वस्थोऽविकारः कुलशौचशुद्धः शौद्धोदनिर्वाक्यमिदं जगाद् ॥ १ ॥

तब मगध-राजके द्वारा अपने मित्र-मुखसे इस तरह प्रतिकूल बात कही जानेपर, अपने कुलकी पवित्रतासे पवित्र शौद्धोदनि (= शूद्धोदनके पुत्र)ने शान्ति और धैर्यपूर्वक यह बचन कहा:— ॥ १ ॥

नाश्र्यमेतद्वतोऽभिधातुं जातस्य हर्यङ्ककुले विशाले ।
यन्मित्रपक्षे तव मित्रकाम स्याद्वृत्तिरेषा परिशुद्धवृत्तेः ॥ २ ॥

“आप विशाल हर्यङ्क-कुलमें पैदा हुए हैं, अतः आपके लिए ऐसा कहना आश्र्यजनक नहीं; हे मित्रेच्छु, मित्रोंके प्रति आप शुद्धाचारका यह व्यवहार आश्र्यजनक नहीं ॥ २ ॥

असत्तु मैत्री स्वकुलानुवृत्ता न तिष्ठति श्रीरिव विकलवेषु ।
पूर्वैः कृतां प्रीतिपरंपराभिस्तामेव सन्तस्तु विवर्धयन्ति ॥ ३ ॥

अपने कुलमें (पूर्वजों द्वारा) पालित मैत्री असज्जनोंके पास नहीं रहती, जैसे (अपने कुलमें पालित) लक्ष्मी विहळोंके पास नहीं रहती; किन्तु सज्जन पूर्वजों द्वारा की गई उसी (मैत्री)को प्रीतिपरम्परासे बढ़ाते हैं ॥ ३ ॥
ये चार्थकुच्छेषु भवन्ति लोके समानकार्याः सुहृदां मनुष्याः ।
मित्राणि तानीति परैमि बुद्ध्या स्वस्थस्य वृद्धिविह को हि न स्यात् ॥ ४ ॥

धन कम होनेपर संसारमें जो मनुष्य मित्रोंके काममें हाथ बँटाते हैं, अपनी बुद्धिसे मैं उन्हींको मित्र समझता हूँ; क्योंकि जो स्वस्थ है (= अच्छी अवस्था है) उसकी बढ़तीमें कौन (साथ) नहीं रहेगा ? ॥ ४ ॥

२—हर्यङ्क = उस कुलके किसी राजाका नाम, या वह कुल जिसका चिह्न सिंह है ।

एवं च ये द्रव्यमवाप्य लोके मित्रेषु धर्मे च नियोजयन्ति ।
अवाप्तसाराणि धनानि तेषां भ्रष्टानि नान्ते जनयन्ति तापम् ॥ ५ ॥

इस प्रकार संसारमें धन पाकर जो लोग मित्रों और धर्ममें लगाते हैं, उनके धन सारवान् हैं, नष्ट होनेपर अन्तमें वे (धन) ताप नहीं पैदा करते ॥ ५ ॥
सुहृत्या चार्यतया च राजन् खल्वेष यो मां प्रति निश्चयस्ते ।
अत्रानुनेष्यामि सुहृत्यैव ब्रूयामहं नोत्तरमन्यदत्र ॥ ६ ॥

मित्रता और आर्यता (सजनता, उदारता) से, हे राजन्, मेरे प्रति आपका जो यह निश्चय हुआ है, इसमें मित्रतासे ही अनुनय करूँगा, इसमें दूसरा उत्तर नहीं दूँगा ॥ ६ ॥

अहं जरामृत्युभयं विदित्वा मुमुक्षया धर्ममिमं प्रपन्नः ।
वन्धून् प्रियानश्रुमुखान्विहाय प्रागेव कामानशुभस्य हेतून् ॥ ७ ॥

जरा व मृत्युका भय जानकर मोक्षकी इच्छासे मैं इस धर्मकी शरणमें, अश्रु-मुख प्रिय बन्धुओंको छोड़कर, अशुभके कारण-स्वरूप कामको तो पहले ही (छोड़कर), आया हूँ ॥ ७ ॥

नाशीविषेभ्यो हि तथा विभेमि नैवाशनिभ्यो गगनाच्चयुतेभ्यः ।
न पावकेभ्योऽनिलसंहितेभ्यो यथा भयं मे विषयेभ्य एव ॥ ८ ॥

सर्पोंसे मैं उतना नहीं डरता, न आकाशसे गिरे बज्रोंसे, न हवासे मिली आगसे, जितना कि विषयोंसे डरता हूँ ॥ ८ ॥

कामा ह्यनित्याः कुशलार्थचौरा रिक्ताश्च मायासद्वशाश्च लोके ।

आशास्यमाना अपि मोहयन्ति चित्तं नृणां किं पुनरात्मसंस्थाः ॥ ९ ॥

काम अनित्य हैं, कुशलरूप धनके चौर हैं, खाली हैं और संसारमें माया के समान हैं। उनकी चिन्ता करनेपर भी वे मनुष्योंके चित्त मूँढ़ करते हैं, किर अपनेमें उनके स्थित रहनेपर क्या कहना ? ॥ ९ ॥

कामाभिभूता हि न यान्ति शर्मं त्रिपिष्ठपे किं वत मर्त्यलोके ।
कामैः सतुष्णस्य हि नास्ति तृसिर्यथेन्धनैर्वात्सखस्य वदेः ॥ १० ॥

जो कामसे अभिभूत हैं वे, मर्त्य-लोकमें क्या, स्वर्गमें भी शान्ति नहीं पाते ।
तृष्णवान् को कामसे तृप्ति नहीं होती, जैसे हवाका साथ पाकर आगको इन्धनसे (तृप्ति नहीं होती) ॥ १० ॥

अगत्यनर्थो न समोऽस्ति कामैर्मोहाच्च तेष्वेव जनः प्रसक्तः ।

तत्त्वं विदितवैवमनर्थभीरुः प्राह्णः स्वयं कोऽभिलषेदनर्थम् ॥११॥

जगत्मै काम (= विषय)के समान अनर्थ (बुराई, विपत्ति) नहीं और मोहसे आदमी उसीमें आसक्त होता है । तत्त्वको जानव अनर्थसे डरनेवाला कौन बुद्धिमान् स्वयं अनर्थकी अभिलाषा करे ? ॥११॥

समुद्रवस्थामपि गामवाप्य पारं जिगीषन्ति महार्णवस्य ।

लोकस्य कामैर्न वितृप्तिरस्ति पतञ्ज्ञिरम्भोभिरिवार्णवस्य ॥१२॥

समुद्र-वसना पृथिवीको भी पाकर लोग महासागरके पार जीतनेकी इच्छा करते हैं । संसारको काम (- उपमोग)से तृप्ति नहीं होती, जैसे गिरती जल रात्रिसे महासागरकी (तृप्ति नहीं होती) ॥१२॥

देवेन ब्रुण्डेऽपि हिरण्यवर्णे द्वीपान्समग्रांश्चतुरोऽपि जित्वा ।

शक्तस्य चार्धासनमप्यवाप्य मान्धातुरासीद्विषयेष्वतृप्तिः ॥१३॥

देव द्वारा सुवर्ण-बृष्टि की जानेपर भी, चारों समग्र द्वीपोंको जीतकर भी और इन्द्रका आधा आसन पाकर भी, मान्धाताको विषयोंमें तृप्ति नहीं हुई ॥१३॥

भुक्त्वापि राज्यं दिवि देवतानां शतक्रतौ बृत्रभयात्प्रनष्टे ।

दर्पान्महर्षीनपि वाहयित्वा कामेष्वतृप्तो नहुषः पपात ॥१४॥

बृत्रके भयसे इन्द्रके छिपनेपर, स्वर्गमें देवताओंका राज्य भोगकर भी, दर्पसे महर्षियोंद्वारा भी (अपनेको) वहन कराकर, नहुष (स्वर्गसे) गिर पड़ा, विषयोंमें अतृप्त ही रहा ॥ १४ ॥

ऐडश्च राजा त्रिदिवं विगाहा नीत्वापि देवीं वशमुर्वशीं ताम् ।

लोभाद्विभ्यः कनकं जिह्वार्षुर्जगाम नाशं विषयेष्वतृप्तः ॥१५॥

और, राजा ऐड (इडाका पुत्र पुरुरवा) स्वर्गमें प्रवेशकर, उस देवी उर्वशी-को वशमें लाकर भी, लोभवश ऋषियोंसे सुवर्ण हरण करनेकी इच्छासे नाशको प्राप्त हुआ, विषयोंमें अतृप्त ही रहा ॥ १५ ॥

बलेर्महेन्द्रं नहुषं महेन्द्रादिन्द्रं पुनर्ये नहुषादुपेयुः ।

स्वर्मेण क्षितौ वा विषयेषु तेषु को विश्वसेद्वायकुलाकुलेषु ॥१६॥

जो विषय बलिसे महेन्द्रके पास, महेन्द्रसे नहुषके पास, फिर नहुषसे (महा-

इन्द्रके पास गये, भाग्यसे परेशान रहनेवाले उन विषयोंमें, स्वर्गमें या पृथिवीपर, कौन विश्वास करे ? ॥ १६ ॥

चीराम्बरा मूलफलाम्बुभक्षा जटा वहन्तोऽपि भुजङ्गदीर्घाः ।
यैर्नान्यकार्यं मुनयोऽपि भग्नाः कः कामसंश्वान्मृगयेत शत्रून् ॥१७॥

बल्कल-वस्त्र पहननेवाले, जल-फल-मूल भक्षण करनेवाले, सौंपके समान लम्बी जटा धारण करनेवाले मुनि लोग भी, जिन्हें (तप आदिके अतिरिक्त) दूसरा काम नहीं था, जिनके द्वारा भग्न किए गये, उन कामसंशक शत्रुओंकी कौन खोज करे ? ॥ १७ ॥

उग्रायुधश्चोग्धृतायुधोऽपि येषां कृते मृत्युमवाप भीष्मात् ।
चिन्तापि तेषामशिवा वधाय सद्वृत्तिनां किं पुनरव्रतानाम् ॥१८॥

उग्र अस्त्र धारण करनेवाले उग्रायुधने भी जिनके कारण भीष्मसे मौत पाई, उनकी चिन्ता भी अमङ्गलजनक है, और सदाचारियोंके लिये भी घातक है, किर अव्रतियोंका क्या कहना ! ॥ १८ ॥

आस्वादमत्यं विषयेषु मत्वा संयोजनोत्कर्षमत्तिस्मेव ।
सद्भ्यश्च गर्ही नियतं च पापं कः कामसंश्व विषमाददीत ॥१९॥

विषयोंमें स्वाद कम है, बन्धन अधिक है, केवल अतृप्ति है, सज्जनों द्वारा निन्दा होती है, और पाप नियत है—ऐसा समझकर कौन कामनामक विषको ग्रहण करे ? ॥ १९ ॥

कृष्णादिभिः कर्मभिरर्दितानां कामात्मकानां च निशम्य दुःखम् ।
स्वास्थ्यं च कामेष्वकुतृहलानां कामान्विहातुं क्षममात्मवद्धिः ॥२०॥

कृष्ण आदि कर्मोंसे पीड़ित रहनेवालोंका स्वास्थ्य (=सुख, शान्ति, प्रसन्नता) देखकर, आत्मवान् (=संयतात्मा) लोगोंके लिए कामका त्याग करना ही उचित है ॥ २० ॥

ज्ञेया विपत्कामिनि कामसंपत्सद्वेषु कामेषु मदं ह्युपैति ।
मदाद्कार्यं कुरुते न कार्यं येन क्षतो दुर्गतिमभ्युपैति ॥२१॥

कामी व्यक्तिमें कामरूपी सम्पत्तिको विपत्ति ही समझना चाहिए; कर्मोंकि काम सिद्ध होनेपर मद होता है। मदसे मनुष्य अकार्य करता है, कार्य नहीं, जिससे धायल होकर वह दुर्गतिको प्राप्त होता है ॥ २१ ॥

यत्नेन लब्धाः परिरक्षिताश्च ये विप्रलभ्य प्रतियान्ति भूयः ।
तेष्वात्मवान्याचितकोपमेषु कामेषु विद्वानिह को रमेत ॥२२॥

यत्नपूर्वक पाये गये और रखे गये जो (काम) ठगकर फिर चले जाते हैं,
इस संसारमें माँगी हुई वस्तु आँके समान उन कामों (= विषयों)में कौन आत्म-
वान् (= असंयतात्मा) बुद्धिमान रत होगा ? ॥ २२ ॥

अन्विष्य चादाय च जाततर्धा यानत्यजन्तः परियान्ति दुःखम् ।
लोके तृणोल्कासद्वशेषु तेषु कामेषु कस्यात्मवतो रतिः स्यात् ॥२३॥

जिन्हें खोजकर और पाकर तृष्णा होती है, जिन्हें नहीं छोड़नेमें (लोग)
दुःख पाते हैं, संसारमें तृणोंकी उल्काके समान उन कामों (= विषयों)में किस
आत्मवान्को आनन्द होगा ? ॥ २३ ॥

अनात्मवन्तो हृदि यैर्विद्धा विनाशमर्छन्ति न यान्ति शर्म ।
क्रुद्धोग्रसर्पतिमेषु तेषु कामेषु कस्यात्मवतो रतिः स्यात् ॥२४॥

अनात्मवान् (= असंयतात्मा) जिनके द्वारा हृदयमें डँसे जानेपर नष्ट हो
जाते हैं, शान्ति नहीं पाते, क्रुद्ध उग्र सर्पोंके समान उन कामोंमें किस आत्मवान्-
को आनन्द होगा ? ॥ २४ ॥

अस्थि क्षुधार्ता इव सारमेया भुक्त्वापि याच्चैव भवन्ति तृप्ताः ।
जीर्णास्थिकङ्गालसमेषु तेषु कामेषु कस्यात्मवतो रतिः स्यात् ॥२५॥

जैसे हड्डी चबाकर भी भूखे कुच्चे तृप्त नहीं होते हैं वैसे ही जिन्हें भोगकर
भी (लोग) तृप्त नहीं होते हैं, जीर्ण अस्थि-पञ्चर (= पुरानी ठठरी)के समान
उन कामोंमें किस आत्मवान्को आनन्द होगा ? ॥ २५ ॥

ये राजचौरोदकपावकेभ्यः साधारणत्वाज्जन्यन्ति दुःखम् ।
तेषु प्रविद्धामिषसंनिभेषु कामेषु कस्यात्मवतो रतिः स्यात् ॥२६॥

राजा चौर जल व अग्निका समान अधिकार होनेके कारण जो (काम)
दुःख पैदा करते हैं, फेंके हुए मांसके समान उन कामोंमें किस आत्मवान्को
आनन्द होगा ? ॥ २६ ॥

२६, २७—काम = उपभोगकी वस्तुएँ । सोने चाँदीके लाखों-हरोड़ों
सिक्कोंको मैं श्रेष्ठ धन नहीं कहता । उसमें तो भय-ही-भय है—राजाका,

यत्र स्थितानामभितो विपत्तिः शत्रोःसकाशादपि बान्धवेभ्यः ।

हिंसेषु तेष्वायतनोपमेषु कामेषु कस्यात्मवतो रतिः स्यात् ॥२७॥

जहाँ रहनेवालों (जिनमें रमनेवालों) पर चारों ओरसे विपत्ति है, शत्रुके सर्वीपसे, और बन्धुओंके समीपसे, यज्ञशालाओंके समान उन हिसक कामोंमें किस आत्मवान्को आनन्द होगा ? ॥२७॥

गिरौ वने चाप्त्वा च सागरे च यान् भ्रंशमर्ढन्ति विलङ्घमानाः ।

तेषु द्रुमप्राग्रफलोपमेषु कामेषु कस्यात्मवतो रतिः स्यात् ॥२८॥

पर्वतपर, वनमें, जलमें और सागरमें जिन्हें खोजते हुए अष्ट होते हैं, वृक्ष-शिखररक्के फलोंके समान उन कामोंमें किस आत्मवान्को आनन्द होगा ? ॥२८॥

तीव्रैः प्रयत्नैर्विविधैरवासाः क्षणेन ये नाशमिह प्रयान्ति ।

स्वप्नोपभोगप्रतिमेषु तेषु कामेषु कस्यात्मवतो रतिः स्यात् ॥२९॥

विविध तीव्र प्रयत्नोंसे प्रात होकर जो क्षण-भरमें इस संसारमें नष्ट हो जाते हैं, स्वप्न-उपभोगके समान उन कामोंमें किस आत्मवान्को आनन्द होगा ? ॥२९॥

यानर्जयित्वापि न यान्ति शर्म विवर्धयित्वा परिपालयित्वा ।

अङ्गारकर्षूप्रतिमेषु तेषु कामेषु कस्यात्मवतो रतिः स्यात् ॥३०॥

जिन्हें अर्जनकर, बढ़ाकर और पालकर भी (लोग) शान्ति नहीं पाते, अंगारेकी आगके समान उन कामोंमें किस आत्मवान्को आनन्द होगा ? ॥३०॥

विनाशमीयुः कुरवो यदर्थं वृष्ण्यन्धका मेखलदण्डकाश्च ।

सूनासिकाष्टप्रतिमेषु तेषु कामेषु कस्यात्मवतो रतिः स्यात् ॥३१॥

जिनके लिए कौरव वृष्ण्यन्धक व मेखलदण्डक विनाशको प्रात हुए, अग्निका, जलका, चोरका, लुटेरेका और अपने सगे संबन्धियों तकका भय है—बु० वा० ।

३१-३२—जुएके लिए कौरवोंका, मध्यपानके लिए वृष्ण्यन्धकोंका और छीके लिए सुन्द-डपसुन्दका विनाश हुआ ।

वध-स्थलके छुरे व काठके समान उन कामोंमें किस आत्मवान्‌को आनन्द होगा ? ॥३१॥

**सुन्दोपसुन्दावसुरौ यदर्थमन्योन्यवैरप्रसृतौ विनष्टौ ।
सौहार्दविश्लेषकरेषु तेषु कामेषु कस्यात्मवतो रतिः स्यात् ॥३२॥**

जिनके लिए सुन्द और उपसुन्द नामक दो असुर, एक दूसरेके प्रति वैर बढ़नेपर, नष्ट हुए, मैत्री विलगानेवाले उन कामोंमें किस आत्मवान्‌को आनन्द होगा ? ॥३२॥

**येषां कृते वारिणि पावके च क्रव्यात्सु चात्मानमिहोत्सृजन्ति ।
सपद्भूतेष्वशिवेषु तेषु कामेषु कस्यात्मवतो रतिः स्यात् ॥३३॥**

जिनके लिए जलमें, अग्निमें व हिंसक जीवोंके आगे (लोग) अपनेको उत्सर्ग (= समर्पित कर) देते हैं, शत्रु-सदृश व अमङ्गलजनक उन कामोंमें किस आत्मवान्‌को आनन्द होगा ? ॥३३॥

**कामार्थमज्ञः कृपणं करोति प्राप्नोति दुःखं वधवन्धनादि ।
कामार्थमाशाकृपणस्तपस्वी मृत्युं श्रमं चार्छति जीवलोकः ॥३४॥**

काम (= विषय)के लिए अज्ञानी क्षुद्रता करता है और वध-बन्धन आदि दुःख पाता है। तृष्णासे दीन हुआ वेचारा प्राणि-जगत् कामके लिए मौत व थकावट पाता है ॥ ३४ ॥

**गीतैर्हिंयन्ते हि मृगा वधाय रूपार्थमग्नौ शलभाः पतन्ति ।
मतस्यो गिरत्यायसमामिषार्थी तस्मादनर्थं विषयाः फलन्ति ॥३५॥**

गीतोंसे मृग वधके लिए अपहृत होते हैं; रूपके लिए पतंग अग्निमें गिरते हैं; मांस चाहनेवाली मछली लोहेकी केंटिया निगलती है; इसलिए विषयोंका फल विपत्ति है ॥ ३५ ॥

**कामास्तु भोगा इति यन्मतिः स्याद्गोगान केचित्परिगण्यमानाः ।
चक्ष्वादयो द्रव्यगुणा हि लोके दुःखप्रतीकार इति प्रधार्याः ॥३६॥**

काम भोग है, ऐसा जो विचार है सो कोई भी काम भोग नहीं गिने जा सकते; क्योंकि वस्त्र आदि विषय हुःखके प्रतीकार हैं, ऐसा समझना चाहिए ॥३६॥ इष्टं हि तर्षप्रशमाय तोयं क्षुम्भाशहेतोरशनं तथैव ।
वातातपाम्बवरणाय वेशम कौपीनशीतावरणाय वासः ॥३७॥

प्यास मिटानेके लिए पानी इष्ट (= चाहा जाता) है, उसी प्रकार भूख मिटानेके लिए भोजन, हवा धूप व पानीसे बचनेके लिए घर, शीत-निवारण और लंगोटेके लिए वस्त्र ॥ ३७ ॥

**निद्राविद्याताय तथैव शश्या यानं तथाध्वश्रमनाशनाय ।
तथासनं स्थानविनोदनाय स्नानं मृजारोग्यवलाश्याय ॥३८॥**

उसी प्रकार नींद (की बाधा) दूर करनेके लिए शश्या, उसी तरह रास्ते-की थकावट नष्ट करनेके लिए गाढ़ी, उसी तरह खड़ा रहना दूर करनेके लिए आसन और मार्जन आरोग्य व बल प्राप्त करनेके लिए स्नान (इष्ट है) ॥ ३८ ॥ दुःखप्रतीकारनिमित्तभूतास्तस्मात्प्रजानां विषया न भोगाः । अद्वामि भोगानिति कोऽभ्युपेयात्प्राङ्मः प्रतीकारविधौ प्रवृत्तः ॥ ३९ ॥

इसलिए दुःख-प्रतीकारके कारणस्वरूप विषय लोगोंके लिए भोग नहीं हो सकते । (दुःख-) प्रतीकार-विधिमें लगा हुआ कौन बुद्धिमान् यह मानेगा—“मैं भोग कर रहा हूँ” ॥ ३९ ॥

**यः पित्तदाहेन विद्वामानः शीतक्रियां भोग इति व्यवस्थेत् ।
दुःखप्रतीकारविधौ प्रवृत्तः कामेषु कुर्यात्स हि भोगसंज्ञाम् ॥४०॥**

पित्तज्वरसे जलता हुआ जो (आदमी) शीतोपचारको भोग समझेगा, दुःख-प्रतीकार-उपायमें लगा हुआ वही (आदमी) कामों (= विषयों) को भोग समझेगा ॥ ४० ॥

**कामेष्वनैकान्तिकता च यस्मादतोऽपि मे तेषु न भोगसंज्ञा ।
य एव भावा हि सुखं दिशन्ति त एव दुःखं पुनरावहन्ति ॥४१॥**

क्योंकि कामों (= विषयों)में ऐकान्तिकता (= एक अंत) नहीं है, इसलिए भी मैं कामोंको भोग नहीं समझता । जो ही पदार्थ सुख देते हैं, वे ही किरदुःख लाते हैं ॥ ४१ ॥

**गुरुण वासांस्यगुरुणि चैव सुखाय शीते हासुखाय घर्मे ।
चन्द्रांशवश्चन्दनमेव चोष्णे सुखाय दुःखाय भवन्ति शीते ॥४२॥**

क्योंकि, भारी वस्त्र और अगुरुसे जाड़ेमें सुख होता है और गर्मीमें असुख; चन्द्र-किरणों व चन्दनसे गर्मीमें सुख होता है और जाड़ेमें असुख ॥ ४२ ॥

द्रन्दानि सर्वस्य यतः प्रसक्तान्यलाभलाभप्रभृतीनि लोके ।

अतोऽपि नैकान्तसुखोऽस्ति कश्चिन्नैकान्तदुःखः पुरुषः पृथिव्याम् ॥४३॥

क्योंकि संसारमें हानि-लाभ आदि द्रन्द सबमें लगे हुए हैं, इसलिए मी पृथिवीपर कोई पुरुष न तो एकान्त (=केवल) सुखी है और न एकान्त दुःखी ॥ ४३ ॥

दृष्टा विमिश्रां सुखदुःखतां मे राज्यं च दास्यं च मतं समानम् ।

नित्यं हृसत्येव हि नैव राजा न चापि संतप्यत एव दासः ॥४४॥

दुःख व सुखको मिला हुआ देखकर, राज्य व दासत्वको मैं समान मानता हूँ । न तो राजा ही नित्य हँसता है और न दास ही नित्य संतुष्ट होता है ॥४४॥

आज्ञा नृपत्वेऽभ्यधिकेति यत्स्यान्महान्ति दुःखान्यत एव राज्ञः ।

आसङ्गकाष्ठप्रतिमो हि राजा लोकस्य हेतोः परिखेदमेति ॥४५॥

यह कि राजत्वमें आज्ञा अधिक है, इसीलिए तो राजाको बड़े-बड़े दुःख होते हैं । आसङ्ग-काष्ठ (?)के समान राजा संसारके लिए थकता है ॥ ४५ ॥

राज्ये नृपस्त्यागिनि बह्मित्रे विश्वासमागच्छति चेद्विपन्नः ।

अथापि विश्रम्भमुपैति नेह किं नाम सौख्यं चकितस्य राज्ञः ॥४६॥

त्याग करनेवाले (=क्षण-भंगुर) व बहुत शत्रुओंसे भरे राज्यमें यदि (राजा) विश्वास करता है, तो मरता है और यदि उस (राज्य)में विश्वास नहीं करता है, तो भय-भीत रहनेवाले राजाको सुख क्या ? ॥ ४६ ॥

यदा च जित्वापि मर्हीं समग्रां वासाय दृष्टं पुरमेकमेव ।

तत्रापि चैकं भवनं निषेच्यं श्रमः परार्थं ननु राजभावः ॥४७॥

और जब कि सारी पृथकीको जीतकर भी रहनेके लिए वह एक ही नगरको देखता है, और उसमें भी उसे एक ही महलका सेवन करना पड़ता है, तब अवश्य ही राजत्व दूसरोंके लिए (परि-) श्रम (करना) है ॥ ४७ ॥

राज्ञोऽपि वासोयुगमेव क्षुत्संनिरोधाय तथान्नमात्रा ।

शर्व्या तथैकासनमेकमेव शेषा विशेषा नृपतेर्मदाय ॥४८॥

राजाके लिए भी एक ही जोड़ा वस्त्र, उसी तरह क्षुधा-निवृत्तिके लिए कुछ अच, उसी तरह एक शर्व्या और एक ही आसन (आवश्यक है); राजाकी शेष विशेषताएँ तो मद (पैदा करने) के लिए हैं ॥ ४८ ॥

तुष्ट्यर्थमेतत्च फलं यदीष्मृतेऽपि राज्यान्मम तुष्टिरस्ति ।
तुष्टौ च सत्यां पुरुषस्य लोके सर्वे विशेषा ननु निर्विशेषाः ॥४९॥

और यदि संतोषके लिए यह फल इष्ट है, तो राज्यके विना भी मुझे संतोष है। संसारमें मनुष्यको संतोष होनेपर सब विशेषताएँ विशेषतारहित हैं ॥ ४९ ॥
तन्नास्मि कामान् प्रति संप्रतार्यः क्षेमं शिवं मार्गमनुप्रपन्नः ।
स्मृत्वा सुहृत्वं तु पुनः पुनर्मां ब्रूहि प्रतिशां खलु पालयेति ॥५०॥

इसलिए कामोंके प्रति मैं बहकाया नहीं जा सकता; मङ्गलमय व कल्याणकारी मार्गकी शरणमें हूँ । मित्रताको स्मरण कर आप बार-बार मुझसे कहें—“अवश्य प्रतिशां पालन करो” ॥ ५० ॥

न ह्यस्मयमर्थेण वनं प्रविष्टो न शत्रुबाणैरवधूतमौलिः ।
कुतस्पृहो नापि फलाधिकेभ्यो गृह्णामि नैतद्वचनं यतस्ते ॥५१॥

न तो कोधसे मैंने वनमें प्रवेश किया है, और न शत्रुके बाणोंसे मुकुट कॅ पाये जानेपर ही । न तो अधिक फलके लिए अभिलाषा करता हूँ, जिससे आपकी यह बात न मान रहा हूँ ॥ ५१ ॥

यो दन्दशूकं कुपितं भुजङ्गं मुक्त्वा व्यवस्थेद्वि पुनर्ग्रहीतुम् ।
दाहात्मिकां वा ज्वलितां तृणोल्कां संत्यज्य कामान्स पुनर्भर्जेत ॥५२॥

जो छॅसनेवाले कुपित सौंपको, या जलानेवाली जलती उल्काको छोड़कर फिरसे पकड़नेका विचार करे, वही कामोंको छोड़कर फिर उनका सेवन करे ॥ ५२ ॥

अन्धाय यश्च स्पृहयेदनन्धो बद्धाय मुक्तो विधनाय चाढ्यः ।
उन्मत्तचित्ताय च कल्यचित्तः स्पृहां स कुर्याद्विषयात्मकाय ॥५३॥

जो दृष्टिवान् दृष्टिहीन (होनेके) लिए और जो मुक्त (पुरुष) बन्दी (होनेके) लिए, और जो धनी निर्धन (होनेके) लिए और जो स्वत्तचित्त उन्मत्तचित्त (होनेके) लिए अभिलाषा करे, वही विषयी (होनेके) लिए अभिलाषा करे ॥ ५३ ॥

भैक्षोपभोगीति च नानुकम्पयः कृती जरामृतयुभयं तितीर्षुः ।
इहोत्तमं शान्तिसुखं च यस्य परत्र दुःखानि च संवृतानि ॥५४॥

“भिक्षापर रहता है” इसलिए वह बुद्धिमान् अनुकम्पाके योग्य नहीं जो

जरा व मृत्युका भय पार करना चाहता है, जिसको इस संसारमें उत्तम शान्ति-
सुख प्राप्त है और परलोकमें जिसके दुःख नष्ट हैं ॥५४॥

लक्ष्म्यां महत्यामपि वर्तमानस्तुष्णाभिभूतस्त्वनुकम्पितव्यः ।
प्राप्नोति यः शान्तिसुखं न चेह परत्र दुःखैः प्रतिगृह्णते च ॥५५॥

महती लक्ष्मीकी (गोदमें) रहता हुआ भी तृष्णासे अभिभूत पुरुष
अनुकम्पाके योग्य है, जो इस लोकमें शान्ति-सुख नहीं पाता और जो परलोकमें
दुःखोंसे ग्रस्त होता है ॥५५॥

एवं तु वक्तुं भवतोऽनुरूपं सत्त्वस्य वृत्तस्य कुलस्य चैव ।
ममापि वोदुं सदृशं प्रतिज्ञां सत्त्वस्य वृत्तस्य कुलस्य चैव ॥५६॥

ऐसा कहना आपके सत्त्व आचार और कुलके अनुरूप है, मेरे लिए भी
प्रतिज्ञा पालन करना मेरे सत्त्व, आचार और कुलके योग्य है ॥५६॥

अहं हि संसारशरेण विद्धो विनिःसृतः शान्तिमवाप्तुकामः ।
नेच्छेयमाप्तुं त्रिदिवेऽपि राज्यं निरामयं किं बत मानुषेषु ॥५७॥

संसाररूप तीरसे विद्ध होकर शान्ति पानेकी इच्छासे मैं (घरसे) निकला
हूँ, स्वर्गका भी निष्कण्टक राज्य नहीं पाना चाहता हूँ, मर्यालोकका क्या
कहना ? ॥५७॥

त्रिवर्गसेवां नृप यत्तु कृत्स्नतः परो मनुष्यार्थं इति त्वमात्थ माम् ।
अनर्थं इत्येव ममात्र दर्शनं क्षयी त्रिवर्गो हि न चापि तर्पकः ॥५८॥

पूरा-पूरा त्रिवर्ग-सेवन परम पुरुषार्थ है, हे राजन्, यह जो आपने मुझे
कहा, इसमें मैं अनर्थ ही देखता हूँ; क्योंकि त्रिवर्ग नाशवान् है और त्रुषि-
दायक भी नहीं है ॥५८॥

पदे तु यस्मिन्नं जरा न भीर्न रुडे न जन्म नैवोपरमो न चाधयः ।
तमेव मन्ये पुरुषार्थमुक्तमं न विद्यते यत्र पुनः पुनः क्रिया ॥५९॥

जिसमें न जरा है, न भय, न रोग, न जन्म, न मृत्यु, और न आधि,
उसी पदको मैं उत्तम पुरुषार्थ मानता हूँ जिसमें बार-बार कर्म नहीं करना
पड़ता है ॥५९॥

यदप्यवोचः परिपाल्यतां जरा नवं वयो गच्छति विक्रियामिति ।
अनिश्चयोऽयं बहुशो हि दृश्यते जराप्यधीरा धृतिमञ्च यौवनम् ॥६०॥

यह जो कहा कि जराकी प्रतीक्षा करो, नई वयसमें विकार होता है, यह निश्चित नहीं है; क्योंकि बहुधा देखा जाता है कि बुद्धापेमें भी अघैर्य है और ज्वानीमें भी घैर्य ॥६०॥

**स्वकर्मऽक्षश्च यदान्तको जगद् वयःसु सर्वेष्ववशं विकर्षति ।
विनाशकाले कथमव्यवस्थिते जरा प्रतीक्ष्या विदुषा शमेष्वना ॥६१॥**

जब कि अपने कर्ममें निपुण यम विवश जगत्को सब अवस्थाओंमें दूर खींच रहा है, तब विनाश-काल अनिश्चित होनेपर शान्ति पानेका इच्छुक बुद्धिमान् उसे बुद्धापेकी प्रतीक्षा करे ! ॥६१॥

**जरायुधो व्याधिविकीर्णसायको यदान्तको व्याध इवाशिवः स्थितः ।
प्रजासृगान् भाग्यवनाश्रितांस्तुदन् वयःप्रकर्षं प्रति को मनोरथः ॥६२॥**

जब कि जरा-रूप-सत्त्व धारी यम अमङ्गल व्याधके समान खड़ा होकर व्याधिरूप तीरोंको विखेता हुआ भाग्य-रूप वनमें आश्रित प्रजा रूप मृगोंको पीछित कर रहा है, तब बुद्धापे(में धर्म करने)की क्या चाह हो सकती ? ॥६२॥ अतो युवा वा स्थविरोऽथवा शिशुस्तथा त्वरावानिह कर्तुमर्हति ।

यथा भवेद्धर्मवतः कृतात्मनः प्रवृत्तिरिषा विनिवृत्तिरंव वा ॥६३॥

इसलिए युवा हो, या वृद्ध, या शिशु, वह यहाँ शीघ्र ऐसा करे, जिससे धर्मात्मा व शुद्धात्मा होकर (स्वर्ग-प्राप्ति-द्वारा) इष्ट प्रवृत्ति या (मोक्ष-प्राप्ति-द्वारा) इष्ट निवृत्ति प्राप्त करे ॥६३॥

**यदात्थ चापीष्टफलां कुलोचितां कुरुष्व धर्माय मखक्रियामिति ।
नमो मखेभ्यो न हि कामये सुखं परस्य दुःखक्रियया यदिष्यते ॥६४॥**

यह जो कहा कि इष्ट फल देनेवाली कुलोचित यज्ञ-क्रिया धर्मके लिए करो; यज्ञोंको प्रणाम है, मैं वह सुख नहीं चाहता, जो दूसरोंको दुःख देकर चाहा जाता है ॥६४॥

परं हि हन्तुं विवशं फलेष्या न युक्तरूपं करुणात्मनः सतः ।

क्रतोः फलं यद्यपि शाश्वतं भवेत्तथापि कृत्वा किमु यत्क्षयात्मकम् ॥६५॥

जो दयावान् है उसके लिए फल पानेकी इच्छासे दूसरे विवश जीवकी

६०—“चपलं”की जगह “बहुशः” रखा गया है ।

हत्या करना ठीक नहीं । यदि यज्ञका फल शाश्वत भी हो, तो भी वह करके क्या जो हिंसात्मक है ? ॥ ६५ ॥

भवेच्च धर्मो यदि नापरो विधिर्वैतेन शीलेन मनःशमेन वा ।
तथापि नैवार्हति सेवितुं क्रतुं विशस्य यरिमन् परमुच्यते फलम् ॥६६॥

यदि व्रत, शील या मानसिक शान्ति द्वारा धर्म प्राप्त होनेका दूसरा उपाय न हो, तो भी यज्ञका सेवन नहीं करना चाहिए, जिसमें दूसरेको मारकर फल प्राप्त होता है ऐसा कषा जाता है ॥ ६६ ॥

इहापि तावत्पुरुषस्य तिष्ठतः प्रवर्तते यत्परहिंसया सुखम् ।
तदप्यनिष्टं सघृणस्य धीमतो भवान्तरे किं बत यज्ञ दृश्यते ॥६७॥

इस लोकमें रहते हुए पुरुषको पर-हिंसासे जो सुख होता है, वह भी दयावान् बुद्धिमान् के लिए इष्ट (वाङ्गनीय) नहीं; दूसरे जन्ममें जो दिखाई नहीं पड़ रहा है उसका क्या ? ॥ ६७ ॥

न च प्रतार्थोऽस्मि फलप्रवृत्तये भवेषु राजन् रमते न मे मनः ।
लता इवाम्भोधरवृष्टिताङ्गिताः प्रवृत्तयः सर्वगता हि चञ्चलाः ॥६८॥

और फलके लिए प्रवृत्तिकी ओर मैं नहीं बहकाया जा सकता हूँ, जन्म-चक्रमें, हे राजन्, मेरा मन नहीं लग रहा है । बादलकी वृष्टिसे ताङ्गित लताके समान यह सर्वध्यापी प्रवृत्ति चञ्चल है ॥ ६८ ॥

इहागतश्चाहमितो दिवक्षया मुनेराडस्य विमोक्षवादिनः ।
प्रयामि चायैव नृपास्तु ते शिवं चत्चः क्षमेथा मम तत्त्वनिष्ठुरम् ॥६९॥

यहाँ आया हूँ और मोक्षवादी मुनि अराडको देखनेकी इच्छासे आज ही यहाँसे जा रहा हूँ । हे राजन्, आपका कल्याण हो, मेरे सत्यनिष्ठुर चत्चनको क्षमा कीजिए ॥ ६९ ॥

अवेन्द्रवंहित्यव शश्वदर्कवदौगुणैरव श्रेय इहाव गामव ।
अवायुरार्थैरव सत्सुतानव श्रियद्वच राजन्नव धर्ममात्मनः ॥७०॥

६८—किसी जीवका जन्म बराबर एक ही योनिमें नहीं होता है, वह मिळ-मिल योनिमें पैदा होता रहता है, और कभी वह स्वर्गमें रहता है तो कभी नरकमें; इसलिए प्रवृत्तिको सर्वध्यापी और चञ्चल कहा गया है ।

इन्द्रके समान रक्षा कीजिए, आकाशके सूर्यके समान सदा रक्षा कीजिए, अपने आर्य (=उत्तम) गुणोंसे इस लोकमें कल्याणकी रक्षा कोजिए, पृथ्वीकी रक्षा कीजिए, आयुकी रक्षा कीजिये, सत्पुत्रोंकी रक्षा कीजिए, हे राजन्, लक्ष्मी वं अपने धर्मकी रक्षा कीजिए ॥ ७० ॥

हिमारिकेतूद्धवसंभवान्तरे यथा द्विजो याति विमोक्षयस्तनुम् ।
हिमारिशत्रुक्षयशत्रुघातने तथान्तरे याहि विमोक्षयन्मनः ॥७१॥

जैसे अग्नि-पताका (=धूम)से उत्पन्न होनेवाले (=बादल)से वृष्टि होने-पर अग्नि अपनी बाहरी आकृति को छोड़ देती है (या साँप अपनी कंचुल छोड़ता है), वैसे ही सूर्य-शत्रु (=तम) का विनाश करनेमें जो शत्रु (=विन्द्र) हैं उनकी हत्या करके अपना मन मुक्त कीजिए” ॥ ७१ ॥

नृपोऽब्रवीत्साञ्चिरागतस्पृहो यथेष्टमाप्नोतु भवानविघ्नतः ।

अवाप्य काले कृतकृत्यतामिमां ममापि कार्यौ भवता त्वनुग्रहः ॥७२॥

राजाने हाथ जोड़कर अभिलाषापूर्वक कहा—“आप यथेष्ट सफलता निर्विन्द्र प्राप्त करें और इसे प्राप्त कर समयपर मेरे ऊपर भी आप अनुग्रह कीजिएगा” ॥ ७२ ॥

स्थिरं प्रतिशाय तथेति पार्थिवे ततः स वैश्वंतरमाश्रमं ययौ ।

परिव्रजन्तं तमुदीक्ष्य विस्मितो नृपोऽपि ववाज पुरं गिरिव्रजम् ॥७३॥

इति बुद्धचरिते महाकाव्ये कामविगर्हणो नामैकादशः सर्गः ।

तब “वैसा ही हो” इस तरह राजा के लिए दृढ़ प्रतिज्ञा कर, वह वैश्वंतर-आश्रमकी ओर गया । उसे जाते देखकर विस्मित हुआ राजा भी गिरिन्द्रज पुरी (=राजगृह) को चला गया ॥ ७३ ॥

बुद्धचरित महाकाव्यका “काम-निन्दा” नामक एकादश सर्ग समाप्त ।

द्वादश सर्ग

अराड़-दर्शन

ततः शमविहारस्य मुनेरिक्ष्वाकुचन्द्रमाः ।

अराड़स्याथ्रम् भेजे वपुषा पूरयन्निव ॥ १ ॥

तब हृष्वाकु- (वंशका) चन्द्रमा शम-धर्ममें विहार करनेवाले अराड़के आश्रममें गया, उस (आश्रम)को वह (राज-कुमार) अपने रूपसे मानो भर रहा था ॥ १ ॥

स कालामसगोत्रेण तेनालोक्यैव दूरतः ।

उच्चैः स्वागतमित्युक्तः समीपमुपजग्मिवान् ॥ २ ॥

कालाम गोत्रके उस मुनिने दूरसे ही उसे देखकर जोरसे 'स्वागत' शब्द कहा, और वह (कुमार) उसके समीप गया ॥ २ ॥

ताबुभौ न्यायतः पृष्ठा धातुसाम्यं परस्परम् ।

दारव्योर्मेध्ययोर्वृष्योः शुचौ देशो निषेदतुः ॥ ३ ॥

वे दोनों न्यायपूर्वक परस्पर धातु-साम्य (= स्वास्थ्य) पूछकर पवित्र स्थानमें काठके दो पवित्र आसनोंपर बैठ गये ॥ ३ ॥

तमासीनं नृपसुतं सोऽव्रवीन्मुनिसत्तमः ।

बहुमानविशालाभ्यां दर्शनाभ्यां पिबन्निव ॥ ४ ॥

उस मुनि-श्रेष्ठने, सभ्मानके कारण अपनी विकसित आँखोंसे, बैठे हुए उस राज-कुमारको मानो पीते हुए कहा:—॥ ४ ॥

विदितं मे यथा सौम्य निष्कान्तो भवनादसि ।

छिस्वा स्नेहमयं पाशं पाशं वृत इव द्विपः ॥ ५ ॥

"हे सौम्य, मुझे मालूम है कि आप किस प्रकार घरसे निकले हैं। जैसे गर्भिला हाथी बन्धनको काटकर (निकलता है), वैसे ही स्नेहमय बन्धनको काटकर आप निकले हैं ॥ ५ ॥

सर्वथा धृतिमच्चैव प्राहं चैव मनस्तव ।

यस्त्वं प्राप्तः श्रियं त्यक्त्वा लतां विषफलामिव ॥ ६ ॥

आपका मन सब प्रकारसे धैर्यवान् व शानवान् है जो आप विषाक्त फल-
बाली लताकी तरह लक्ष्मीको तजकर आये हैं ॥ ६ ॥

नाश्र्यं जीणवयसो यज्ञगमुः पार्थिवा वनम् ।

अपत्येभ्यः श्रियं दत्त्वा भुक्तोच्छिष्टामिव स्त्रजम् ॥ ७ ॥

(इसमें कुछ) आश्र्यं नहीं कि बूढ़े होनेपर राजा लोग अपनी संतानोंको
उपभोग की गई जूठी मालाकी तरह राज्य-लक्ष्मी सौंपकर वन गये ॥ ७ ॥

इदं मे मतमाश्र्यं नवे वयसि यद्ग्रावान् ।

अभुक्तवैव श्रियं प्राप्तः स्थितो विषयगोचरे ॥ ८ ॥

इसे मैं आश्र्यं मानता हूँ कि आप, नई वयसमें विषयोंकी गोचर-भूमिमें
रहते हुए, लक्ष्मीका उपभोग किए विना ही आ गये हैं ॥ ८ ॥

तद्विज्ञातुमिमं धर्मं परमं भाजनं भवान् ।

शानप्लवमधिष्ठाय शीघ्रं दुःखार्णवं तर ॥ ९ ॥

इसलिए इस परम धर्मको जाननेके लिए आप उत्तमं पात्र हैं; शानरूप
नावपर चढ़कर दुःखरूप सागरको शीघ्र पार कीजिए ॥ ९ ॥

शिष्ये यद्यपि विज्ञाते शास्त्रं कालेन वर्ण्यते ।

गाम्भीर्यादव्यवसायाच्च न परीक्ष्यो भवान्मम ॥ १० ॥

यद्यपि शिष्यको जाननेके बाद समयपर शास्त्र बताया जाता है, किंतु
आपकी गम्भीरता व निश्चयके बारण मैं आपकी परीक्षा नहीं करूँगा” ॥ १० ॥

इति वाक्यमराडस्य विज्ञाय स नर्षभः ।

बभूव परमप्रीतः प्रोवाचोत्तरमेव च ॥ ११ ॥

अराडकी यह बात जानकर वह नर-श्रेष्ठ परम प्रसन्न हुआ और उत्तर
दियाः—॥ ११ ॥

विरक्तस्यापि यदिदं सौमुख्यं भवतः परम् ।

अकृतार्थोऽप्यनेनास्मि कृतार्थं इव संप्रति ॥ १२ ॥

“विरक्त होनेपर भी आपकी जो यह अत्यन्त अनुकूलता है, अकृतार्थ
होनेपर भी मैं इससे इस समय कृतार्थ-सा हूँ ॥ १२ ॥

दिवक्षुरिच हि ज्योतिर्यियासुरिच दैशिकम् ।

त्वदर्शनमहं मन्ये तितीर्षुरिच च प्लवम् ॥१३॥

आपके दर्शनको मैं वैसा ही मान रहा हूँ, जैसा कि देखनेकी हच्छा करनेवाला प्रकाशको, यात्राकी हच्छा करनेवाला (मार्ग) बतानेवालेको, और (नदी) पार करनेकी हच्छा करनेवाला नावको मानता है ॥ १३ ॥

तस्मादर्हसि तद्वकुं वक्तव्यं यदि मन्यसे ।

जरामरणरोगेभ्यो यथायं परिमुच्यते ॥१४॥

इसलिए यदि आप कहने योग्य समझें, तो आपको वह कहना चाहिए जिससे यह व्यक्ति जरा मरण व रोगसे मुक्त हो जाय” ॥ १४ ॥

इत्यराडः कुमारस्य माहात्म्यादेव चोदितः ।

संक्षिप्तं कथयांचक्रे स्वस्य शास्त्रस्य निश्चयम् ॥१५॥

कुमारके माहात्म्यसे ही प्रेरित होकर, अराडने अपने शास्त्रका संक्षिप्त निश्चय इस प्रकार कहा:— ॥ १५ ॥

श्रूयतामयमस्माकं सिद्धान्तः शृण्वतां वर ।

यथा भवति संसारे यथा चैव निर्वर्तते ॥१६॥

“हे श्रोताओंमें श्रेष्ठ, हमारा यह सिद्धान्त सुनिये कि कैसे यह संसार प्रवृत्त होता है और कैसे निवृत्त होता है ॥ १६ ॥

प्रकृतिश्च विकारश्च जन्म मृत्युर्जरैव च ।

तत्त्वावत्सत्त्वमित्युक्तं स्थिरसत्त्वं परेहि तत् ॥१७॥

हे स्थिर-सत्त्व, इसे समझिये; प्रकृति, विकार, जन्म, जरा व मृत्युको ही सत्त्व कहा गया है ॥ १७ ॥

तत्र तु प्रकृतिं नाम विद्धि प्रकृतिकोविद ।

पञ्च भूतान्यहंकारं बुद्धिमव्यक्तमेव च ॥१८॥

हे प्रकृतिको जाननेवाले, उसमें पाँच (महा-) भूतों, अहङ्कार, बुद्धि और अव्यक्तको प्रकृति जानिये ॥ १८ ॥

विकार इति बुध्यस्व विषयानिन्द्रियाणि च ।

पाणिपादं च वाचं च पायूपस्थं तथा मनः ॥१९॥

विषयों, इन्द्रियों, हाथ-पाँव, वाणी, गुदा, जननेन्द्रिय व मनको विकार समझिये ॥ १९ ॥

अस्य क्षेत्रस्य विज्ञानात्क्षेत्रज्ञ इति संक्षिच ।

क्षेत्रज्ञ इति आत्मानं कथयन्त्यात्मचिन्तकाः ॥२०॥

और संज्ञावान् (= चेतनावान्, होशवाला) इस क्षेत्रको जाननेके कारण क्षेत्रज्ञ है । और आत्माकी चिन्ता करनेवाले लोग आत्माको क्षेत्रज्ञ कहते हैं ॥ २० ॥

सशिष्यः कपिलश्चेह प्रतिबुद्ध इति स्मृतः

सपुत्रः प्रतिबुद्धस्तु प्रजापतिरिहोच्यते ॥२१॥

और इस संसारमें शिष्यों सहित कपिल ज्ञानी स्मरण किया गया है, उसने पुत्रों सहित ज्ञान प्राप्त किया और वह इस संसारमें प्रजापति कहा जाता है ॥ २१ ॥

जायते जीर्यते चैव वाध्यते द्वियते च यत् ।

तद्व्यक्तमिति विज्ञेयमव्यक्तं तु विपर्ययात् ॥२२॥

जो जन्म लेता है, बूढ़ा होता है, पीड़ित होता है और मरता है उसे व्यक्त समझना चाहिए और जो इसका विपरीत (उलटा) है उसे अव्यक्त समझना चाहिए ॥ २२ ॥

अज्ञानं कर्म तृष्णा च ज्ञेयाः संसारहेतवः ।

स्थितोऽस्मिंस्त्रितये जन्तुस्तत्सत्त्वं नातिवर्तते ॥२३॥

अज्ञान, कर्म व तृष्णा संसारके कारण-स्वरूप हैं । इन तीनोंमें रहनेवाला प्राणी उस सत्त्व (= प्रकृति विकार जन्म जरा व मृत्यु) के पार नहीं जा सकता ॥ २३ ॥

३१—“प्रतिबुद्धिरिति स्मृतिः” के स्थान में “प्रतिबुद्ध इति स्मृतः” रखा गया है । यह एक दुर्बोध श्लोक है । इस दुर्बोधता का कारण पाठ-दोष ही जान पड़ता है । श्लोक-संख्या २९, ४० और २२ को देखते हुए, इसके तीसरे चरण में “प्रतिबुद्ध” की जगह “अप्रतिबुद्ध” पढ़ना ठीक होगा । तब अर्थ यों हो—“और, इस संसार में शिष्यों-सहित कपिल ज्ञानी स्मरण किया गया है और पुत्रों सहित प्रजापति (भूतात्मा, मार) अज्ञानी कहा जाता है ।”

विप्रत्ययादहङ्कारात्संदेहादभिसंप्लवात् ।

अविशेषानुपायाभ्यां सङ्गादभ्यवपाततः ॥२४॥

विप्रत्यय, अहङ्कार, संदेह, अभिसंप्लव, अविशेष, अनुपाय, सङ्ग और अभ्यवपातके कारण (प्राणी उस सत्त्वके पार नहीं जा सकता) ॥ २४ ॥

तत्र विप्रत्ययो नाम विपरीतं प्रवर्तते ।

अन्यथा कुरुते कार्यं मन्तव्यं मन्यतेऽन्यथा ॥२५॥

उसमें विप्रत्यय (= अविश्वास, भिश्या विश्वास) विपरीत आचरण करता है, जो करना है उसे अन्यथा करता है, जो विचारना है उसे अन्यथा विचारता है ॥ २५ ॥

ब्रह्मम्यहमहं वेद्यि गच्छाम्यहमहं स्थितः ।

इतीहैवमहंकारस्त्वनहंकार वर्तते ॥२६॥

हे अहङ्कार-रहित, मैं बोलता हूँ, मैं जानता हूँ, मैं जाता हूँ, मैं खड़ा हूँ, इस प्रकार इस संसार में अहङ्कार होता है ॥ २६ ॥

यस्तु भावानसंदिग्धानेकीभावेन पश्यति ।

मृत्पिण्डवदसंदेह संदेह स इहोच्यते ॥२७॥

हे सन्देह-रहित, जो परस्पर नहीं मिली हुई वीजोंको मिट्टीके ढेलेके समान एक (= ठोस) देखता है, वह इस संसारमें सन्देह कहा जाता है ॥ २७ ॥

य एवाहं स पवेदं मनो बुद्धिश्च कर्म च ।

यश्चैवैष गणः सोऽहमिति यः सोऽभिसंप्लवः ॥२८॥

जो ही मैं हूँ वही यह मन बुद्धि व कर्म है, और (मन बुद्धि व कर्मका) जो यह समूह है वही मैं हूँ, ऐसा जो है वह अभिसंप्लव है ॥ २८ ॥

अविशेषं विशेषज्ञं प्रतिबुद्धाप्रबुद्धयोः ।

प्रकृतीनां च यो वेद सोऽविशेष इति स्मृतः ॥२९॥

हे विशेषज्ञ, जो ज्ञानी व अज्ञानीके बीच तथा प्रकृतियोंके बीच अविशेष (= अमेद, भेद नहीं) जानता है वह अविशेष स्मरण किया गया है ॥ २९ ॥

नमस्कारवषट्कारौ प्रोक्षणाभ्युक्षणादयः ।

अनुपाय इति प्राबैरुपायज्ञं प्रवेदितः ॥३०॥

नमस्कार, वषट्कार (= आहुति), सिञ्चन-आदिको, हे उपायज्ञ, बुद्धिमानोंने अनुपाय (= अनुचित उपाय) बताया है ॥३०॥

सज्जते येन दुर्मेधा मनोवाग्बुद्धिकर्मभिः ।

विषयेष्वनभिष्वङ्ग सोऽभिष्वङ्ग इति समृतः ॥३१॥

जिससे दुर्बुद्धि पुरुष मन वाणी बुद्धि व कर्मद्वारा विषयोंमें आसक्त होता है, वह, हे आसक्ति-रहित, सङ्ग (= आसक्ति) स्मरण किया गया है ॥३१॥

ममेऽमहमस्येति यद् दुःखमभिमन्यते ।

विश्वेयोऽभ्यवपातः स संसारे येन पात्यते ॥३२॥

“मेरा यह है, मैं इसका हूँ” इस दुःखके अभिमानको अभ्यवपात जानना चाहिए जिसके द्वारा संसारमें पतन होता है ॥३२॥

इत्यविद्यां हि विद्वान्स पञ्चपर्वीं समीहते ।

तमो मोहं महामोहं तामिस्त्रद्वयमेव च ॥३३॥

वह विद्वान् कहता है कि अविद्या माँच पर्वों (= ग्रन्थियोंकी) होती है— तम, मोह, महामोह और दो तामिस ॥३३॥

तत्रालस्यं तमो विद्धि मोहं मृत्युं च जन्म च ।

महामोहस्त्वसंमोह काम इत्येव गम्यताम् ॥३४॥

उनमें आलस्यको तम, जन्म व मृत्युको मोह जानिये । हे मोह-रहित, काम ही महामोह है, ऐसा समझिये ॥३४॥

यस्मादत्र च भूतानि प्रमुह्यन्ति महान्त्यपि ।

तस्मादेष महावाहो महामोह इति समृतः ॥३५॥

जिस कारण इस (काम)में बड़े-बड़े प्राणी भी मूढ़ हो जाते हैं, इस कारण हे महावाहो, यह महामोह स्मरण किया गया है ॥३५॥

तामिस्तामिति चाक्रोध क्रोधमेवाधिकुर्वते ।

विषादं चान्धतामिस्तामविषादं प्रचक्षते ॥३६॥

हे क्रोध-रहित, क्रोधको हो तामिस कहते हैं और हे विषाद-रहित, विषादको अन्ध-तामिस कहते हैं ॥३६॥

अनयाविद्यया बालः संयुक्तः पञ्चपर्वया ।

संसारे दुःखभूयिष्ठे जन्मस्वभिनिविच्यते ॥३७॥

पाँच पवोंवाली इस अविद्यासे युक्त होकर मूर्ख मनुष्य दुःख-बहुल संसारमें बार-बार जन्म लेता है ॥ ३७ ॥

द्रष्टा श्रोता च मन्ता च कार्यकरणमेव च ।

अहमित्येवमागम्य संसारे परिवर्तते ॥३८॥

“द्रष्टा श्रोता चिन्तक व कार्यका साधक मैं ही हूँ” ऐसा समझकर वह संसारमें भटकता है ॥ ३८ ॥

इहैभिर्हेतुभिर्धीमन् जन्मस्रोतः प्रवर्तते ।

हेत्वभावात्कलाभाव इति विज्ञातुमर्हसि ॥३९॥

इस संसारमें इन कारणोंसे, हे धीमन्, जन्मका स्रोता चलता रहता है । कारण नहीं होनेसे फल नहीं हो सकता, ऐसा आपको जानना चाहिए ॥ ३९ ॥

तत्र सम्युक्तमतिर्विद्यान्मोक्षकाम चतुष्टयम् ।

प्रतिबुद्धाप्रबुद्धौ च व्यक्तमव्यक्तमेव च ॥४०॥

इसमें, हे मोक्ष के इच्छुक, सम्यक् बुद्धिवाले को (यह) चार जानना चाहिए—ज्ञानी-अज्ञानी और व्यक्त-अव्यक्त ॥४०॥

यथावदेतद्विज्ञाय क्षेत्रश्चो हि चतुष्टयम् ।

आजवंजवतां हित्वा प्राप्नोति पदमक्षरम् ॥४१॥

इन चारों को ठीक ठीक जानकर क्षेत्रश्च जन्म-मरण की वेगवती धारा को छोड़ देता है और अविनाशी पद प्राप्त करता है ॥४१॥

इत्यर्थं ब्राह्मणा लोके परमब्रह्मवादिनः ।

ब्रह्मचर्यं चरन्तीह ब्राह्मणान्वासयन्ति च ॥४२॥

इसके लिए संसारमें परमब्रह्म-वादी ब्राह्मण ब्रह्मचर्यका आचरण करते हैं और ब्राह्मणोंको इसकी शिक्षा देते हैं” ॥४२॥

इति वाक्यमिदं श्रत्वा मुनेस्तस्य नृपात्मजः ।

अभ्युपायं च प्रच्छ एव च नैषिकम् ॥४३॥

उस मुनि की यह बात सुनकर राजाके पुत्रने उपाय और नैषिक पद के बारेमें पूछा:—॥४३॥

ब्रह्मचर्यमिदं चर्यं यथा यावच्च यत्र च ।

धर्मस्यास्य च पर्यन्तं भवान्व्याख्यातुमर्हति ॥४४॥

“इस ब्रह्मचर्यका आचरण जैसे जितना और जहाँ करना चाहिए, और इस धर्मका जो अन्त है उसकी आप व्याख्या कीजिए ।” ॥४४॥

इत्यराढो यथाशास्त्रं विस्पष्टार्थं समाप्तः ।

तमेवान्येन कल्पेन धर्ममस्मै व्यभाषत ॥४५॥

अराढने शास्त्रानुसार उसी धर्मको उसके लिए अन्य तरीकेसे संक्षेपमें स्पष्ट शब्दोंमें कहा:—॥४५॥

अयमादौ गृहान्मुक्त्वा भैक्षाकं लिङ्गमाश्रितः ।

समुदाचारविस्तीर्णं शीलमादाय वर्तते ॥४६॥

“आरम्भमें घर छोड़कर वह भिक्षु-वेष धारण करता है और सदाचार-व्यापी शील ग्रहण करता है ॥४६॥

संतोषं परमास्थाय येन तेन यतस्ततः ।

विविक्तं सेवते वासं निर्दन्दः शास्त्रवित्कृती ॥४७॥

जहाँ-तहाँसे जो कुछ मिल जाता है उसीसे परम सन्तोष पाकर वह निर्दन्द शास्त्र व बुद्धिमान् एकान्त निवासका सेवन करता है ॥४७॥

ततो रागाद्भ्यं दृष्ट्वा वैराग्याद्य परं शिवम् ।

निगृह्णन्निन्द्रियग्रामं यतते मनसः शमे ॥४८॥

तब रागसे भयकी (उत्पत्ति) और वैराग्यसे परम कल्याणकी (उत्पत्ति) देखकर इन्द्रिय-समूहका निग्रह करता हुआ वह मानसिक शास्तिके लिए यत करता है ॥४८॥

अथो विविक्तं कामेभ्यो व्यापादादिभ्य एव च ।

विवेकजमवाप्नोति पूर्वध्यानं चित्कर्वत् ॥४९॥

तब वह काम व व्यापाद (= पर-द्रोह-चिन्तन, कोघ) आंदिसे रहित, विवेक-जन्य और चित्कर्म-युक्त पूर्व ध्यान प्राप्त करता है ॥४९॥

तत्र ध्यानसुखं प्राप्य तत्तदेव चित्कर्यन् ।

अपूर्वसुखलाभेन ह्रियते वालिशो जनः ॥५०॥

और उस ध्यान-सुखको पाकर, उसीकी चिन्ता करता हुआ, मूर्ख आदमी अपूर्व सुखकी प्राप्तिद्वारा अपहृत (पथभ्रष्ट) होता है ॥५०॥

शमेनैवंविधेनायं कामद्वेषविगर्हिणा ।

ब्रह्मलोकमवाप्नोति परितोषेण वञ्चितः ॥५१॥

काम-द्वेष-विरोधिनी ऐसी शान्तिद्वारा वह सन्तुष्ट होकर ब्रह्म-लोक प्राप्त करता है ॥५१॥

शात्वा विद्वान्वितकांस्तु मनःसंक्षोभकारकान् ।

तद्वियुक्तमवाप्नोति ध्यानं प्रीतिसुखान्वितम् ॥५२॥

किन्तु वितर्क (= विचार) मनको क्षुब्ध करते हैं, ऐसा जानकर विद्वान् उन (वितर्कों)से वियुक्त और प्रीति-सुखसे युक्त ध्यान प्राप्त करता है ॥५२॥

हियमाणस्तया प्रीत्या यो विशेषं न पश्यति ।

स्थानं भास्वरमाप्नोति देवेष्वाभास्वरेषु सः ॥५३॥

उस प्रीतिद्वारा हरण किया जाता हुआ जो विशेष को नहीं देखता है वह आभास्वर देवोंके बीच भास्वर (= उज्ज्वल) स्थान प्राप्त करता है ॥५३॥

यस्तु प्रीतिसुखात्तसाद्विवेचयति मानसम् ।

तृतीयं लभते ध्यानं सुखं प्रीतिविवर्जितम् ॥५४॥

जो उस प्रीति-सुख (प्रीतिके सुखसे) अपने मनको अलग करता है वह, सुखमय, किन्तु प्रीति-नहित तृतीय ध्यान प्राप्त करता है ॥५४॥

यस्तु तस्मिन्सुखे मग्नो न विशेषाय यत्प्राप्तान् ।

शुभकृत्स्नैः स सामान्यं सुखं प्राप्नोति दैवतैः ॥५५॥

जो उस सुखमें मग्न होकर विशेषके लिए यत्प्राप्तान् करता है वह शुभकृत्स्नै दैवताओंके साथ सामान्य सुख प्राप्त करता है ॥५५॥

तादृशं सुखमासाद्य यो न रज्यत्युपेक्षकः ।

चतुर्थं ध्यानमाप्नोति सुखदुःखविवर्जितम् ॥५६॥

वैसा सुख पाकर जो अनुरक्त नहीं होता है, उदासीन रहता है, वह सुख-दुःखसे रहित चतुर्थ ध्यान प्राप्त करता है ॥५६॥

तत्र केचिद्वयवस्यन्ति मोक्ष इत्यभिमानिनः ।

सुखदुःखपरित्यागादव्यापाराच्च चेतसः ॥५७॥

५१ = “वञ्चित”के स्थानमें “सज्जितः” या “युक्त” बोधक कोई दूसरा शब्द होगा ।

उसमें सुख-दुःखका परित्याग होनेसे और चित्तका व्यापार नहीं होनेसे कुछ अभिमानी निश्चय करते हैं कि मोक्ष यही है ॥५७॥

अस्य ध्यानस्य तु फलं समं देवैर्वृहत्फलैः ।

कथयन्ति बृहत्कालं बृहत्प्रश्नापरीक्षकाः ॥५८॥

ब्रह्म-ज्ञानके परीक्षक कहते हैं कि इस ध्यानका फल बृहत्फल देवोंके साथ दीर्घ कालतक रहता है ॥५८॥

समाधेव्युत्थितस्तस्माद्दृष्टा दोषांश्छरीरिणाम् ।

ज्ञानमारोहते प्राज्ञः शरीरविनिवृत्तये ॥५९॥

उस समाधिसे उठकर, शरीर-धारियोंके दोष देखकर बुद्धिमान् पुरुष शरीर-निवृत्तिके लिए ज्ञान (-मार्ग) पर आरुढ़ होता है ॥५९॥

ततस्तदध्यानमुत्सृज्य विशेषे कृतनिश्चयः ।

कामेभ्य इव स प्राज्ञो रूपादपि विरज्यते ॥६०॥

तब उस ध्यानको छोड़कर, विशेषके लिए निश्चय कर बुद्धिमान् (पुरुष) कामकी तरह रूपसे भी विरक्त होता है ॥६०॥

शरीरे खानि यान्यस्मिन्नान्यादौ परिकल्पयन् ।

घनेष्वपि ततो द्रव्येष्वाकाशमधिमुच्यते ॥६१॥

इस शरीरमें जो शून्य स्थान हैं पहले उनकी कल्पना करता है, तब (इसके) ठोस पदार्थोंको भी शून्य समझता है ॥६१॥

आकाशगतमात्मानं संक्षिप्य त्वपरो बुधः ।

तदेवानन्ततः पद्यन्विशेषमधिगच्छति ॥६२॥

दूसरा बुद्धिमान् पुरुष आकाशमें स्थित अपनेको (या आकाशमें व्यास आत्माको) संक्षिप्त (= संकुचित) कर, उसीको अनन्तकी तरह देखता हुआ विशेषको प्राप्त करता है ॥६२॥

अध्यात्मकुशलस्त्वन्यो निवर्त्यात्मानमात्मना ।

किञ्चिद्ब्रह्मस्तीति संपश्यन्नाकिंचन्य इति स्मृतः ॥६३॥

अध्यात्म-कुशल दूसरा पुरुष आत्माद्वारा आत्माको निवृत्त कर “कुछ भी नहीं है” ऐसा देखता हुआ आकिंचन्य (= अकिंचन !) स्मरण किया गया है ॥६३॥

ततो मुञ्जादिधीकेव शकुनिः पञ्जरादिव ।

क्षेत्रज्ञो निःसृतो देहान्मुक्त इत्यभिधीयते ॥६४॥

तब मुझसे (निकली) सौंकके समान, पिंजड़से (निकले) पक्षीके समान, देहसे निकला हुआ क्षेत्रज्ञ मुक्त कहा जाता है ॥६४॥

एतत्तपरमं ब्रह्म निर्लिङ्गं भ्रुवमक्षरम् ।

यन्मोक्ष इति तत्त्वज्ञाः कथयन्ति मनिषिणः ॥६५॥

यह परम ब्रह्म है, चिन्ह-रहित, भ्रुव और अविनाशी है, जिसे तत्त्वज्ञ मनीषी मोक्ष कहते हैं ॥६५॥

इत्युपायश्च मोक्षश्च मया संदर्शितस्तव ।

यदि ज्ञातं यदि रुचिर्यथावत्प्रतिपद्यताम् ॥६६॥

इस तरह मोक्ष और उपाय मैंने आपको बतला दिये; यदि इसे समझा और यदि रुचि हो, तो उचित रीतिसे इसे प्राप्त कीजिए ॥६६॥

जैगीषव्योऽथ जनको वृद्धश्वैव पराशरः ।

इमं पन्थानमासाद्य मुक्ता ह्यन्ये च मोक्षिणः ॥६७॥

जैगीषव्य, जनक, वृद्ध पराशर और दूसरे मोक्षवाले इस मार्गसे चलकर मुक्त हुए” ॥६७॥

इति तस्य स तद्राक्यं गृहीत्वा तु विचार्य च ।

पूर्वहेतुवलप्राप्तः प्रत्युत्तरमुवाच ह ॥६८॥

उसका यह बचन सुनकर और विचार करके पूर्व जन्मोंके हेतु-बल (= तीन कुशल-मूलों की शक्ति) से युक्त कुमारने उत्तर दिया:—॥६८॥

श्रुतं ज्ञानमिदं सूक्ष्मं परतः परतः शिवम् ।

क्षेत्रज्ञस्यापरित्यागाद्वैम्येतदनैषिकम् ॥६९॥

“यह सूक्ष्म ज्ञान सुना, जो उत्तरोत्तर कल्याण-कारी होता गया है। क्षेत्रज्ञका परित्याग नहीं होनेसे इसे मैं नैषिक नहीं समझता हूँ ॥६९॥

विकारप्रकृतिभ्यो हि क्षेत्रज्ञं मुक्तमप्यहम् ।

मन्ये प्रसवधर्माणं बीजधर्माणमेव च ॥७०॥

विकार व प्रकृतियोंसे मुक्त होनेपर भी क्षेत्रज्ञमें उत्पत्ति करनेका धर्म (= गुण, स्वभाव) और बीज होनेका धर्म रहता है, ऐसा मैं सानता हूँ ॥७०॥

विशुद्धो यद्यपि ह्यात्मा निर्मुक्त इति कल्प्यते ।

भूयः प्रत्ययसङ्घावादमुक्तः स भविष्यति ॥७१॥

यद्यपि विशुद्ध आत्मा मुक्त समझा जाता है, प्रत्ययों (कारणों) के विद्यमान होनेसे वह फिर अमुक्त (=बद्ध) हो जायगा ॥ ७१ ॥

ऋतुभूम्यम्बुविरहाद्यथा वीजं न रोहति ।

रोहति प्रत्ययैस्तैस्तैस्तद्वत्सोऽपि मतो मम ॥७२॥

जैसे ऋतु भूमि व जलके अभावसे वीज अङ्गुरित नहीं होता है और उन उन प्रत्ययोंके होनेसे अङ्गुरित होता है, वैसे ही मैं उसे भी मानता हूँ ॥ ७२ ॥

यत्कर्माद्वानतृष्णानां त्यागान्मोक्षश्च कल्प्यते ।

अत्यन्तस्तत्परित्यागः सत्यात्मनि न विद्यते ॥७३॥

यह कि कर्म अज्ञान व तृष्णाके त्यागसे मोक्ष होनेकी कल्पना की जाती है, सो आत्माके रहनेपर उनका अत्यन्त (= सम्पूर्ण) त्याग नहीं हो सकता ॥७३॥

हित्वा हित्वा त्रयमिदं विशेषस्तूपलभ्यते ।

आत्मनस्तु स्थितिर्यन्त तत्र सूक्ष्ममिदं त्रयम् ॥७४॥

इन तीनोंको धीरे-धीरे छोड़नेसे विशेषकी प्राप्ति होती है, किंतु जहाँ आत्मा-की स्थिति है वहाँ ये तीनों सूक्ष्म रूपमें भी रहते ही हैं ॥ ७४ ॥

सूक्ष्मत्वाच्चैव दोषाणामव्यापाराच्च चेतसः ।

दीर्घत्वादायुषश्चैव मोक्षस्तु परिकल्प्यते ॥७५॥

दोषोंके सूक्ष्म होनेसे, चित्तका व्यापार नहीं होनेसे, और (उस अवस्थामें) आयु लम्बी होनेसे मोक्षकी (केवल) कल्पना कर ली जाती है ॥ ७५ ॥

अहंकारपरित्यागो यश्चैष परिकल्प्यते ।

सत्यात्मनि परित्यागो नाहंकारस्य विद्यते ॥७६॥

और अहङ्कार-परित्यागकी जो यह कल्पना की जाती है, सो आत्माके रहनेपर अहङ्कारका परित्याग नहीं हो सकता ॥ ७६ ॥

संख्यादिभिरमुक्तश्च निर्गुणो न भवत्ययम् ।

तस्मादसति नैर्गुण्ये नास्य मोक्षोऽभिधीयते ॥७७॥

और संख्या आदिसे मुक्त नहीं होनेपर वह (= आत्मा) निर्गुण नहीं होता है, इसलिए निर्गुण न होनेपर इसे मोक्ष हुआ, ऐसा नहीं कह सकते ॥ ७७ ॥

गुणिनो हि गुणानां च व्यतिरेको न विद्यते ।

रूपोष्णाभ्यां विरहितो न ह्यग्निस्पलभ्यते ॥७८॥

गुणी व गुण जुदा जुदा नहीं रह सकते । रूप व गर्मीसे रहित अग्नि नहीं पाई जाती ॥ ७८ ॥

प्राग्देहान्न भवेदेही प्राग्गुणेभ्यस्तथा गुणी ।

तस्मादादौ विमुक्तः सन् शरीरी वध्यते पुनः ॥७९॥

देहसे पूर्व देही नहीं, उसी तरह गुणोंसे पूर्व गुणी नहीं, इसलिए शुरूमें मुक्त होनेपर भी शरीरी (= आत्मा) फिर (शरीरमें) बद्ध होता है ॥ ७९ ॥

क्षेत्रज्ञो विशरीरश्च ज्ञो वा स्यादज्ञ एव वा ।

यदि ज्ञो ज्ञेयमस्यास्ति ज्ञेये सति न मुच्यते ॥८०॥

और शरीर-रहित क्षेत्रज्ञ ज्ञ (= जाननेवाला) या अज्ञ है । यदि ज्ञ है, तो इसके लिए ज्ञेय (जाननेको शेष) है और ज्ञेय होनेपर यह मुक्त नहीं है ॥८०॥

अथाज्ञ इति सिद्धो वः कल्पितेन किमात्मना ।

विनापि ह्यात्मनाज्ञानं प्रसिद्धं काष्ठकुञ्ज्यवत् ॥८१॥

यदि आपके अनुसार अज्ञ सावित होता है, तो आत्माकी कल्पना करनेसे क्या (प्रयोजन) ? आत्माके विना भी अज्ञान (का अस्तित्व) काठ व दीवारके समान सिद्ध है ॥ ८१ ॥

परतः परतस्त्यागो यस्मात्तु गुणवान् समृतः ।

तस्मात्सर्वपरित्यागान्मन्ये कृत्स्नां कृतार्थताम् ॥८२॥

क्योंकि एक एक करके त्याग करना गुणवान् स्मरण किया गया है, इसलिए सर्व-त्यागसे पूर्ण कृतार्थता होती है, ऐसा मैं मानता हूँ ।” ॥ ८२ ॥

इति धर्ममराडस्य विदित्वा न तुतोष सः ।

अकृत्स्नमिति विज्ञाय ततः प्रतिजगाम ह ॥८३॥

अराडका यह धर्म जानकर वह संतुष्ट नहीं हुआ, यह (धर्म) अपूर्ण है ऐसा जानकर वहाँसे चला गया ॥ ८३ ॥

विशेषमथ शुश्रूषु द्रक्स्यात्रम् ययौ ।

आत्मग्राहाच्च तस्यापि जगृहे न स दर्शनम् ॥८४॥

तब विशेष सुननेकी इच्छा से वह उद्रक के आश्रम में गया और आत्मा (के सिद्धान्त) को साननेके कारण उसका भी दर्शन उसने ग्रहण नहीं किया ॥८४॥

संज्ञासंज्ञित्वयोर्दोषं ज्ञात्वा हि मुनिरुद्रकः ।

आकिंचन्यात्परं लेभेऽसंज्ञासंज्ञात्मिकां मतिम् ॥८५॥

संज्ञा (= चेतना) व असंज्ञा (= अचेतना) का दोष जानकर उद्रक मुनि ने अकिंचननतासे परे संज्ञा असंज्ञा-रहित मार्गको प्राप्त किया ॥८५॥

यस्माच्चालम्बने सूक्ष्मे संज्ञासंज्ञे ततः परम् ।

नासंज्ञी नैव संज्ञीति तस्मात्तत्रगतस्पृहः ॥८६॥

क्योंकि सूक्ष्म संज्ञा-असंज्ञा भी आलम्बन (= मानसिक या शारीरिक कर्मका आधार) है, उस (सूक्ष्म संज्ञा-असंज्ञा) से परे न असंज्ञा-युक्त और न संज्ञा-युक्त अवस्था है, इसलिए वह (उद्रक) उस (अवस्था) का अभिलाषी हुआ ॥८६॥

यतश्च बुद्धिस्तत्रैव स्थितान्यत्राप्रचारिणी ।

सूक्ष्मापद्वी ततस्तत्र नासंज्ञित्वं न संज्ञिता ॥८७॥

और क्योंकि बुद्धि सूक्ष्म व अपदु (= कर्म रहित) होकर वहीं रहती है, अन्यत्र नहीं जाती; इसलिए वहाँ न असंज्ञा है, न संज्ञा ॥८७॥

यस्माच्च तदपि प्राप्य पुनरावर्तते जगत् ।

वोधिसत्त्वः परं प्रेष्टुस्तस्मादुद्रकमत्यजत् ॥८८॥

और क्योंकि उसे भी प्राप्त कर आदमी फिर संसार में लौट आता है, इसलिए परम पद पानेके इच्छुक वोधिसत्त्वने उद्रक का त्याग किया ॥८८॥

ततो हित्वाश्रमं तस्य श्रेयोऽर्थीं कृतनिश्चयः ।

भेजे गयस्य राजर्णेन्गरीसंज्ञमाश्रमम् ॥८९॥

तब श्रेय पाने की इच्छा से निश्चय कर, उसका आश्रम छोड़, उसने राजर्णि गयके नगरी नामक आश्रमका सेवन किया ॥८९॥

अथ नैरज्जनातीरे शुचौ शुचिपराक्रमः ।

चकार वासमेकान्तविहाराभिरतिमुनिः ॥९०॥

तब पवित्र पराक्रमवाले, एकान्तविहारमें आनन्द पानेवाले उस मुनिने नैरज्जना नदीके पवित्र तीरपर निवास किया ॥९०॥

(आगतान् तत्र) तत्पूर्वं पञ्चेन्द्रियवशोद्धतान् ।

तपः (-प्रवृत्तान्) वतिनो भिक्षुन् पञ्च निरैक्षत ॥११॥

अपनेसे पहले ही वहाँ आये हुए पाँच भिक्षुओंको देखा; वे तपस्वी और व्रती थे, पाँच इन्द्रियोंको वश करनेके अभिमानी थे ॥११॥

ते चोपतस्थुर्दृष्ट्वात्र भिक्षवस्तं मुमुक्षवः ।

पुण्यार्जितधनारोग्यमिन्द्रियार्था इवेश्वरम् ॥१२॥

उसे वहाँ देखकर मोक्ष चाहनेवाले भिक्षु उसकी सेवामें उपस्थित हुए, जैसे इन्द्रिय-विषय उस ऐश्वर्यशालीकी सेवामें उपस्थित होते हैं जिसने अपने पुण्योंसे धन व आरोग्य अर्जित किये हैं ॥१२॥

संपूज्यमानस्तैः प्रहौर्विनयादनुवर्तिभिः ।

तद्वशस्थायिभिः शिष्यैलौलैर्मन इवेन्द्रियैः ॥१३॥

अपने वशमें रहनेवाले उन शिष्यों द्वारा, जो विनयी होनेके कारण नम्र व आज्ञा-कारी थे, वह वैसे ही पूजित हुआ, जैसे चञ्चल इन्द्रियोंसे चित्त शूजित (= सेवित) होता है ॥१३॥

मृत्युजन्मान्तकरणे स्यादुपायोऽयमित्यथ ।

दुष्कराणि समारेभे तपांस्यनशनेन सः ॥१४॥

तब उसने उपवास-द्वारा दुष्कर तप शुरू किये, यह सोचते हुए कि मृत्यु व जन्मका अन्त करनेमें यह उपाय होगा ॥१४॥

उपवासविधीन्नैकान् कुर्वन्नरुदुराचरान् ।

वर्षाणि षट् शमप्रेषुरकरोत्काश्यमात्मनः ॥१५॥

भाँति-भाँतिके उपवास, जो मनुष्यके लिए दुष्कर हैं; छः वर्षाँतक करते हुए, वाम प्राप्त करनेकी इच्छासे उसने अपनेको कृश बनाया ॥१५॥

अशकालेषु चैकैकैः स कोलतिलतण्डुलैः ।

अपारपारसंसारपारं प्रेषुरपारयत् ॥१६॥

अपार-पार संसारका पार पानेकी इच्छासे भोजनके समय एक एक बेर तिल व चावलसे उसने पारण किया ॥ १६ ॥

देहादपवयस्तेन तपसा तस्य यः कृतः ।

स एवोपचयो भूयस्तेजसास्य कृतोऽभवत् ॥१७॥

उस तपद्वारा उसके शरीरसे जितना ही क्षय हुआ, फिर तेजद्वारा उसकी उतनी ही वृद्धि हुई ॥ ९७ ॥

कृशोऽप्यकृशकीर्तिश्रीहर्षादं चक्रेऽन्यचक्षुषाम् ।

कुमुदानामिव शरच्छुक्लपक्षादिचन्द्रमाः ॥९८॥

(शरीरसे) क्षीण होनेपर भी उसकी श्री और कीर्ति क्षीण नहीं हुई और दूसरोंकी आँखोंको उसने वैसे ही आनन्दित किया, जैसे शरद ऋतुके शुक्ल-पक्षके आरम्भका चन्द्रमा कुमुदोंको आनन्दित करता है ॥ ९८ ॥

त्वगस्थिशोषो निःशैचैर्मैदः पिशितशोणितैः ।

क्षीणोऽप्यक्षीणगाम्भीर्यः समुद्र इव स व्यभात् ॥९९॥

उसकी त्वचा व हड्डियाँ शेष रह गईं, मेद माँस व शोणित निःशैष हो गये; इस तरह क्षीण होनेपर भी वह अक्षीण-गाम्भीर्य (=जिसकी गम्भीरता क्षीण नहीं हुई) समुद्रके समान शोभित हुआ ॥ ९९ ॥

अथ कष्टतपःस्पष्टव्यर्थक्लिलष्टतनुर्मुनिः ।

भवभीरुरिमां चक्रे बुद्धि बुद्धत्वकाङ्क्ष्या ॥१००॥

तब कठोर तप-द्वारा, स्पष्ट ही, शरीरको व्यर्थ क्लेश देकर, जन्मसे डरने-वाले मुनिने बुद्धत्व (पाने)की आकाङ्क्षासे यह विचार कियाः—॥ १०० ॥

नायं धर्मो विरागाय न बोधाय न मुक्त्ये ।

जम्बुमूले मया प्राप्तो यस्तदा स विधिर्भूवः ॥१०१॥

“इस धर्मसे न विराग होगा, न बोध, न मुक्ति । उस समय जम्बु-वृक्षके मूलमें मैंने जो विधि प्राप्त की थी वही ब्रुवै ॥ १०१ ॥

न चासौ दुर्बलेनाप्तुं शक्यमित्यागतादरः ।

शरीरवलवृद्ध्यर्थमिदं भूयोऽन्वचिन्तयत् ॥१०२॥

दुर्बल उसे नहीं प्राप्त कर सकता”, (शरीरके प्रति) ऐसा आदर होनेपर शरीर-बलकी वृद्धिके लिए उसने फिर यह सोचाः—॥ १०२ ॥

श्रुतिपासाश्रमक्लान्तः श्रमादस्वस्थमानसः ।

प्राप्नुयान्मनसावात्यं फलं कथमनिर्वृतः ॥१०३॥

“जो भूख प्यास व यकावटसे ग्रस्त है, यकावटसे अस्वस्थचिन्त है अ-सुखी है, वह मनसे प्राप्त होनेवाला फल कैसे पायेगा ? ॥ १०३ ॥

निर्वृतिः प्राप्यते सम्यक् सततेन्द्रियतर्पणात् ।

संतर्पितेन्द्रियतया मनःस्वास्थ्यमवाप्यते ॥१०४॥

इन्द्रियोंको निरन्तर तृप्त करनेसे सुख ठीक-ठीक प्राप्त होता है; इन्द्रियोंको अच्छी तरह तृप्त करनेसे मानसिक स्वास्थ्य प्राप्त होता है ॥ १०४ ॥

स्वस्थप्रसन्नमनसः समाधिरुपपद्यते ।

समाधियुक्तचित्तस्य ध्यानयोगः प्रवर्तते ॥१०५॥

जिसका मन स्वस्थ व प्रसन्न है उसे समाधि सिद्ध होती है, जिसका चित्त समाधिसे युक्त है उसे ध्यान-योग होता है ॥ १०५ ॥

ध्यानप्रवर्तनाद्भार्माः प्राप्यन्ते यैरवाप्यते ।

दुर्लभं शान्तमजरं परं तदमृतं पदम् ॥१०६॥

ध्यान होनेसे धर्म प्राप्त होते हैं, जिनसे वह परम पद प्राप्त होता है जो दुर्लभ, शान्त, अजर और अमर है ॥ १०६ ॥

तस्मादाहारमूलोऽयमुपाय इतिनिश्चयः ।

आहारकरणे धीरः कृत्वामितमतिर्मतिम् ॥१०७॥

इसलिए, यह उपाय आहार-मूलक है”, ऐसा निश्चय कर अपरिमित बुद्धि वाले उस धीरने भोजन करनेका विचार किया ॥१०७॥

स्नातो नैरञ्जनातीरादुत्तरार शनैः कृशः ।

भक्त्यावनतशाखाग्रैर्दत्तहस्तस्तटद्गुमैः ॥१०८॥

स्नान कर, वह कृश-तनु नैरञ्जना नदीके तीरसे धीरे-धीरे ऊपर चढ़ा; उस समय शाखाओंके अग्रभागोंको भक्तिपूर्वक छुकाकर तटवर्ती वृक्षोंने हाथ (=सहारा) दिया ॥१०८॥

अथ गोपाधिपसुता दैवतैरभिचोदिता ।

उद्भूतहृदयानन्दा तत्र नन्दवलागमत् ॥१०९॥

तब देवताओंसे प्रेरित होकर गोप-राजकी पुत्री नन्दवला आनन्दित हृदयसे वहाँ गई ॥१०९॥

सितशंखोज्ज्वलभुजा नीलकम्बलवासिनी ।

सफेनमाला नीलाम्बुर्यमुनेव सरिद्विरा ॥११०॥

उसकी मुजाएँ श्वेत शङ्खोंसे उज्ज्वल थीं, वह नीला वस्त्र पहने हुए थी,

जैसे फेन-मालाओंसे युक्त नील जलवाली सरिता-श्रेष्ठ यमुना (उपस्थित हुई) हो ॥११०॥

सा अद्वावर्जितप्रीतिर्विकसल्लोचनोत्पला ।

शिरसा प्रणिपत्यैनं आहयामास पायसम् ॥१११॥

अद्वासे उसकी प्रीति बढ़ी, नेत्ररूप उत्पल विकसित हुए । शिरसे प्रणाम कर उस (मुनि) के द्वारा उसने पायस ग्रहण कराया ॥१११॥

कृत्वा तदुपभोगेन प्राप्तजन्मफलां स ताम् ।

वोधिप्राप्तौ समर्थौ भूत्संतर्पितपडिन्द्रियः ॥११२॥

उस (पायस) का उपभोग कर उसने उस (कन्या) का जन्म सफल किया और छः इन्द्रियोंको अच्छी तरह तृप्त कर वोधि-प्राप्तिमें समर्थ हुआ ॥११२॥

पर्याप्तायानमूर्तिश्च सार्थं स्वयशासा मुनिः ।

कान्तिधैर्यै बभारैकः शशाङ्कार्णवयोद्वयोः ॥११३॥

अपने यशके साथ वह मुनि शरीरसे पर्याप्त वृद्धिको प्राप्त हुआ । उस एकने ही चन्द्रमा और सागर दोनोंकी (क्रमशः) कान्ति व धैर्य धारण किये ॥११३॥

आवृत्त इति विज्ञाय तं जहुः पञ्च भिक्षवः ।

मनीषिणभिवात्मानं निर्मुक्तं पञ्च धातवः ॥११४॥

वह (धर्म से) निवृत्त हो गया, ऐसा जानकर पाँचों भिक्षुओंने उसे छोड़ दिया, जैसे मुक्त हुए मनीषी आत्माको पाँचों धातु छोड़ देते हैं ॥११४॥

व्यवसायद्वितीयोऽथ शाद्वलास्तीर्णभूतलम् ।

सोऽश्वत्थमूर्ल प्रययौ वोधाय कृतनिश्चयः ॥११५॥

तब बुद्धत्वके लिए निश्चय कर, (अपने एकमात्र साथी) निश्चयके साथ वह पीपल वृक्षके नीचे गया, जहाँकी भूमि हरे तृणोंसे ढकी थी ॥११५॥

ततस्तदानीं गजराजविक्रमः पदस्वनेनानुपमेन वोधितः ।

महामुनेरागतवोधिनिश्चयो जगाद कालो भुजगोत्तमः स्तुतिम् ॥११६॥

तब उस समय काल नामक उत्तम सर्प, जो गजराज के समान पराक्रमी था, अनुपम पद-विनि द्वारा जगाया गया; वोधि (-प्राप्ति) के लिए निश्चय किया है, ऐसा जानकर उसने महामुनिकी स्तुति की:—॥११६॥

यथा मुने त्वच्चरणावपीडिता मुहुर्मुहुर्निष्टनतीव मेदिनी ।

यथा च ते राजति सूर्यवत्प्रभा भ्रुवं त्वमिष्टं फलमद्य भोक्ष्यसे ॥ ११७ ॥

“हे मुनि, आपके चरणों से पीड़ित होकर जिस प्रकार पृथ्वी मानो बार-बार गरज रही है और जिस प्रकार आपकी प्रभा सूर्य के समान चमक रही है, अवश्य ही आज आप इच्छित फल भोगेंगे ॥ ११७ ॥

यथा भ्रमन्त्यो दिवि चाषपङ्क्त्यः प्रदक्षिणं त्वां कमलाक्षं कुर्वते ।

यथा च सौम्या दिवि वान्ति वायवस्त्वमद्य बुद्धो नियतं भविष्यसि ॥ ११८ ॥

“हे कमल-लोचन, जिस प्रकार आकाशमें मैँडराते हुए चाष (= नीलकण्ठ) पक्षियोंके झुण्ड आपकी प्रदक्षिणा कर रहे हैं और जिस प्रकार आकाशमें सुन्दर हवा बह रही है, अवश्य ही आज आप बुद्ध होंगे” ॥ ११८ ॥

ततो भुजङ्गप्रवरेण संस्तुतस्तुणान्युपादाय शुचीनि लावकात् ।

कृतप्रतिश्वो निषसाद बोधये महातरोर्मूलमुपाश्रितः शुचेः ॥ ११९ ॥

तब सर्प-श्रेष्ठ द्वारा स्तुति की जानेपर, उसने (तृण) काटनेवाले से पवित्र तृण ले लिया और बोधि (-प्राति) के लिए प्रतिशा कर, पवित्र महातरके नीचे आश्रय लेकर बैठ गया ॥ ११९ ॥

ततः स पर्यंकमकम्प्यमुक्तमं बवन्ध सुसोरगभोगपिष्ठितम् ।

मिनद्विं तावद्भुवि नैतदासनं न यामि यावत्कृतकृत्यतामिति ॥ १२० ॥

तब उसने उत्तम अविचल पर्यंक आसन बाँधा, जो सोये हुए सौंपके शरीर-के समान पुज्जीभूत था । (और कहा)—“तबतक पृथिवीपर इस आसनको नहीं तोड़ूँगा, जबतक कि सफलता नहीं प्राप्त करूँगा” ॥ १२० ॥

ततो ययुर्मुदमतुलां दिवौकसो वधाशिरे न मृगणा न पक्षिणः ।

न सस्वनुर्वन्तरवोऽनिलाहताः कृतासने भगवति निश्चितात्मनि ॥ १२१ ॥

इति बुद्धचरिते महाकाव्ये अराड-दर्शनो नाम द्वादशः सर्गः ।

जब दृढ़ निश्चय करके भगवान् ने आसन ग्रहण किया, तब देवोंने अतुल आनन्द पाया, पशु-पक्षी बोले नहीं, और हवासे आहत होनेपर भी जंगलके बड़ोंसे शब्द नहीं हुआ ॥ १२१ ॥

बुद्धचरित महाकाव्यका “अराड-दर्शन” नामक
द्वादश सर्ग समाप्त ।

त्रयोदश सर्ग

मारकी पराजय

तसिन्विमोक्षाय कृतप्रतिश्वें राजर्षिवंशप्रभवे महौषौं ।

तत्रोपविष्टे प्रजहर्षं लोकस्तत्रासं सद्धर्मरिपुस्तु मारः ॥१॥

मोक्षके लिए प्रतिज्ञा कर जब राजर्षि-वंशमें उत्पन्न वह महर्षि वहाँ वैठ गया,
तब संसारको हर्ष हुआ, किंतु सद्धर्म-शत्रु मारको भय हुआ ॥ १ ॥
यं कामदेवं प्रवदन्ति लोके चित्रायुधं पुष्पशरं तथैव ।
कामप्रचाराधिपति तमेव मोक्षद्विषं मारमुदाहरन्ति ॥२॥

संसारमें जिसे कामदेव, चित्रायुध तथा पुष्पशर कहते हैं उसी मोक्ष-शत्रुको
जो काम-संचारका अधिपति है, मार कहते हैं ॥ २ ॥

तस्यात्मजा विभ्रमहर्षदर्पास्तिस्तोऽरतिप्रीतिरूपश्च कन्याः ।
पप्रच्छुरेनं मनसो विकारं स तांश्च ताश्चैव वचोऽभ्युवाच ॥३॥

विभ्रम, हर्ष व दर्प नामक उसके पुत्रोंने तथा अरति, प्रीति व तृपा
(=प्यास) नामक उसकी तीन कन्याओंने उससे मानसिक विकार (का कारण)
पूछा । उसने उन पुत्रों व कन्याओंसे यह बचन कहाः—॥ ३ ॥

असौ मुनिर्निश्चयवर्मं विभ्रत्सत्त्वायुधं बुद्धिशरं विकृष्य ।

जिगीषुरास्ते विषयान्मदीयान्तस्मादयं मे मनसो विषादः ॥४॥

“निश्चयरूप कवच धारण कर, बुद्धिरूप तीरवाला सत्त्वरूप अस्त्र (=धनुष)
खींचकर, वह सुनि मेरा राज्य जीतना चाहता है; इसलिए मेरा यह मानसिक
विषाद है ॥ ४ ॥

यदि हासौ मामभिभूय याति लोकाय चाख्यात्यपवर्गमार्गम् ।

शून्यस्तोऽयं विषयो ममाद्य वृत्ताच्चयुतस्येव विदेहभर्तुः ॥५॥

यदि वह मुझे जीत जाता है और जगत्को अपवर्गका मार्ग बताता है,
तो मेरा यह राज्य आज उसी प्रकार सूना हो जायगा जिस प्रकार सदाचारसे

च्युत होनेपर विदेह-राज (= कराल जनक या निमि विदेह) का राज्य (सूना हो गया था) ॥५॥

तद्यावदेवैष न लब्धचक्षुर्मदगोचरे तिष्ठति यावदेव ।
यास्यामि तावद्वतमस्य भेत्तुं सेतुं नदीवेग इवातिवृद्धः ॥६॥

इसलिए जवतक यह ज्ञान-चक्षु नहीं प्राप्त करता है; जवतक मेरे ही क्षेत्र-में रहता है, तबतक इसका व्रत भङ्ग करनेके लिए जाऊँगा जैसे नदी का अत्यन्त बड़ा हुआ वेग पुलको तोड़ता है ॥६॥

ततो धनुः पुष्पमयं गृहीत्वा शरान् जगन्मोहकरांश्च पञ्च ।
सोऽश्वत्थमूलं सजुतोऽभ्यगच्छदस्वास्थ्यकारी मनसः प्रजानाम् ॥७॥

तब फूलोंका धनुष तथा जगत्को मूँड करनेवाले पाँच तीर लेकर, प्रजाओंके मनको अस्वस्थ करनेवाला वह मार अपनी संतानोंके साथ अश्वत्थ वृक्षके नीचे गया ॥७॥

अथ प्रशान्तं मुनिमासनर्थं पारं तितीर्णं भवसागरस्य ।
विषज्य सव्यं करमायुधाग्रे क्रीडन् शरेणेदमुवाच मारः ॥८॥

तब अश्वके अग्रभागपर बाँया हाथ रखकर, तीरसे खेलते हुए मारने आसनपर स्थित प्रशान्त मुनिसे, जो भव-सागरके पारतक तैरनेको इच्छुक था, यह कहा:— ॥८॥

उत्तिष्ठ भोः क्षत्रिय मृत्युभीत चर स्वधर्मं त्यज मोक्षधर्मम् ।
वाणौश्च यज्ञैश्च विनीय लोकं लोकात्पदं प्राप्नुहि वासवस्य ॥९॥

“ऐ मौतसे डरनेवाले क्षत्रिय, उठो, स्वधर्मका आचरण करो, मोक्षधर्मका त्याग करो। वाणों व यज्ञोंसे संसारको जीतो और संसारसे इन्द्रका पद प्राप्त करो ॥९॥

पन्था हि निर्यातुमयं यशस्यो यो वाहितः पूर्वतमैनरेन्द्रैः ।
जातस्य राजर्षिकुले विशाले भैक्षकमश्लाध्यमिदं प्रपत्तुम् ॥१०॥

(संसार से) निकलने का मार्ग यही है, यश देनेवाला मार्ग है, जिसपर पूर्वके राजा लोग चले थे। जो विशाल राजर्षि-कुलमें उत्पन्न हुआ है, उसके लिए इस भिक्षा-वृत्ति का अवलभवन करना श्लाध्य नहीं ॥१०॥

अथाद् नोत्तिष्ठसि निश्चितात्मन् भव स्थिरो मा विमुचः प्रतिज्ञाम् ।

मयोद्यतो होष शरः स एव यः शूर्पके मीनरिपौ विमुक्तः ॥११॥

या यदि, हे स्थिरात्मन्, आज नहीं उठते हो, तो स्थिर हो जाओ, प्रतिज्ञा मत छोड़ो । मैंने यह वही तोर उठाया है, जो मछलियोंके शत्रु (= मछुए) शूर्पकपर छोड़ा गया था ॥११॥

स्पृष्टः स चानेन कथंचिदैडः सोमस्य नप्ताप्यभवद्विचित्तः ।

स चाभवछन्तनुरस्वतन्त्रः क्षीणे युगे किं बत दुर्बलोऽन्यः ॥१२॥

इसके स्पर्शमात्रसे चन्द्रमाके नारी ऐडका भी चित्त विचलित हो गया और वह शन्तनु अपने घशमें नहीं रहा, फिर (इस) क्षीण युगमें दूसरे दुर्बलका क्या कहना ? ॥१२॥

तत्क्षप्रमुत्तिष्ठ लभस्य संज्ञां बाणो ह्यर्य तिष्ठति लेलिहानः ।

प्रियाविधेयेषु रतिप्रियेषु यं चक्रवाकेष्विव नोत्सृजामि ॥१३॥

इसलिए शीघ्र उठो, होश सँभालो ; क्योंकि बार-बार बिनाश करनेवाला यह बाण तैयार है । इसे मैं उनपर नहीं छोड़ना जो चक्रवाकोंके समान अपनी प्रियाओंके अनुकूल हैं और रति-प्रिय हैं ॥१३॥

इत्येवमुक्तोऽपि यदा निरास्थो नैवासनं शाक्यमुनिर्विभेद ।

शरं ततोऽस्मै विसर्ज मारः कन्याइच कृत्वा पुरतः सुतांश्च ॥१४॥

इस प्रकार कहे जानेपर भी जब शाक्य-मुनिने न ध्यान दिया और न आसन तोड़ा, तब अपनी कन्याओं और पुत्रोंको आगे कर मारने उसके ऊपर तीर छोड़ ॥ १४ ॥

तस्मिंस्तु बाणेऽपि स विप्रमुक्ते चकार नास्थां न धृतेश्चचाल ।

दृष्टा तथैनं विषसाद मारश्चिन्तापरीतश्च शनैर्जगाद ॥१५॥

किंतु उस बाणके छोड़े जानेपर भी उसने न ध्यान दिया और न कह धैर्यसे ही विचलित हुआ । उस प्रकार उसे देखकर, मारको विषाद हुआ और चिन्तित होकर उसने धीरे-धीरे कहा :—॥१५॥

शैलेन्द्रपुत्रीं प्रति येन विद्धो देवोऽपि शम्भुश्चलितो बभूव ।

न चिन्तयत्येष तमेव बाणं किं स्यादचित्तो न शरः स एषः ॥१६॥

“जिसे विद्ध होकर महादेव भी शैलेन्द्र-पुत्री (पार्वती) के ग्रति चब्बाय-मान हुआ, उसी बाण की यह चिन्ता नहीं कर रहा है। क्या इसे चिच्छ ही नहीं है या यह वह तीर ही नहीं है ? ॥१६॥

तस्मादर्थं नार्हति पुष्पबाणं न हर्षणं नापि रतेनियोगम् ।

अर्हत्यर्थं भूतगणैरसौम्यैः संत्रासनातर्जनताडनानि ॥१७॥

इसलिए यह (मुनि) पुष्प-बाण, प्रसन्न करने, या रति-प्रयोगके योग्य नहीं। यह असौम्य भूतों द्वारा डराये, धमकाये और पीटे जाने योग्य है” ॥१७॥

सस्मार मारश्च ततः स्वसैन्यं विघ्नं शमे शाक्यमुनेश्चिकीर्षन् ।

नानाश्रयाश्चानुचराः परीयुः शलद्रुप्रमासगदासिहस्ताः ॥१८॥

तब शाक्य-मुनिकी शान्तिमें विघ्न करनेकी इच्छासे मारने अपनी सेनाका स्मरण किया और विविध रूपोंमें अनुचरण उसके चारों ओर आ गये; उनके हाथोंमें त्रिशूल, वृक्ष, भाले, गदाएँ और तलवारें थीं ॥१८॥

वराहमीताश्वस्त्रोष्ट्रवक्त्रा द्यावर्क्षसिहद्विरदाननाश्च ।

एकेक्षणा नैकमुखाख्यशीर्षा लम्बोदराश्चैव पृष्ठोदराश्च ॥१९॥

सूअर, मछली, घोड़े, गधे, ऊँट, बाघ, रीछ, सिह और हाथीकेसे उनके मुख थे। वे एक आँखवाले थे, उनके अनेक मुख थे, तीन तीन शिर थे, उदर लम्बे थे, पेटोंगर धब्बे थे ॥१९॥

अजानुसक्था घटजानवश्च दंष्ट्रायुधाश्चैव नखायुधाश्च ।

करंकवक्त्रा बहुमूर्तयश्च भग्नार्धवक्त्राश्च महामुखाश्च ॥२०॥

उनके धृटने वं जाँघें नहीं थीं, या घड़ोंके समान धृटने थे, दाँत ही उनके अख्त थे, नख ही हथियार थे, मस्तक-खप्पर ही मुँह थे, अनेक शरीर थे, मुखों के आधे भाग भग्न थे, या बड़े-बड़े मुख थे ॥२०॥

भस्मारुणा लोहितविन्दुचित्राः खट्वाङ्गहस्ता हरिधूम्रकेशाः ।

लम्बस्त्रजो वारणलम्बकर्णश्चर्माम्बराद्चैव निरम्बराश्च ॥२१॥

वे भस्मसे रंगे थे, लाल विन्दुओंसे रंग-बिरंगे थे, उनके हाथोंमें खट्वाङ्ग (= खाटके अंग या नर-पञ्चर) थे, कैश बानरके समान धूम्रवर्णके थे, लम्बी (मुण्ड-) मालाएँ थीं, हाथीके समान लम्बे कान थे, वे चमड़ेके कपड़े पहने हुए थे या बछ-हीन थे ॥२१॥

श्वेतार्धवक्त्रा हरितार्धकायास्ताम्राश्च धूम्रा हरयोऽसिताश्च ।

व्यालोत्तरासङ्गभुजास्तथैव

प्रघृष्टघण्टाकुलमेखलाश्च ॥२२॥

उनके आधे मुँह सफेद थे, आधे शरीर हरे थे, वे ताम्र-वर्ण व धूम्र-वर्ण थे, पीले व काले थे, उनकी भुजाएँ साँपोंसे ढकी थीं, बजती घण्टियोंसे उनके कटि-सूत्र आकुल थे ॥ २२ ॥

तालप्रमाणाश्च गृहीतशूला दंष्ट्राकरालाश्च शिशुप्रमाणाः ।

उरभ्रवक्त्राश्च विहंगमाक्षा मार्जारवक्त्राश्च मनुष्यकायाः ॥२३॥

वे तालवृक्षके समान लम्बे थे और शूल पकड़े हुए थे, बच्चोंके आकारके थे और दाढ़ोंसे भयानक लगते थे । भेड़ोंके-से उनके मुँह थे और चिड़ियों की-सी आँखें थीं, बिलाड़ोंके-से मुँह थे और मनुष्यके-से शरीर थे ॥ २३ ॥

प्रकीर्णकेशाः शिखिनोऽर्धसुण्डा रक्ताम्बरा व्याकुलवेष्टनाश्च ।

प्रहृष्टवक्त्रा भृकुटीमुखाश्च तेजोहराइचैव मनोहराश्च ॥२४॥

उनके बाल बिखरे हुए थे, वे शिखा-धारी थे, अधमुण्डे थे, लाल चत्तु पहने थे, उनकी पगड़ियाँ उलटी-पुलटी थीं । उनके मुख उत्साहित थे, मुखों पर भृकुटी थी, वे तेज हरण करनेवाले थे और मन हरण करनेवाले थे ॥ २४ ॥

केचिद्द्रवजन्तो भृशमाववल्गुरन्योऽन्यमापुण्डुविरे तथान्ये ।

चिक्रीहुराकाशगताश्च केचित्केचिच्च चेष्टस्तरमस्तकेषु ॥२५॥

कोई-कोई जाते हुए जोरों से कूदते थे और दूसरे एक-दूसरेपर उछलते थे ।

कोई आकाशमें जाकर खेलते थे और कोई वृक्ष-शिखरोंपर चलते थे ॥ २५ ॥

ननर्त कश्चिद्भ्रमयंक्षिशूलं कश्चिद्दिपुस्फूर्जं गदां विकर्षन् ।

हर्षेण कश्चिद्वृष्टवन्ननर्दं कश्चित्प्रजज्वालं तनूरुदेभ्यः ॥२६॥

कोई त्रिशूल धुमाता हुआ नाचता था, कोई गदा खींचता हुआ गरजता था । कोई हर्षसे साँड़के समान गरजा और किसीके रोमसे ज्वाला निकली ॥ २६ ॥

एवंविधा भूतगणाः समन्तात्तद्वोधिमूलं परिवार्य तस्थुः ।

जिघृक्षवश्चैव जिघांसवश्च भर्तुर्निर्योगं परिपालयन्तः ॥२७॥

इस प्रकारके भूत उस बोधि-वृक्षके मूलको चारों ओरसे धेरकर खड़े हो गये । वे पकड़ना चाहते थे और हत्या करना चाहते थे, स्वामीकी आज्ञाकी प्रतीक्षा कर रहे थे ॥ २७ ॥

तं प्रेक्ष्य मारस्य च पूर्वरात्रे शाक्यर्थभस्त्रैव च युद्धकालम् ।
न द्यौश्चकाशो पृथिवी चकम्पे प्रजज्वलुश्चैव दिशः सशब्दाः ॥२८॥

रात्रिके आरम्भमें मार-ब शाक्य-ऋषभका युद्ध-काल देखकर, आकाश चमका नहीं, पृथिवी काँपी, एवं शब्द करती हुई दिशाएँ प्रज्वलित हुईं ॥२८॥
विष्वग्ववौ वायुरुदीर्णवेगस्तारा न रेजुर्न वभौ शशाङ्कः ।
तमश्च भूयो विततान रात्रिः सर्वे च संचुक्षुभिरे समुद्राः ॥२९॥

खुले वेगसे हवा चारों ओर बही, न तारे शोभित हुए और न चन्द्रमा ।
रात्रिने और भी अन्धकार फैलाया और सब समुद्रोंमें क्षोभ हुआ ॥२९॥

महीभृतो धर्मपराश्र नागा महासुनोर्विघ्नमसृष्यमाणाः
मारं प्रति क्रोधविवृत्तनेत्रा निःशशसुश्चैव जजृम्भिरे च ॥३०॥

और पृथिवीको धारण करनेवाले धर्मपरायण नागोंने महासुनिका विघ्न नहीं
सहा; मारके प्रति क्रोधसे आँखें छुमाकर उन्होंने फुफकार किया और ज़ंभाई
ली ॥ ३० ॥

शुद्धाधिवासा विवुधर्षयस्तु सद्गर्मसिद्धयर्थमभिग्रवृत्ताः ।
मारेऽनुकम्पां मनसा प्रचक्रुर्विरागभावात्तु न रोषमीयुः ॥३१॥

किन्तु शुद्धाधिवास देवोंने, जो सद्गर्मकी सिद्धिमें लगे हुए थे, मारके ऊपर
मनमें अनुकम्पा की, राग-रहित होनेके कारण उन्होंने क्रोध नहीं किया ॥३१॥
तदवोधिमूलं समवेक्ष्य कीर्णं हिंसात्मना मारबलेन तेन ।
धर्मात्मभिर्लोकविमोक्षकामैर्बूब द्वाहाकृतमन्तरीक्षे ॥३२॥

उस हिंसात्मक मार-बलसे उस बोधि-वृक्षके मूलको भरा हुआ देखकर
संसारका मोक्ष चाहनेवाले धर्मात्माओंने अन्तरिक्षमें हाहाकार किया ॥३२॥

उपप्लवं धर्मविधेस्तु तस्य दृष्टा स्थितं मारबलं महर्षिः ।
न चुक्षुभे नापि यथौ विकारं मध्ये गवां सिंह इवोपविष्टः ॥३३॥

वहाँपर स्थित मार-बल उस धर्म-विधिमें बाधक है, यह देखकर गौओंके
बीच बैठे हुए सिंहके समान, महर्षिको न क्षोभ हुआ, न विकार(=भय) ॥३३॥

मारस्ततो भूतचमूमुदीर्णमाशापयामास भयाय तस्य ।
स्वैः स्वैः प्रभावैरथ सास्य सेना तद्वैर्यभेदाय मति चकार ॥३४॥

तब खुली हुई भूत-सेनाको मारने उसे डरानेकी आशा दी और उसकी उस-

सेनाने अपने प्रभावोंसे उसका धैर्य भङ्ग करनेका निश्चय किया ॥ ३४ ॥
केचिच्चलच्छैकविलम्बजिह्वास्तीक्षणग्रद्दृष्ट हरिमण्डलाक्षाः ।

विदारितास्याः स्थिरशङ्कुकर्णाः संत्रासयन्तः किल नाम तस्युः ॥३५॥

कुछ (भूत) उसे डरानेकी कोशिश करते हुए खड़े रहे; उनकी लटकती हुई अनेक जीमें हिल रही थीं, दाँतोंके अग्रभाग तेज थे, आँखें सूर्य-मण्डलके समान थीं, मुँह खुले हुए थे और कान बर्ढ़के समान कठोर थे ॥३५॥

तेभ्यः स्थितेभ्यः स तथाविधेभ्यः रूपेण भावेन च दारुणेभ्यः ।

न विच्यथे नोद्विविजे महर्षिः क्रीडत्सुबालेभ्य इवोद्धतेभ्यः ॥३६॥

खड़े हुए वैसे उन (भूतों)से, जो रूप व भावसे दारुण थे, महर्षिको न व्यथा हुई न भय, जैसे खेलमें उत्तेजित बालकोंमें (न व्यथा होती है, न भय) ॥३६॥
कश्चित्ततो रोषविवृत्तदृष्टस्तरमै गदामुद्यमयांचकार ।

तस्तम्भ बाहुः सगदस्ततोऽर्थं पुरंदरस्येव पुरा सवज्जः ॥३७॥

तब किसीने रोषसे आँखें हुमाकर उसके ऊपर गदा उठाई; किन्तु गदा-सहित उसकी बाहु वैसे ही स्तम्भित हो गई, जैसे प्राचीन समयमें इन्द्रकी वज्र-युक्त बाहु ॥ ३७ ॥

केचित्समुद्यम्य शिलास्तर्चश्च विषेहिरे नैव मुनौ विमोक्तुम् ।

पेतुः सवृक्षाः सशिलास्तर्थैव वज्रावभग्ना इव विन्ध्यपादाः ॥३८॥

कतिपयोंने शिलाएँ व वृक्ष उठाये, किन्तु मुनिपर छोड़ न सके। वृक्षों व शिलाओंके साथ वे वैसे ही गिरे जैसे वज्रसे भग्न हुए विन्ध्याचलके पाद ॥३८॥
कैश्चित्समुत्पत्य नभो विमुक्ताः शिलाश्च वृक्षाश्च परश्वधाश्च ।

तस्थुर्नभस्येव न चावपेतुः संध्याभ्रपादा इव नैकवर्णाः ॥३९॥

कतिपयोंने आकाशमें उड़कर जो शिलाएँ, वृक्ष व कुठार छोड़े, वे गिरे नहीं, आकाशमें ही रहे, जैसे संध्याकालीन बादलोंके रंग-बिरंगे ढुकड़े हों ॥३९॥
विक्षेप तस्योपरि दीसमन्यः कड़ज्ञरं पर्वतशृङ्गमात्रम् ।

यन्मुक्तमात्रं गगनस्थमेव तस्यानुभावाच्छतधा पफाल ॥४०॥

दूसरेने उसके ऊपर पहाड़की चोटीके बराबर जलता कुंदा फैका; जैसे ही यह फैका गया कि उस (मुनि) के प्रभावसे आकाशमें ही इसके सौ ढुकड़े हो गये ॥ ४० ॥

**कथित्वलब्धकं इवोदितः खादज्ञारवर्षं महदुत्ससर्ज ।
चूर्णानि चामीकरकन्दराणां कल्पात्यये मेरुरिव प्रदीप्तः ॥४१॥**

उदय होते सूर्यके समान जलते हुए किसीने आकाशसे अङ्गरोंकी झड़ी लगा दी, जैसे कल्पके अन्तमें जलता हुआ मेरु पर्वत सुवर्ण-कन्दराओंके चूर्ण बरसा रहा हो ॥४१॥

**तद्बोधिमूले प्रविकीर्यमाणमंगारवर्षं तु सविस्फुलिंगम् ।
मैत्रीविहारादपिसत्तमस्य वभूव रक्तोत्पलपत्रवर्षः ॥४२॥**

उस बोधि-वृक्षके मूलमें स्फुलिङ्गोंके साथ जो अङ्गार-वृष्टि की जा रही थी, वह ऋषि श्रेष्ठ के मैत्रीमें विहार करनेके कारण (= सबके प्रति मैत्री-भाव रखनेके कारण) लाल कमलोंके पत्तोंकी वृष्टि (में परिणत) हो गई ॥४२॥

**शरीरचित्तव्यसनातपैस्तैरेवंविधौस्तैश्च निपात्यमानैः ।
नैवासनाच्छाक्यमुनिश्चाल स्वनिश्चयं वनधुमिवोपगुहा ॥४३॥**

यद्यपि शरीर व मनके लिए ऐसी विपत्तियाँ व पीड़ाएँ दी जा रही थीं, तो भी अपने निश्चयका वनधुके समान आलिङ्गन कर शाक्यमुनि आसनसे विचलित नहीं हुआ ॥४३॥

**अथापरे निर्जिगिलुमुखेभ्यः सर्पान्विजीर्णभ्य इव द्रुमेभ्यः ।
ते मन्त्रवद्धा इव तत्समीपे न शश्वसुर्नैत्सस्तुपुर्न चेद्गुः ॥४४॥**

तब दूसरोंने अपने मुखोंसे, जैसे जीर्ण वृक्षोंसे, साँप उगले । वे (सर्प) मानो मन्त्र-बद्ध होकर उसके समीप न फुककारे, न ऊपर उठे और न चले ॥ ४४ ॥

**भूत्वापरे वारिधरा वृहन्तः सविद्युतः साशनिचण्डघोषाः ।
तस्मिन्द्रुमे तत्यजुरश्मवर्षं तत्पुष्पवर्षं रुचिरं वभूव ॥४५॥**

वज्रके प्रचण्ड घोष तथा विजलीसे शुक्त विशाल बादल बनकर दूसरोंने उस वृक्षपर अश्म-वृष्टि की, जो रुचिर पुष्प-वृष्टि (में परिणत) हो गई ॥४५॥

**चापेऽथ वाणो निहितोऽपरेण जज्वाल तत्रैव न निष्पपात ।
अनीश्वरस्यात्मनि धूयमानो दुर्मर्षणस्येव नरस्य मन्युः ॥४६॥**

दूसरेने धनुषपर वाण रखा, जो वहीं प्रज्वलित हुआ, छूटा नहीं, जैसे ऐश्वर्य-रहित क्रोधी मनुष्यका क्रोध अपनेमें ही बीजित होता है, वहीं धधकता है, निकलता नहीं है ॥४६॥

पञ्चेषवोऽन्येन तु विप्रमुक्तास्तस्थुर्भस्येव मुनौ न पेतुः ।
संसारभीरोर्विषयप्रवृत्तौ पञ्चेन्द्रियाणीव परीक्षकस्य ॥४७॥

दूसरे के द्वारा छोड़े गये पाँच बाण आकाशमें (ही रहे, मुनिपर गिरे नहीं, जैसे विषय उपस्थित होनेपर संसार (= जन्म-चक्र) से डरनेवाले पारखी की पाँचों इनिद्रियों स्थिर रहती हैं, परित नहीं होती हैं ॥४७॥

जिघांस्यान्यः प्रससार रुष्टो गदां गृहीत्वाभिमुखो महर्षेः ।
सोऽप्राप्तकामो विवशः पपात दोषेष्विवानर्थकरेषु लोकः ॥४८॥

दूसरा हत्या करनेकी इच्छासे रुष्ट हो गदा लेकर महर्षिके सामने दौड़ पड़ा; वह विफल-मनोरथ विवश होकर गिर पड़ा, जैसे (विफल मनोरथ) जगत् (विवश होकर) अनर्थकारी दोषोंमें गिरता है ॥४८॥

खी मेघकाली तु कपालहृस्ता कर्तुं महर्षेः किल चित्तमोहम् ।
बध्राम तत्रानियतं न तस्यौ चलात्मनो बुद्धिरिवागमेषु ॥४९॥

मेघके समान काली खी हाथमें कपाल लेकर महर्षिका चित्त-मोह करनेके लिए वहाँ अनियंत्रित होकर धूमी, खड़ी नहीं रही, जैसे चञ्चल मनवालेकी बुद्धि (विविध) शास्त्रोंमें अनिश्चित होकर भटकती है, स्थिर नहीं होती है ॥४९॥

कथित्प्रदीप्तं प्रणिधाय चक्षुर्नेत्राग्निनाशीविषवद्विधक्षुः ।
तत्रैव नासीनमृष्टिं ददर्श कामात्मकः श्रेय इवोपदिष्टम् ॥५०॥

किसीने जलती आँखें (उसकी ओर) स्थिर करके आँखोंकी अग्निसे साँप-के समान उसे जलाना चाहा; किन्तु वहाँ पर बैठे हुए ऋषिको देखा नहीं, जैसे कामात्मा पुरुष बताये हुए कल्याणको नहीं देखता है ॥५०॥

गुर्वीं शिलामुद्यमर्यस्तथान्यः शश्राम मोघं विहतप्रयत्नः ।
निःश्रेयसं ज्ञानसमाधिगम्यं कायक्लमैर्धर्मभिवाप्तुकामः ॥५१॥

भारी शिलाको उठाते हुए दूसरेने व्यर्थ श्रम किया, उसका प्रयत्न नष्ट हुआ, जैसे ज्ञान व समाधिसे प्राप्य धर्मको शारीरिक क्लेशोंसे पानेकी इच्छा करनेवाला व्यर्थ श्रम करता है, उसका प्रयत्न नष्ट होता है ॥५१॥

तरक्षुसिंहाकृतयस्तथान्ये प्रणेदुरुच्चर्महतः प्रणादान् ।
सत्त्वानि यैः संचुकुचुः समन्ताद्वज्राहता द्यौः फलतीति मत्वा ॥५२॥

तेंदुए और सिंहकी आकृतिवाले दूसरोंने जोरोंसे महा-गर्जन किये, जिनसे

जीव (डरके मारे) चारों-ओर सिकुड़ गये, यह समझकर कि बज्रसे आहत होकर आकाश फट रहा है ॥५२॥

मृगा गजाश्चार्तरवान् सृजन्तो विदुदुवुश्चैव निलिखियरे च ।
रात्रौ च तस्यामहनीव दिग्भ्यः खगा रुवन्तः परिपेतुरारातोः ॥५३॥

मृग और हाथी आर्त-नाद करते हुए दौड़कर छिप गये और पक्षीगण आर्त होकर उस रातको दिनकी तरह बोलते हुए चारों ओर घूमे ॥५३॥
तेषां प्रणादैस्तु तथाविधैस्तैः सर्वेषु भूतेष्वपि कस्पितेषु ।
मुनिर्न तत्रास न संचुकोच रवैर्गस्त्वमानिव वायसानाम् ॥५४॥

किन्तु उनके वैसे उन शब्दोंसे सब जीवोंके काँपनेपर भी मुनि न ढरा, न सिकुदा, जैसे कौओंके शब्दोंसे गरुड़ न डरता है, न सिकुड़ता है ॥५४॥

भयावहेभ्यः परिषद्गणेभ्यो यथा यथा नैव मुनिर्विभाय ।
तथा तथा धर्मभृतां सपत्नः शोकाच्च रोषाच्च ससाद मारः ॥५५॥

भय-प्रद परिषद्-गणोंसे जैसे-जैसे मुनि नहीं ढरा, वैसे-वैसे धर्म-पालकोंके शत्रु मारको शोक और रोषसे ग्लानि हुई ॥५५॥

भूतं ततः किंचिद्वश्यरूपं विशिष्टभूतं गगनस्थमेव ।
दृष्ट्वर्षये द्रुग्धमवैररुषं मारं वभाषे महता स्वरेण ॥५६॥

तब अदश्यरूप किसी विशिष्ट जीवने आकाशसे ही ऋषिके प्रति द्रोही व विना वैरके ही रुष हुए मारको देखकर गम्भीर स्वरमें कहा— ॥५६॥

मोर्धं श्रमं नार्हसि मार कर्तुं हिंस्तात्मतामुत्सृज गच्छ शर्मे ।

नैष त्वया कम्पयितुं हि शक्यो महागिरिर्मेश्वरिवानिलेन ॥५७॥

“हे मार तुम्हें व्यर्थ श्रम नहीं करना चाहिए, हिंसा-भाव छोड़ो और शान्त हो जाओ; क्योंकि तुम इसे कँपा नहीं सकते, जैसे हवासे महापर्वत में नहीं कँपाया जा सकता ॥५७॥

अप्युष्णभावं ज्वलनः प्रजह्यादापो द्रवत्वं पृथिवी स्थिरत्वम् ।

अनेककल्पाचितपुण्यकर्मा न त्वेव जह्यादन्त्यवसायमेषः ॥५८॥

अग्नि उष्णता छोड़ दे, पानी द्रवत्व छोड़ दे, पृथिवी स्थिरता छोड़ दे; किंतु यह, जिसने अनेक कल्पोंमें पुण्य एकत्र किये हैं, अपना निश्चय न छोड़ेगा ॥५८॥

यो निश्चयो हास्य पराकमश्च तेजश्च यद्या च दया प्रजासु ।
 अप्राप्य नोत्थास्यति तत्त्वमेष तमांस्यहत्वेव सहस्रराइमः ॥५९॥

क्योंकि इसका जो निश्चय है, जो पराक्रम है, जो तेज है और जीवोंके प्रति जो दया है, (उससे तो यही जान पड़ता है कि) तत्त्व को प्राप्त किये बिना यह नहीं उठेगा जैसे अभ्यकारको नष्ट किये बिना सूर्ज नहीं उगता है ॥५९॥

काष्ठं हि मथन् लभते हुताशं भूमिं खनन्वन्दति चापि तोयम् ।
 निर्वन्धिनः किञ्चन नास्त्यसाध्यं न्यायेन युक्तं च कृतं च सर्वम् ॥६०॥

काठको खोदनेवाला (आदमी) अग्नि प्राप्त करता है और पृथिवीको खोदनेवाला जल प्राप्त करता है । हठी (= आग्रही) के लिए कुछ भी असाध्य नहीं है । उचित तरीकेके साथ करनेपर सब कुछ किया जा सकता है ॥६०॥

तल्लोकमार्तं करुणायमानो रोगेषु रागादिषु वर्तमानम् ।
 महाभिषङ् नार्हति विघ्नमेष ज्ञानौषधार्थं परिखिद्यमानः ॥६१॥

राग आदि रोगोंमें पड़े हुए आर्त जगत्के ऊपर करुणा करनेवाला महावैद्य ज्ञानरूप औषधके लिए कष्ट उठा रहा है, इसलिए यह विधके योग्य नहीं है ॥ ६१ ॥

हृते च लोके बहुभिः कुमारैः सन्यार्गमन्विच्छाति यः श्रमेण ।
 स दैशिकः क्षोभयितुं न युक्तं सुदेशिकः सार्थं इव प्रनष्टे ॥६२॥

अनेक कुमारों द्वारा संसारका अपहरण होनेपर जो श्रमपूर्वक सन्यार्गको खोज रहा है उस उपदेशक (= पथ-प्रदर्शक) को क्षुब्ध करना ठीक नहीं ॥६२॥

सत्त्वेषु नष्टेषु महान्धकारे ज्ञानप्रदीपः क्रियमाण एषः ।
 आर्यस्य निर्वापयितुं न साधु प्रज्वाल्यमानस्तमसीव दीपः ॥६३॥

महा-अन्धकारमें जीवोंके भटकनेपर यह ज्ञान-प्रदीप हो रहा है; अँधेरेमें जलाये जाते दीपके समान उसे निर्वापित करना (= शान्त करना, मार डालना, बुझाना) आर्यके लिए ठीक नहीं ॥ ६३ ॥

दृष्टा च संसारमये महौघे मग्नं जगत्पारमविन्दमानम् ।
 यद्यच्चेदमुक्तारथितुं प्रवृत्तः कश्चिचन्तयेत्स्य तु पापमार्यः ॥६४॥

जन्म-चक्ररूपी महाबाढ़में छावा हुआ जगत् पार नहीं पा रहा है, यह देख-कर इसे उबारनेमें जो लगा हुआ है उसके प्रति पाप-कर्मकी चिन्ता कौन आर्य पुरुष करेगा ? ॥ ६४ ॥

क्षमाशिफो धैर्यविगाढमूलश्चारित्रपुष्पः स्मृतिबुद्धिशाखः ।
ज्ञानद्रुमो धर्मफलप्रदाता नोत्पाटनं हर्षति वर्धमानः ॥६५॥

यह बढ़ता हुआ ज्ञान-वृक्ष—क्षमा ही जिसकी जटा है, धैर्य ही जिसका गहरा मूल है, चरित्र ही जिसके फूल हैं, स्मृति व बुद्धि ही जिसकी शाखाएँ हैं और जो धर्मरूपी फल देता है—काटा जाने योग्य नहीं ॥६५॥

वज्चां दृढैश्चेतसि मोहपाशैर्यस्य प्रजां मोक्षयितुं मनीषा ।
तस्मिन् जिधांसा तव नोपन्ना श्रान्ते जगद्वन्धनमोक्षहेतोः ॥६६॥

मनमें मोहके दृढ़ वन्धनोंसे बँधे हुए जीवोंको यह मुक्त करना चाहता है; जगत्का वन्धन खोलनेके लिए श्रम करनेवाले उस मुनिको मार डालनेकी तुम्हारी इच्छा उचित नहीं ॥६६॥

वोधाय कर्माणि हि यान्यनेन कृतानि तेषां नियतोऽद्य कालः ।
स्थाने तथास्मिन्नुपविष्ट एष यथैव पूर्वे मुनयस्तथैव ॥६७॥

इसने बुद्धत्वके लिए जो कर्म किये, उनके पकनेका आज नियत समय है। इस स्थानपर यह उसी प्रकार बैठा हुआ है, जिस प्रकार पूर्वके मुनि बैठे थे ॥६७॥

एषा हि नाभिर्वसुधातलस्य कृत्सनेन युक्ता परमेण धाम्ना ।
भूमेरतोऽन्योऽस्ति हि न प्रदेशो वेगं समाधेविषहेत योऽस्य ॥६८॥

यह भूतल की नाभि है जो समस्त उत्तम प्रभावसे युक्त है; क्योंकि इस भूमिके अतिरिक्त दूसरा स्थान नहीं, जो इसकी समाधिका वेग सह सके ॥६८॥ तन्मा कृथाः शोकमुपेहि शान्तिं मा भून्महिम्ना तव मार मानः।
विश्राम्भितुं न क्षममधुवा श्रीश्चले पदे किं मदमभ्युपैषि ॥६९॥

इसलिए शोक मत करो, शान्त हो जाओ; हे मार, अपनी महिमाका अभिमान मत करो। चपल श्रीपर विश्वास करना उचित नहीं; अपनी स्थिति अस्थिर होनेपर क्यों मद कर रहे हो ?' ॥६९॥

ततः स संश्रुत्य च तस्य तद्वचो महामुनेः प्रेक्ष्य च निष्प्रकम्पताम् ।
जगाम मारो विमनो हतोद्यमः शरैर्जगच्छेतसि यैर्विहन्यते ॥७०॥

तब उसकी यह बात सुनकर और महामुनिकी स्थिरता देखकर विफल-प्रयत्न

६९—“विस्मय” के स्थान में “किं मद” रखा गया है।

मार, उदास होकर अपने उन तीरोंके साथ, जिनसे लोगोंका चित्त ग्रायल किया जाता है, चला गया ॥७०॥

**गतप्रहर्षा विफलीकृतश्रमा प्रविद्धपाषाणकड़रद्रुमा ।
दिशः प्रदुद्राव ततोऽस्य सा चमूर्हताश्रयेव द्विषता द्विषच्चमूः ॥७१॥**

तब उसकी वह सेना, जिसका आनन्द दूर हो गया था, जिसका श्रम विफल कर दिया गया था, जिसके पत्थर कुन्दे और वृक्ष विखरे पढ़े थे, चारों-ओर वैसे ही भाग गई जैसे शत्रु-द्वारा नायकके मारे जानेपर विपक्षी सेना (भाग जाती है) ॥७१॥

द्रवति सपरिपक्षे निर्जिते पुष्पकेतौ

जयति जिततमस्के नीरजस्के महर्षैः ।

युवतिरिव सहासा द्यौश्चकाशो सचन्द्रा ।

सुरभि च जलगर्भं पुष्पवर्षं पपात ॥७२॥

जब अपने पक्षके साथ पराजित होकर, मार भाग गया और जब (अश्वान-रूपी) अन्धकारको जीतनेवाला निर्मल (= राग-रहित) महर्षि विजयी हुआ, तब चन्द्रयुक्त आकाश हँसती युवतीके समान शोभित हुआ और सुगन्धित जल-पूर्ण पुष्प-वृष्टि हुई ॥७२॥

तथापि पापीयसि निर्जिते गते दिशः प्रसेदुः प्रबभौ निशाकरः ।

दिवो निपेतुर्भुवि पुष्पवृष्ट्यो रराज योषेव विकल्मषा निशा ॥७३॥

इति बुद्धचरिते महाकाव्येऽश्वघोषकृते मारविजयो नाम त्रयोदशः सर्गः ।

उस प्रकार वह पापी जब हारकर चला गया, तब दिशाएँ प्रसन्न हुईं, चन्द्रमा शोभित हुआ, आकाशसे पृथ्वीपर पुष्प-वृष्टि हुई और निष्पाप स्त्रीके समान निर्मल रात्रिकी शोभा हुई ॥७३॥

अश्वघोष-कृत बुद्धचरित महाकाव्यका “मारकी पराजय”

नामक त्रयोदश सर्ग समाप्त ।

७३—यह इलोक चीनी अनुवादमें नहीं है। कुछ लोग इसे प्रक्षिप्त बताते हैं। कीथने “संस्कृत साहित्यके इतिहास” में “अश्वघोषकी शैली व भाषा” के अन्तर्गत इसे उद्धृत किया है।

चतुर्दश सर्ग

बुद्धत्व-प्राप्ति

ततो मारबलं जित्वा धैर्येण च शमेन च ।

परमार्थं विजिहासुः स दध्यौ ध्यानकोविदः ॥ १ ॥

तब धैर्य और शान्तिसे मारकी सेनाको जीतकर परमार्थ जाननेकी इच्छासे
उस ध्यान-पटुने ध्यान किया ॥ १ ॥

सर्वेषु ध्यानविधिषु प्राप्य चैश्वर्यमुक्तम् ।

स्स्मार प्रथमे यामे पूर्वजन्मपरंपराम् ॥ २ ॥

और ध्यान-विधियोंपर उत्तम स्वामित्व (= अधिकार) प्राप्त कर प्रथम
पहरमें पूर्व-जन्मोंकी परम्पराका स्मरण किया ॥ २ ॥

अमुत्राहमर्थं नाम च्युतस्तस्मादिहागतः ।

इति जन्मसहस्राणि स्स्मारानुभवन्निव ॥ ३ ॥

“वहाँ मैं यह था, वहाँ से गिरकर यहाँ आया” इस तरह हजारों जन्मोंको
मानो अनुभव करते हुए स्मरण किया ॥ ३ ॥

समृत्वा जन्म च मृत्युं च तासु तासुपत्तिषु ।

ततः सत्त्वेषु काश्यणं चकार करुणात्मकः ॥ ४ ॥

तब उन जन्मोंमें उत्पत्ति व मौतका स्मरण कर करुणात्मकने जीवोंपर
करुणा की ॥ ४ ॥

कृत्वेह स्वजनोत्सर्गं पुनरन्यत्र च क्रियाः ।

अत्राणः खलु लोकोऽयं परिभ्रमति चक्रवत् ॥ ५ ॥

यहाँ स्वजनोंको छोड़, अन्यत्र (जन्म लेकर) कर्म करता है; इस तरह
अवश्य ही यह संसार रक्षा-रहित है और पहिएके समान घूमता रहता है ॥ ५ ॥

इत्येवं स्मरतस्तस्य बभूव नियतात्मनः ।

कदलीगर्भनिःसारः संसार इति निश्चयः ॥ ६ ॥

इस प्रकार स्मरण करते उस निश्चितात्माको यह निश्चय हुआ—“कदली-गर्भ (= केलेके पेड़के भीतरी भाग) के समान संसार असार है” ॥६॥

द्वितीये त्वागते यामे सोऽद्वितीयपराक्रमः ।

दिव्यं लेभै परं चक्षुः सर्वचक्षुष्मतां वरः ॥७॥

दूसरा पहर आनेपर उस अद्वितीय पराक्रमवालेने, जो सब दृष्टिवानोंमें श्रेष्ठ था, परम दिव्य चक्षु पाया ॥ ७ ॥

ततस्तेन म् दिव्येन परिशुद्धेन चक्षुषा ।

ददर्श निखिलं लोकमादर्शं इव निर्मले ॥८॥

तब उस अत्यन्त शुद्ध दिव्य चक्षुसे उसने समस्त जगत्को इस तरह देखा, जैसे निर्मल दर्पणमें देख रहा हो ॥८॥

सत्त्वानां पश्यतस्तस्य निकृष्टोत्कृष्टकर्मणाम् ।

प्रच्युतिं चोपपर्ति च वबृधे करुणात्मता ॥९॥

निकृष्ट व उत्कृष्ट कर्मवाले जीवोंका पतन व जन्म देखते हुए उसकी करुणा बढ़ी ॥९॥

इमे दुष्कृतकर्माणः प्राणिनो यान्ति दुर्गतिम् ।

इमेऽन्ये शुभकर्माणः प्रतिष्ठन्ते त्रिविष्टपे ॥१०॥

ये पाप-कर्मवाले प्राणी दुर्गतिकी प्राप्त होते हैं, ये दूसरे शुभ-कर्मवाले स्वर्ग-में स्थान पाते हैं ॥१०॥

उपपत्राः प्रतिभये नरके भृशदारुणे ।

अमी दुर्वैर्वहुविधैः पीड्यन्ते कृपणं वत ॥११॥

अत्यन्त दारुण व भयावह नरकमें उत्पन्न होकर वे (पापी) अनेक प्रकार-के दुःखोंसे पीड़ित होते हैं ॥११॥

पायन्ते कथितं केचिदग्निवर्णमयोरसम् ।

आरोप्यन्ते रुवन्तोऽन्ये निष्टस्तस्तम्भमायसम् ॥१२॥

कुछ लोगोंको पिघले हुए लोहेका पानी, जो आगके रंगका होता है, पिलाया जाता है; चिल्लाते हुए दूसरोंको लोहेके तपे खम्मेपर चढ़ाया जाता है ॥१२॥

पच्यन्ते पिष्टवत्केचिदयस्कुम्भीष्वाङ् मुखाः ।

दह्यन्ते करुणं केचिद्वीसेष्वज्ञारराशिषु ॥१३॥

कोई-कोई लोहेके कड़ाहोंमें औंधेन-मुख, पुएके समान, पकाये जाते हैं;
कोई-कोई जलते अँगारोंके देरपर कष्टपूर्वक जलाये जाते हैं ॥ १३ ॥

केचित्तीक्षणैरयोदंशैभक्ष्यन्ते दारुणैः इवभिः ।

केचिद्गृष्णैरयस्तुण्डैर्वायसैरायसैरिव ॥ १४ ॥

कोई-कोई लोहेके दाँतवाले तीक्ष्ण व दारुण कुत्तों द्वारा भक्षित होते हैं;
कोई-कोई लोहेकी ढीठ चौंचों (= चञ्चुओं) द्वारा, मानो लोहेके बने कौओं
द्वारा खाये जाते हैं ॥ १४ ॥

केचिदाहपरिश्रान्ताः शीतच्छायाभिकाङ्गक्षिणः ।

असिपत्रवनं नीलं बद्धा इव विश्रान्त्यमी ॥ १५ ॥

कोई-कोई दाहसे थककर शीतल छायाकी आकांक्षा करते हैं; वे नीले असि-
पत्र-वनमें (= तलवारोंके वनमें) बन्दीके समान प्रवेश करते हैं ॥ १५ ॥

पाठ्यन्ते दारुत्केचित्कुटारैर्वद्वाहवः ।

दुःखेऽपि न विपच्यन्ते कर्मभिर्धर्यारितासवः ॥ १६ ॥

कुछ, जिनकी भुजाएँ बँधी रहती हैं, कुठारों द्वारा लकड़ीके समान काटे
जाते हैं। दुःखमें भी उनका अन्त नहीं होता है; कर्मोंसे उनके प्राण धारण
किये जाते हैं ॥ १६ ॥

सुखं स्यादिति यत्कर्म कृतं दुःखनिवृत्तये ।

फलं तस्येदमवशैर्दुःखमेवोपभुज्यते ॥ १७ ॥

‘सुख होगा’ इस आशासे दुःख-निवृत्तिके लिए उन्होंने जो कर्म
किया था उसका यह दुःखमय फल ही वे बेचारे भोगते हैं ॥ १७ ॥

सुखार्थमशुभं कृत्वा य एते भृशदुःखिताः ।

आस्वादः स किमेतेषां करोति सुखमण्वपि ॥ १८ ॥

सुख पानेके लिए अशुभ (कर्म) करके जो ये अत्यन्त दुःखी हो रहे हैं,
क्या (अशुभका) वह आस्वाद थोड़ा-सा भी सुख इन्हें देता है ? ॥ १८ ॥

हसद्विर्यत्कृतं कर्म कलुषं कलुषात्मभिः ।

एतत्परिणामे काले क्रोशद्विरनुभूयते ॥ १९ ॥

पापात्मा हँसते हुए जो पाप-कर्म करते हैं, समय पकनेपर (उसका)
यह (फल) वे रोते हुए अनुभव करते हैं ॥ १९ ॥

यद्येवं पापकर्मणः पश्येयुः कर्मणां फलम् ।

वमेयुरुण्णं रुधिरं मर्मस्वभिहता इव ॥२०॥

यदि पाप-कर्म करनेवाले पाप-कर्मोंका ऐसा फल देखें, तो मर्मस्थलमें घायल हुएके समान उष्ण रुधिर वमन करें ॥२०॥

इमेऽन्ये कर्मभिश्चित्रैश्चित्तविस्पन्दसंभवैः ।

तिर्यग्योनौ विचित्रायामुपपन्नास्तपस्विनः ॥२१॥

ये दूसरे वेचारे चित्तकी चञ्चलतासे होनेवाले विविध कर्मोंके कारण पशु-पक्षियोंकी विविध योनिमें उत्पन्न होते हैं, ॥२१॥

मांसत्वग्वालदन्तार्थं वैरादपि मदादपि ।

हन्यन्ते कृपणं यत्र बन्धुनां पश्यतामपि ॥२२॥

जहाँ मांस त्वचा बाल व दाँतके लिए, या वैर व मदसे भी, और बन्धुओंके देखते रहने पर भी, वे दीनतापूर्वक मारे जाते हैं ॥२२॥

अशक्तुवन्तोऽप्यवशाः क्षुत्तर्षश्रमपीडिताः ।

गोऽश्वभूताश्च वाह्यन्ते प्रतोदक्षतमूर्तयः ॥२३॥

और बैल-घोड़े होनेपर, भूख प्यास व थकावटकी पीड़ासे विवश व अशक्त होनेपर भी, वे अंकुशोंसे क्षत-शरीर (घायल) होते हुए हाँके जाते हैं ॥२३॥

वाह्यन्ते गजभूताश्च बलीयांसोऽपि दुर्बलैः ।

अङ्गुशकिलष्टमूर्धानस्ताडिताः पादपार्णिभिः ॥२४॥

और हाथी होकर, बलवान् होनेपर भी, दुर्बलोंद्वारा अंकुशोंसे मस्तकों पर क्लेश पाते हुए तथा पाँवों व एड़ियोंसे ताड़ित होते हुए हाँके जाते हैं ॥२४॥

सत्स्वप्यन्येषु दुःखेषु दुःखं यत्र विशेषतः ।

परस्परविरोधाच्च पराधीनतयैव च ॥२५॥

अन्य : खोंके रहनेपर भी वहाँ (पशु पक्षियोंकी योनिमें) परस्पर-विरोध और पराधीनताके कारण विशेष दुःख है ॥२५॥

खस्थाः खस्थैर्हि वाध्यन्ते जलस्था जलचारिभिः ।

स्थलस्थाः स्थलसंस्थैश्च प्राप्य चैवेतरेतरैः ॥२६॥

आकाश-वासी आकाश-वासियों द्वारा, जल-चारी जल-चारियों द्वारा, स्थल-वासी स्थल-वासियों द्वारा परस्पर पीड़ित होते हैं ॥२६॥

उपपन्नास्तथा चेमे मात्सर्याकान्तचेतसः ।

पितॄलोके निरालोके कृपणं भुज्जते फलम् ॥२७॥

उसी प्रकार ये, जिनके चित्त परस्पर द्वेषसे आकान्त रहते हैं, आलोक-रहित प्रेत-लोकमें उत्पन्न होकर दीनतापूर्वक कर्म-फल भोगते हैं ॥२७॥

सूचीङ्गिद्रोपममुखाः पर्वतोपमकुक्षयः ।

क्षुत्तर्पजनितैर्दुःखैः पीड्यन्ते दुःखभागिनः ॥२८॥

सूर्यके छोटके समान मुखवाले और पर्वतके समान पेटवाले ये दुःख-भागी भूख-प्याससे उत्पन्न दुःखोंसे पीड़ित होते हैं ॥२८॥

आशया समतिकान्ता धार्यमाणाः स्वकर्मभिः ।

लभन्ते न ह्यमी भोक्तुं प्रविद्धान्यशुचीन्यपि ॥२९॥

आशा द्वारा अतिक्रमण किये जानेपर (अर्थात् निराश होनेपर) भी वे अपने कर्मों द्वारा धारण किये जाते हैं; फैकी गई अपवित्र वस्तु भी खानेको वे नहीं पाते ॥ २९ ॥

पुरुषो यदि जानीत मात्सर्यस्येवतां फलं ।

सर्वथा शिविवद्याच्छरीरावयवानपि ॥३०॥

पुरुष यदि द्वेषका ऐसा फल जानता, तो सब प्रकारसे शिविके सामने अपने शरीरके अवयव भी दान कर देता ॥३०॥

इमेऽन्ये नरकप्रख्ये गर्भसंज्ञेऽशुचिहृदे ।

उपपन्ना मनुष्येषु दुःखमर्ढन्ति जन्तवः ॥३१॥

ये दूसरे जन्तु नरकतुल्य गर्भ-नामक अपवित्र सरोवरमें उत्पन्न होकर मनुष्योंके बीच दुःख पाते हैं ॥ ३१ ॥

* * * *

शुरुमें जन्म-घड़ीमें ही तीक्ष्ण हाथोंसे पकड़े जाते हुए, मानो तेज तलवारोंसे काटे जाते हुए, वे खूब रोते हैं ॥३२॥

स्वजन उन्हें प्यार करते हैं, उनका पालन-पोषण व रक्षा करते हैं, अत्यन्त सावधानीसे संवर्धन करते हैं, और पीछे दुःखसे महादुःखमें जाते हुए वे अपने ही विविध कर्मोंसे कल्पित ही होते हैं ॥३३॥

और इस अवस्थामें तृष्णासे आकान्त मूर्ख “यह करना है और वह करना

है” इस तरह अधिकाधिक चिन्ता करते हुए, निरन्तर बहती धारामें बहते रहते हैं ॥३४॥

ये दूसरे, जिन्होंने पुण्य संचय किये हैं, स्वर्गमें जन्म लेते हैं और कामकी ज्वालाओंसे इस तरह जलते हैं जैसे आगमें जल रहे हैं ॥३५॥

और विषयोंमें अतुस ही वे वहाँसे गिरते हैं, उनकी आँखें ऊपर लगी रहती हैं, वे निस्तेज रहते हैं और अपनी मालाओंके सुरजानेसे दुःखी होते हैं ॥३६॥

जब अप्सराओंके प्रेमी असहाय होकर गिरते हैं, तब वे करुणापूर्वक उन्हें देखती हैं और अपने हाथोंसे उनके वस्त्र पकड़ती हैं ॥३७॥

विमानोंसे दीनतापूर्वक गिरते हुए प्रेमियोंको पकड़नेकी कोशिश करते समय, कुछ अप्सराएँ ऐसे देख पड़ती हैं जैसे झूलती हुई मोतीकी लड़ियोंके साथ वे पृथ्वीपर गिर रही हैं ॥३८॥

दूसरी, भाँति भाँतिकी मालाएँ व गहने पहनकर, अपने प्रेमियोंके दुःखमें पड़नेसे शोकित होकर, सहानुभूतिपूर्वक चञ्चल आँखोंसे उनका अनुसरण करती हैं ॥३९॥

उन गिरनेवालोंके प्रति प्रेम होनेसे अप्सराएँ हाथोंसे छाती पीटती हैं और मानो महा-पीड़िसे पीड़ित होकर उनमें आसक्त रहती हैं ॥४०॥

स्वर्गमें रहनेवाले “हा, चैत्ररथ वन ! हा, दिव्य सरोवर ! हा, मन्दाकिनी ! हा, प्रेयसी !” इस तरह विलाप करते हुए आर्त होकर पृथ्वीपर गिरते हैं ॥४१॥

यह देखते हुए कि उतने परिश्रमसे प्राप्त होनेवाला स्वर्ग अनिश्चित घक्षणिक है और इससे वियोग होनेपर ऐसा दुःख होता है, ॥४२॥

जगत्‌में यह नियम विशेष रूपसे ब्रुव है; जगत्‌का यह स्वभाव है और तो भी, लोग इसे ऐसा नहीं देखते ॥४३॥

दूसरे, जिन्होंने काम (-वासना) से अपनेको अलग रखा है, अपने मनमें निद्वय करते हैं कि उनका निवास शाश्वत है; तो भी वे स्वर्गसे दीनतापूर्वक गिरते हैं ॥४४॥

४१—हा चैत्ररथ हा वापि हा मन्दाकिनि हा प्रिये ।

इत्यार्ता विलपन्तोऽपि गां पतन्ति दिवौकसः ॥ — सौ० ग्यारह ५० ।

नरकोंमें अत्यन्त कष्ट है, पशुओंके बीच परस्पर भक्षण होता है, प्रेतोंके बीच भूख-प्यासका दुःख है, मनुष्योंके बीच तृष्णाओंका दुःख है ॥४५॥

प्रेम-मुक्त स्वर्गोंमें पुनर्जन्मका दुःख बहुत है । निरन्तर भ्रमणशील जीव-लोकके लिए निश्चय ही कहीं भी शान्ति नहीं ॥४६॥

संसार-चक्रकी यह धारा निराधार है और मरणशील है । इस तरह चारों ओरसे घिरे हुए जीव कहीं भी शान्ति नहीं पाते हैं ॥४७॥

इस तरह दिव्य दृष्टिसे उसने पाँच जीव-लोकोंका निरीक्षण किया और जीवन में कुछ भी सारवान् नहीं पाया, जैसे काटे जानेपर केलेके पेड़में कुछ सार नहीं मिलता है ॥४८॥

रात्रिका तीसरा पहर समीप आने पर, उस उत्तम ध्यान-ज्ञने जगत्के सच्चे स्वभावके बारेमें ध्यान किया :—॥४९॥

“अहो ! जीवित प्राणी केवल थकावट पाते हैं, बार-बार जन्म लेते हैं, बूढ़े होते हैं, मरकर चले जाते हैं और फिर जन्म लेते हैं ॥५०॥

और मनुष्यकी दृष्टि काम व मोहान्धकारसे ढकी रहती है और अपनी अन्धताकी अधिकतासे वह इस महादुःखसे निकलनेका सार्ग नहीं जानता है ।” ॥५१॥

इस तरह विचार कर उसने अपने मनमें सोचा, “सचमुच्चमें यह क्या है, जिसका अस्तित्व जरा-मरणका कारण है ?” ॥५२॥

सत्यकी गहराईतक प्रवेश कर उसने समझा कि जन्म होनेसे जरा-मरणकी उत्पत्ति होती है ॥५३॥

उसने देखा कि शिर होनेपर ही शिर-दर्द सम्भव है; क्योंकि वृक्षका जन्म होनेपर ही, यह काटकर गिराया जा सकता है ॥५४॥

तब उसने फिर सोचा, “यह जन्म किससे होता है ?” तब उसने ठीक-ठीक देखा कि कर्मभवसे जन्म होता है ॥५५॥

अपनी दिव्य दृष्टिसे उसने देखा कि प्रवृत्ति (= जीवन) कर्मसे होती है, न कि स्थासे या प्रकृतिसे या आत्मासे या अकारण ही ॥५६॥

जैसे बाँसकी पहली गिरह बुद्धिमानीसे काटनेपर सब तेजीसे ठीक हो जाता है (अर्थात् शेष बाँस अच्छी तरह चीरा जाता है), वैसे ही उसका ज्ञान उचित क्रमसे बढ़ा ॥५७॥

तब ऋषिने भवका कारण निश्चित करनेमें अपना मन लगाया । तब उसने देखा कि भवका कारण उपादानमें पाया जाता है ॥५८॥

जीवनके विविध शील-व्रतों, काम, आत्मवाद और असम्यक् दृष्टि ग्रहण करनेसे यह कर्म (उपादान) होता है, जैसे जलावन ग्रहण करनेसे अग्नि उत्पन्न होती है ॥५९॥

तब उसने सोचा—“उपादान किस कारणसे होता है ?” तब उसने पद्धाना कि उपादानका प्रत्यय (= कारण) तृष्णा में है ॥६०॥

जैसे हवाका साथ पाकर थोड़ी सी आगसे जंगल प्रज्वलित हो जाता है, वैसे ही तृष्णासे काम आदि महापाप होते हैं ॥६१॥

तब उसने सोचा—“तृष्णा किससे होती है ?” तब उसने निश्चय किया कि तृष्णाका कारण वेदना है ॥६२॥

वेदनाओंसे अभिभूत होकर मनुष्य उनकी वृत्तिके उपाय चाहते हैं; क्योंकि प्यासके अभावमें किसीको जलमें आनन्द नहीं आता (और प्यास लगनेपर ही पानीकी चाह होती है) ॥६३॥

तब उसने फिर ध्यान किया—“वेदनाका स्रोत क्या है ?” उसने, जिसने वेदनाका अन्त कर दिया था, देखा कि वेदनाका कारण स्पर्शमें है ॥६४॥

स्पर्शकी व्याख्या है, “वस्तु, इन्द्रिय और मनका संयोग” जिससे वेदना वैसे ही उत्पन्न होती है, जैसे दो अरणियों और जलावनके संयोगसे आग पैदा होती है ॥६५॥

तब उसने सोचा कि स्पर्शका भी कारण है । इसपर उसने जाना कि कारण छः आयतनों (= काय, मन, चक्षु, श्रोत्र, ग्राण और रसना)में है ॥६६॥

अन्धा वस्तुओंको नहीं देखता है, क्योंकि उसकी धाँख मनके साथ उन

५८—उपादान = भोग-प्राप्तिके लिए प्रयत्न करनेवालेकी तात्कालिक अवस्था—ध० को० ।

६२—वेदना = इन्द्रियों और विषयोंके स्पर्शसे होनेवाली अनुभूति; चक्षु-स्पर्श, श्रोत्र-स्पर्श, ग्राण-स्पर्श, जिह्वा-स्पर्श, काय-स्पर्श और मन-स्पर्शसे उत्पन्न होनेवाली वेदना ।

(वस्तुओं) का संयोग नहीं करती है; दृष्टि होनेपर संयोग होता है। इसलिए छः आयतनोंके होनेपर स्पर्श होता है ॥ ६७ ॥

फिर उसने छः आयतनोंका कारण जाननेका निश्चय किया। तब उस कारण-ज्ञने नामरूपको कारण जाना ॥ ६८ ॥

जैसे अंकुरका अस्तित्व होनेपर ही पत्ते व तनेका अस्तित्व होता है, वैसे ही नाम-रूपका अस्तित्व होनेपर ही छः आयतन होते हैं ॥ ६९ ॥

तब उसने सोचा—“नाम-रूपका क्या कारण है?” इसपर उसने, जो ज्ञानके उस पारतक पहुँच चुका था, इसका कारण विज्ञान (= संश्या, चेतना) में देखा ॥ ७० ॥

विज्ञानका उदय होनेपर नाम-रूप उत्पन्न होता है। बीजका विकास पूर्ण होनेपर अंकुर शारीरिक रूप धारण करता है ॥ ७१ ॥

फिर उसने सोचा—“विज्ञान किससे पैदा होता है?” तब उसने जाना कि नाम-रूपका आश्रय लेकर यह पैदा होता है ॥ ७२ ॥

तब निमित्त-नैमित्तिकका क्रम समझनेके बाद उसने इसपर विचार किया; उसका मन उसके द्वारा स्थिर किये गये विचारोंमें विचरा और दूसरी बातोंकी ओर नहीं गया ॥ ७३ ॥

विज्ञान प्रत्यय है जिससे नाम-रूप पैदा होता है। और नाम-रूप आधार है जिसपर विज्ञान आश्रित है ॥ ७४ ॥

जैसे (जलमें) नाव आदमीको ढोती है (और स्थलपर आदमी नावको ढोता है), वैसे ही विज्ञान व नामरूप एक दूसरेके कारण हैं ॥ ७५ ॥

जैसे तपा हुआ लोहा तृणको प्रज्वलित करता है और प्रज्वलित तृण लोहे को तपाता है, वैसे ही उनका पारस्परिक कार्य-कारण-सम्बन्ध है ॥ ७६ ॥

इस तरह उसने समझा कि विज्ञानसे नाम-रूपका उदय होता है, नाम-रूपसे आयतन पैदा होते हैं और आयतनोंसे स्पर्शका उदय होता है ॥ ७७ ॥

उसने जाना कि स्पर्शसे वेदना, वेदनासे तृष्णा, तृष्णासे उपादान, और वैसे ही उपादानसे भव उत्पन्न होता है ॥ ७८ ॥

भवसे जन्म होता है, जन्मसे जरा-मरणका उदय उसने जाना। उसने ठीक ठीक समझा कि प्रत्ययोंसे संसार उत्पन्न होता है ॥ ७९ ॥

तब उसे यह दृढ़ निश्चय हुआ कि जन्म-विनाशसे जरा-मरणका निरोध होता है, भव-विनाशसे स्वयं जन्म नष्ट होता है और उपादानके निरोधसे भव बन्द हो जाता है ॥ ८० ॥

फिर तृष्णा-निरोधसे उपादानका निरोध होता है; यदि वेदनाका अस्तित्व नहीं, तो तृष्णाका अस्तित्व नहीं; स्पर्शका नाश होनेसे वेदना पैदा नहीं होती; छः आयतनोंका अस्तित्व नहीं होनेपर स्पर्शका नाश होता है ॥ ८१ ॥

उसी प्रकार नाम-रूपका सम्यक् निरोध होनेपर छः आयतन भी नष्ट हो जाते हैं; और विज्ञानका निरोध होनेसे नाम-रूपका निरोध होता है; और संस्कारोंका निरोध होनेसे विज्ञानका निरोध होता है ॥ ८२ ॥

उसी प्रकार महर्षिने समझा कि अविद्याके सर्वथा अभावसे संस्कारोंका निरोध होता है। इसलिए उसने ज्येयको उचित रीतिसे जाना और वह संसार-के सामने बुद्ध होकर खड़ा हुआ ॥ ८३ ॥

उस नर-श्रेष्ठने भवके ऊपरसे नीचेतक कहीं आत्माको नहीं देखा और परम ज्ञानके अष्टाङ्गिक मार्ग द्वारा, जो शुरू होकर जल्द ही इष्ट स्थानको पहुँचता है, शान्तिको प्राप्त किया, जैसे जलावनके जलनेपर अग्नि (शान्तिको प्राप्त करती है) ॥ ४ ॥

तब पूर्णता प्राप्त करनेपर उसके मनमें यह विचार हुआ—“मैंने यह पूर्ण मार्ग प्राप्त किया है, जिसपर भली-बुरी बातोंको जाननेवाले पूर्वके महर्षि-वंश परमार्थके लिए चले थे ॥ ८५ ॥

चौथे पहरके उस क्षणमें जब उपाका आगमन हुआ और जब सब चराचर शान्त थे, महर्षिने अविनाशी पद प्राप्त किया, उत्तम नायकने सर्वज्ञता प्राप्त की ॥ ८६ ॥

जब बुद्ध होकर उनने इस तत्त्वको जाना, तब मदिरासे माती कामिनीके समान पृथ्वी काँपी, सिद्ध-सङ्घोंके साथ दिशाएँ दीप्त हुईं और आकाशमें बड़ी दुन्दुभियाँ बर्जीं ॥ ८७ ॥

सुख देनेवाली हवा धीरे-धीरे बही, देवने अनभ्र आकाशसे जल-वृष्टि की और वृक्षोंने मानो उसका सम्मान करनेके लिए, असमयमें फल-फूल गिराये ॥ ८८ ॥

उस समय, जैसे स्वर्गमें, मान्दारव फूल, सुवर्ण व वैदूर्यके कमल व कुमुद आकाशसे गिरे और उनसे शाक्य-ऋषिका स्थान भर गया ॥८९॥

उस क्षण किसीको क्रोध नहीं हुआ, कोई बीमार नहीं था, किसीने पाप-मार्गका आश्रय नहीं लिया, किसीने मनमें मद नहीं किया; जगत् इस तरह शान्त हुआ, जैसे उसने पूर्णता प्राप्त की हो ॥९०॥

मोक्षमें प्रवृत्त देव-सङ्घ प्रसन्न हुए, नीचेके लोकोंमें रहनेवाले जीव भी आनन्दित हुए। धर्म-प्रिय सङ्घकी समृद्धिसे धर्मका चारों ओर प्रचार हुआ और जगत्, काम व अज्ञानरूप अन्धकारके ऊपर उठा ॥९१॥

इक्ष्वाकु-चंशके ऋषि, जो पहले मनुष्योंके शासक थे, राजिं व महिं उनकी सिद्धिसे आनन्दित व विस्मित होकर अपने दिव्य विमानोंमें उनका सम्मान करते हुए खड़े हुए ॥९२॥

अहश्य जीव-समूहोंके महिंगणने ऊँचे स्वरसे उनकी स्तुति की और जीव-समूह इस तरह आनन्दित हुआ, जैसे उसकी बढ़ती हो रही हो। किन्तु मार वैसे ही निराश हुआ, जैसे किसी महाविपत्तिसे पूर्व (निराशा होती है) ॥९३॥

तब सात दिनोंतक, शारीरिक क्लेशसे मुक्त होकर, निरन्तर निश्चल आँखों-से अपने ही चित्तको देखते हुए वह बैठे रहे। “इस स्थानपर मैंने मुक्ति पाई” इस तरह चिंतन करते हुए उनने अपनी हार्दिक अभिलापा पूरी की ॥९४॥

तब ऋषिने, जो कार्य-कारणका सिद्धान्त समझ चुके थे और जो अनात्म-वादकी पद्धतिमें दृढ़तापूर्वक स्थिर थे, अपनेको जगाया और महाकस्त्रासे युक्त होकर, जगत्को उसकी शान्तिके लिए अपनी बुद्ध-दृष्टिसे देखा ॥९५॥

जगत् मिथ्या विचारों और व्यर्थ प्रयत्नोंमें नष्ट हो रहा है, इसकी काम-वासनाएँ अधिक हैं, और मोक्ष-धर्म अत्यन्त सूक्ष्म है, यह देखकर उनने अविचल रहनेका निश्चय किया ॥९६॥

तब अपनी पहली प्रतिज्ञा याद कर उनने शान्तिका उपदेश देनेका निश्चय किया। इसपर उनने अपने मनमें सोचा कि किस प्रकार कुछ लोगोंकी काम-वासना अधिक है और दूसरोंकी कम ॥९७॥

तब सुगतके मनने शान्तिका उपदेश करनेके लिए निश्चय किया है, यह

जानकर स्वर्गमें रहनेवाले दो प्रधान देवोंने जगत्‌का हित चाहा और वे चमकते हुए उनके समीप गये ॥९८॥

पाप-परित्यागद्वारा अपना लक्ष्य सिद्ध कर और उत्तम धर्मको अपना उत्तम साथी समझकर वह बैठे हुए थे; उन्होंने सम्मानपूर्वक उनकी स्तुति की और जगत्‌के हितके लिए ये वचन उनसे कहे—॥ ९९ ॥

“अहो ! क्या संसार इस सौभाग्यके योग्य नहीं कि आपका चित्त जीवों-के प्रति करुणा अनुभव करे ? संसारमें विविध योग्यताओंके प्राणी हैं, कुछकी काम-वासना अधिक है, कुछकी काम-वासना कम है ॥ १०० ॥

हे मुनि, आपने स्वयं भव-सागर पार कर लिया है, अब दुःखमें द्वब रहे जगत्‌को उवारिये, और जैसे कोई बड़ा सेठ धन दान करता है वैसे ही दूसरों-को भी आप अपने गुण दीजिए ॥ १०१ ॥

यहाँ कुछ लोग ऐसे हैं जो इह-लोक व पर-लोकमें अपने लाभकी बात सोचकर केवल अपने ही हितके लिए काम करते हैं। किंतु इस जगत्‌या स्वर्ग-में ऐसा व्यक्ति दुर्लभ है, जो जगत्‌के हितके लिए काम-करेगा ॥” ॥१०२॥

इस प्रकार महर्षिसे कहकर, वे जिस रास्तेसे आये थे उसीसे दिव्य लोकको लौट गये। जब ऋषिने भी इस भाषणपर विचार किया, तब जगत्‌की मुक्तिके लिए उनका निश्चय ढढ़ हुआ ॥ १०३ ॥

भिक्षाटनके समय चार दिशाओंके देवोंने ऋषिको भिक्षा-पात्र दिये; उन्हें ग्रहण कर गौतमने धर्मके लिए उन्हें एकमें परिणत कर दिया ॥ १०४ ॥

तब उस समय जाते हुए काफिलेके दो सेठोंने अनुकूल देवतासे प्रेरित होकर उदाच्च चित्तसे ऋषिकी आनन्दपूर्वक पूजा की और पहले-पहल उन्हें भिक्षा दी ॥ १०५ ॥

मुनिने सोचा कि अराड और उद्रक रामपुत्र दोनोंके चित्त धर्मग्रहण करने-के योग्य थे; किंतु जब उनने देखा कि दोनों स्वर्गीय हो गये, तब उन्हें पाँच भिक्षुओंका खयाल हुआ ॥ १०६ ॥

तब, जैसे उगता हुआ सूर्य अन्धकारको दूर करता है वैसे ही अज्ञानरूप अन्धकारको दूर करनेके [लिए शान्तिका उपदेश करनेकी इच्छासे, गौतम उस

धन्य नगरकी ओर गये, जो भीमरथका प्रिय था और जिसके विविध बन वारा-
णसीसे अलड़कृत हैं ॥ १०७ ॥

तब मुनिने, जिनकी आँखें वृषभकी-सी थीं और जिनकी चाल मन्त्र हाथी-
की-सी थी, लोगोंको विनीत करनेके लिए काशी देश जाना चाहा और हाथी-
के समान अपना समूचा शरीर बुमाकर उनने बोधि-वृक्षपर अपनी निश्चल
आँखें स्थिर कीं ॥ १०८ ॥

अश्वघोष-कृत-बुद्धचरित महाकाव्यका “बुद्धत्व-प्राप्ति” नामक
चतुर्दश सर्ग समाप्त ।

परिशिष्ट

अतिरिक्त टिप्पणी एवं पाठान्तर

- १।१० कक्षीवान् । “आसन्दीवदष्टी……” (अष्टाध्यायी ८।२।१२) इति निपात्यते, कक्षीवानृषिः ।
- १।१८ अनुवाद और १।३।५६ के आधारपर कोषगत ‘अदश्यरूपाश्र’ रखा है ।
- १।२४ घ—अनुवादके आधारपर रिक्त स्थानकी पूर्ति की गई है ।
- १।६।१ संविष्टः = सुसः (रघुवंश १।९३) । देवी = पार्वती । अग्निपुत्र = कार्त्तिकेय ।
- २।१ पा० “जन्मजरान्तगस्य”
- २।२ कृताकृत = घटिताधटित = गढ़ा हुआ और नहीं गढ़ा हुआ (चाँदी-सोना) — अमरकोष ।
- २।३ पश्च = दक्षिण दिशामें स्थित दिग्गज । मण्डल = राज्य, देश, हस्ति-शाला, हाथियोंका घेरा (दे० ५।२३) ।
- २।७ ख—पा० “०मण्डतांगः” ।
- २।२५ घ—पा० ‘वनं न यायादिति’ ।
- २।३।३ घ—‘संविवभाज...’ = या ‘साधुओंकी सेवा की’ ।
- २।४।४ ख—अभिध्या = लोभ । अविवक्षीत—वहू + सन् + लुड् ।
- २।५।१ ‘स्वायंभुव सामवेदीय सूक्तका श्रद्धापूर्वक जप किया’—बंगला अनुवाद ।
- २।५।४ निपात—नि + पा + क । दे०—सौ० १।८।३।१
- ३।१ गीतैर्निबद्धानि काननानि = संगीतसे गौंजते हुए नगर-उद्यानोंके बारेमें; या उन उद्यानोंके बारेमें जिनके (सम्बन्धमें) गीत गाये जाते थे ।
- ३।९ क—पा० ‘०पुष्पलाज’ ।
- ३।२।६ ग—पा० ‘प्रयातुं’के स्थानमें ‘प्रयान्तं’ ।
- ३।३।१ ख—पा० ‘बालेन’—बालक होकर धूलमें खेला ।
- ३।४।५ ग—‘स्याद् व्यत्यासो विपर्यासो व्यत्ययश्च विपर्यये’—अमरकोष ।
- ३।५।७ घ—पा० ‘प्रियः प्रियैसू’ ।

- ३।६० घ—पा० ‘निर्हादवता’ ।
- ४।१६ सम्भवतः ‘काशिसुन्दरी’ नाम नहीं, किन्तु विशेषण है; इसका अर्थ होगा ‘काशीकी रूपवती (वेश्या)’ ।
- ४।३८ घ—धीरलीलया चेष्टितं = गम्भीरताका, स्थिर गति-विधिका ।
- ४।५६ क—उ + इमाः = विमाः; पा० ‘कि निवमा’ ?
ग—पा० ‘संमता’ ।
- ५।८ ख—पा० ‘निवर्त्ये’ ।
- ५।१९ ग—परिग्रह = घर स्वजन साथी सम्पत्ति आदि बन्धन ।
- ५।२२ ग—पा० ‘परिवर्त्ये जन्म’ ।
- ५।३२ ख—लक्ष्म = प्रधान, योग्य ।
- ५।४० निदर्शित = उदाहरण और दृष्टान्त देकर समझाये जानेपर ।
- ५।५२ शालभजिका = शालवृक्ष (के काष्ठ) से बनाई गई मूर्ति ।
- ५।५३ पा० ‘मणिकुण्डलदृष्टगण्डलेखम्’ ।
- ५।५५ योक्तु = मुखका कोई आभूषण ।
- ५।५९ ‘स्पष्टं स्फुटं प्रव्यक्तमुलबणम्’—अभरकोष ।
- ५।६६ तदन्तरं = स्वभाव और बाह्य आभूषणका अन्तर; या सुयोग ।
- ५।७५ पा० ‘यथा तत्तुरगश्रेष्ठ’ ।
- ५।८४ क—पा० ‘विकचपङ्कज०’ । विकच = विकसित ।
घ—पा० ‘पुनरह०’ ।
- ५।८६ ग—पा० ‘अकुरुत’ ।
- ६।३४ ख—पा० ‘यशोधर्मभृतां वर’ ।
- ६।३७ ‘उच्चितदर्शित्वात्’ अन्तःपुर या छन्दकके लिए भी हो सकता है।
शुभवस्तुओंको ही देखनेवाले या शुभ संवाद ही सुननेवाले अन्तःपुरमें
अथवा, न्यायोचितको देखनेवाला या उचित कर्म करनेवाला मैं
(छन्दक) ।
- ६।४७-४८ एनं और तं मुकुटके लिए प्रयुक्त हुआ है या असिके लिए ? ८।४८
से ज्ञात होता है मुकुटके लिए ।
- ७।४२ ख—पा० ‘सङ्कीर्णधर्मे पतितो०’; ‘संकीर्णधर्मा पतितो०’ ।
- ७।४३ घ—पा० ‘बृहस्पतेरप्युदयावहः’ ।

७।५० बहुमानमीयुः = (उन तपस्थियोंने मनमें) उनका बड़ा सम्मान किया ।

८।१३ रघुवंश १०।७ की व्याख्यामें मत्स्यिलनाथ द्वारा उद्धृत ।

८।३१ ख—‘विषाद-जन्य बाष्पसे अवरुद्ध वाणीमें’ । दे० २।६२ ग तथा ८।६० घ ।

८।३९ घ—‘श्रियं’ = या ‘राज्यलक्ष्मीको’ ।

८।५७ ग—या ‘दान देनेका अभ्यासी था, माँगनेका नहीं’ ।

८।६६ ग घ—‘भूयो यथा मे जननान्तरेऽपि त्वमेव भर्ता न च विप्रयोगः ।’
—रघुवंश १४।६६ ।

९।२१ घ—पा० ‘वित्ताधिपत्यं’ । विद् ज्ञाने च वित्तम् ।

१०।२ ख—धृतं च पृतं च = पोपित एवं पवित्रीकृत—बंगला अनुवाद
(रथीन्द्र)

१०।२६ घ—‘सहीया’ यह शब्द केवल बौद्ध-साहित्यमें ही पाया जाता है ।

१०।३० पा० ‘स्ववंशप्रतिरूपरूपं’ = अपने वंशके अनुरूप रूपको ।

११।४।१ ग—भावाः = पदार्थाः—सिद्धान्त कौमुदी, कृदन्त प्रकरण; और दे०
बु० च० १२।२७

११।४।५ ग—आसंगकाष्ठ = भारवाही दण्डकाष्ठ—बंगला अनुवाद (रथीन्द्र)

११।४।९ ग घ ‘मनसि च परितुष्टे कोऽर्थवान् को दरिद्रः’—वैराग्य-शतक ।

११।७।० ‘अव’ धातुके अनेक अर्थोंको ध्यानमें रखते हुए तथा ‘आयैः’के स्थानमें
‘आर्यान्’ पढ़ते हुए, इस श्लोकका अर्थ यह होगा—

इन्द्रके समान रक्षा करें, आकाशके सूर्यके समान सदा प्रज्वलित हों, सद्गुणोंसे शोभित हों, इस संसारमें श्रेयको समझें, पृथ्वीका पालन करें, (दीर्घ) आयु प्राप्त करें, सज्जनों व सत्पुत्रोंको तृप्त करें, ऐश्वर्यकी वृद्धि करें; हे राजन्, अपने धर्मसे लिपटे रहें (या स्वधर्मका आचरण करें) ।

१३।६।० यही श्लोक परिमार्जित रूपमें भास-प्रणीत प्रतिज्ञायौगन्धरायण नामक नाटकमें आया है ।

१४।१।४ उत्तरार्थका यह अर्थ भी होगा—

कोई-कोई लौहचंचु धृष्ट कौओं द्वारा, जो लोहेके बने-से लगते हैं, खाये जाते हैं ।

शब्दानुक्रमणी

अंगुक ४।३३, ३४, ४९; ५।४९	अतस (तप् लुड्) २।४९
६।५९, ६३	अतमस्क २।२०
अकार्षी (क् लुड्) ६।६४	अतिनीयते ३।६५
अकृत (क् लुड्) ८।४५	अतीत्य (अति ह ल्यप्) २।२४ विता-
अकृपत (क् लुड्) ५।८६	कर; १।०३, ३६
अक्रम ५।३६	अतीयुः (अति ह लिट्) ८।८३ ९।७१
अगति ९।३१, ८०; १।०।३६	अदृश्यरूप १।१८; १।३।५६
अगुरु ५।४४; ८।५६; १।१।४२; २।७।७।१	अद्रुत ९।७२
अग्नि-गृह १।६।२९	अधरोष्ट ४।३।१
अग्नि-पूजा १।६।५५-६।१	अधरौष्ट ७।५६
अग्नि-शाला १।६।२७, ३०	अध्यगीष्ट (अधि ह लुड्) २।३५
अग्निहोत्र ७।३३	अध्यात्म १।२।६३
अङ्गद (बाहु-भूपण) ५।५० सोनेका	अध्यैष्ट (अधि ह लुड्) २।३५
अङ्गारवर्ष १।३।४।१, ४२	अध्वग (शान्ति) १।७।२; १।३।५
अचारीत् (चर् लुड्) २।४३	अनागस् (निर्दोष) ८।४३
अचिकीर्षीत् (कृ सन् लुड्) २।४४	अनामय (आरोग्य) १।०।२०
अचिन्त १।३।१६	अनार्य ७।४५; ८।३।३; १।६।९; १।८।७।४
अचीकरत् (कृ लुड्) १।८।२	अनार्यकर्मा ८।४०
अचेछिदिष्ट (छिद् यड् लुड्) २।४०	अनिभृत (अशान्त, अविनीत) ३।१४
अजाज्वलिष्ट (ज्वल् यड् लुड्) २।५०	अनिमित्त १।८।१४
अजिहीर्षीत् (ह सन् लुड्) २।४४	अनुपाय १।२।२४, ३०
अजीघनत् (हन् लुड्) २।४२	अनुरुध्यमान ७।३।६
अण्डज (पक्षी) ६।४६	अनुशंस (प्रिय) ६।१२
अण्डा २।३।७।५	अनुत ४।६७, ९२

- अन्तर १।१६
 अन्धतामिश्र १२।३६
 अन्न (बीज ?) १८।५२
 अन्यकार्य ६।६; १।१७ अन्-
 अन्यक्रिय १०।७
 अन्युब्ज १।१४
 अन्वक्ष ४।५।१
 अन्वयुः ८।९
 अपगा (नदी) ८।२९
 अपथ्यान्त १।३९
 अपराधी २५।१०
 अपवर्ग १३।५
 अपस्नात ८।७
 अपावृत ५।६६; ८।४६
 अपावियन्ते ५।८२
 अपिनीत (अपहत) ८।१६
 अप्रवृद्ध १२।२९, ४०
 अप्रवृत्त २।४४
 अवेभिदिष्ट (भिद् यड् लुड्) २।४०
 अभागिनी ८।५४, ६७
 अभितः १।१।२७
 अभिध्यां २।४४
 अभिनय ४।३७
 अभिनिर्याण ५।२१
 अभिनिषिद्धयते १२।३७
 अभिपत्ति (सेवन) १।३८
 अभिष्वंग (आसक्ति) १२।३१
 अभिसंप्लव १२।२४, २८
- अभिसन्धिः (सङ्कल्प) ७।२९
 अभ्यवपात १२।२४, ३२
 अभ्युक्षण १२।३०
 अयष्ट (यज् लुड्) २।४९
 अयस्कुम्भी १४।१३
 अयस्तुष्ठ १४।१४
 अयोग (वियोग) ८।३५
 अयोरस (लोहेका पानी) १४।१२
 अरजस्क २।५
 अरणि २६।६।१
 अर्ति (अहचि) ७।४९
 अर्गल १।७।४
 अर्छन्ति १।१।२४, २८; १४।३।१
 अर्णव (समुद्र) १।२४ - मान
 अर्यपुत्र ८।३।४
 अर्ह (योग्य) १०।२४
 अलक्कक ४।४७
 अलपेच्छता २६।५।४
 अव (अव् लोट्) १।७०
 अवजहास ४।३९
 अवजानामि ४।८।५
 अवजानासि ४।८।२
 अववृद्ध ९।६
 अवमेने (अव मन् लिट्) ५।१।३
 अवरोधन (अन्तःपुर) ८।३।७
 अवहास्य (उपहास्य) ५।३।६
 अविचक्षण (मन्द) १।५।४
 अविद्या १२।३।३, ३७, १७।३।९

- अविवक्षीत् (वहू सन् लुड्) २।४४ आक्षेपिका ४।२५
 अविवक्षीत् (ब्रू सन् लुड्) २।४४ आगम ४।८३; ७।१४; ९।७६; १३।४९
 अविशेष १।२।२४, २९
 अद्यत्त १।२।१८, २२, ४०
 अशानि-पात (बज्र-पात) २।७
 अशायिष्ट (शी लुड्) ५।७८
 अशोक ४।४५, ५८ वृक्ष; २८।६३ वृक्ष
 अश्मवर्ष २।७; १३।४५; १८।१८ मेघसे
 अश्व (श्रेष्ठ-) ५।७२-७३ वर्णन
 अश्वक (सुवर्ण-निर्मित) २।२२
 अश्वगोप (अश्वरक्षक) ६।६४
 अश्विन् (अश्विनीकुमार) ७।७
 अश्वत्थ (पीपल) १।२।१।१५; १।३।७
 अष्टाङ्गिक मार्ग १।४।८४; १।५।२७
 असिपत्रवन १।४।१३
 असंज्ञासंज्ञात्मिका १।२।८३
 असंज्ञित्व १।२।८७
 असंज्ञी १।२।८६
 अस्ति १।६
 अस्मि १।६७
 अहंकार १।२।१८, २४, २६, ७६
 अहार्षीत् (ह लुड्) २।४३
 अहासीत् (हा लुड्) २।४३
 अहेषत (हेष् लुड्) ८।४५
 अहेषिष्यत (हेष् लुड्) ८।४१
 आकाश १।२।६१, ६२
 आकिञ्चन्य १।२।६३, ८५
 आक्रीड (उद्यान) ४।१०, २८
 आक्षेपिका ४।२५
 आगम ४।८३; ७।१४; ९।७६; १३।४९
 आग-लगा घर २५।७३
 आग्रन्थन ५।६०
 आचार्यक (आचार्य-पद) १।४।३;
 ७।१७
 आजवंजवता १।२।४१
 आढ्य (धनी) ५।५६
 आनुर (रोगी) १।३।९
 आत्म-चिन्तक १।२।२०
 आत्म-दृष्टि १।७।३०
 आत्म-भाव २।३।२९, ३।१; २।४।२८
 आत्मवत्ता ४।९।१
 आत्मवान् ८।६६, ७।७
 आत्मा १।६।१, ६।४; १।२।२०, ६।२,
 ६।३, ७।१, ७।४, ८।१, ८।४, १।१।४;
 १।६।८०
 आदर्श १।४।८
 आदित्य-पथ १।५।७
 आनर्च (अर्च् लिट्) २।३।६; १।०।५
 आनुतिक (अनृत ठक्) २।१।१
 आपगा (नदी) ८।२।९
 आपत् (आप् लुड्) २।४।३, ५।६
 आपुप्लुविरे (आ प्लु लिट्) १।३।२।५
 आत, आसता ९।७।६
 आमन्त्रय ९।७
 आमर्श (आ मृश् लिट्) ६।५।४
 आयतन १।१।२।७ यज्ञशाला; १।४।६।६३;

- आयस वायस १४।१४
 आयस स्तम्भ १४।१२
 आयुष्मान् ३।३३
 आरण्यक (वन्य) ६।६४
 आरा २५।१९ से चीरना
 आरात् ६।६२
 आरुहक्षन् (आ रुह् सन् शत्) २।४८
 आरोग्य १।१।३८
 आर्विक २।५१
 आर्य १३।६३-६४; २०।२३
 आर्यकर्मा ८।५४
 आर्यपुत्र ८।३४
 आर्यसत्य १५।४९
 आर्ष १।७९
 आलय २२।२७ प्रलोभन
 आवर्तक १।६
 आववल्गुः (आ वल्ग् लिट्) १३।२५
 आवस्थ (= आवास) १।२३;
 ५।४०
 आशाशंसिरे ५।८५ (आ शसि लिट्)
 आशु ६।६४
 आश्रम २।१२; ७।२० आश्रमवासी
 आश्रम-वास ८।५३
 आश्रमवासी ७।३७
 आश्रमी ७।२, ९, ३५, ५८
 आसंग-काष्ठ १।१।४५
 आसन (सुवर्ण-) ५।४४
 आसव ४।३।
- आस्त्रव ५।१० अन-; १६।४५,
 २७।४३ चित्त-मल
 आस्तरण ५।७२
 आस्था १०।१२ आदर; १३।१५
 आहार्य २२।२५ बनावटी
 इयाय (इ लिट्) ४।१००; ८।२
 इषीका १२।६४
 ईशु-प्रहार ८।३९
 ईयुः (इ लिट्) ७।४ अभि-
 ईश्वर ९।६३; १८।२०-२९
 उग्रदण्ड ३।४९
 उज्ज्ञ ७।१५
 उहुराज (चंद्रमा) ६।६५
 उत्पात (उत् पत् लिट्) १०।४
 उत्पाटन १३।६५
 उत्सस्तुपुः (उत् स्तुप् लिट्) १३।४४
 उदय २।५
 उदीर्ण १३।२९ प्रबल, ३।४ उन्मुक्त ।
 उद्यावह ७।४३ अभि-
 उद्धाटित ३।२०
 उद्बवर्ह ६।५६
 उद्यमयन् १३।५१
 उद्यान २।१२
 उद्यान-भूमि ३।३७
 उद्विविजे (उद् विज् लिट्) १३।३६
 उपधान २५।५८
 उपनिमन्त्रित १।५४ निवेदित; ७।९
 उपपत्ति (प्राप्ति) ९।५६

- उपपन्न (उचित) १।५५; ४।८४;
९।४४, ४९ मेल; १३।६६
- उपप्लव ८।३५ अनर्थ; १३।३३ वाधक
- उपसर्ग (ग्रहण) १।२८
- उपस्थ (जननेन्द्रिय) १२।१९
- उपादान १४।५८; १६।४५, ७५
- उपेक्षक १२।५६
- उपेयतुः (उप ह लिट्) १।२
- उपेयिवान् (उप ह क्षु) ५।८; ८।६२
- उपेयुः (उप ह लिट्) १।१।१६
- उरभ्र (भेड़) १३।२३
- उल्का (त्रुण—) १।।२३, ५२
- उल्का (आकाशसे) २।।७१; २६।९२
- उल्वण ५।५९
- उष्टु (ऊट) १३।१९
- ऊचिवान् (ब्रू क्षु) ३।४३; ५।३६
- ऋक्ष १३।१९
- ऋण (त्रिविधि) १।६५
- ऋद्धि १६।६४; १९।३७ -बल; १६।७०
-प्रदर्शन ।
- ऋद्धिमान् १६।२१
- एलगज २।।७।।
- ओषधि २६।३९, ७३
- ओषधि-सेवन २।।५५, २५।७८;
२६।७३
- ओषधि १३।६१
- ओषण्य १।५७
- कक्ष्या ५।६७ गृह-
- कड़कर (कुंदा) १३।४०, ७१
- कण्ठ-सूत्र ५।५८
- कदली ८।२४ सोनेकी; १४।६
- कनकोज्ज्वल (शयन) १।१७
- कपालहस्ता १३।४९
- कम्बल (वस्त्र) १२।११०
- करङ्क १३।२०
- कर-प्रहार ८।२९
- कराल ३।२०
- करी ४।२७ (वनमें); ५।२९
- करेणु १।२७ परिस्थक्ता
- कर्णधार २।।४९
- कर्णिकार (वृक्ष) ५।५१; २४।५९
- कर्म २।५६; १२।२३, ७३; १४।१०,
१६, १९, २०, २९; १९।१९—
२१; २०।१५
- कर्मान्त ७।३३; १५।३५ सदाचार
- कर्ष (आग) १।।३०
- कलविङ्क (पक्षी) ५।३४
- कल्प (प्रकार) १२।४५
- कलिल (पूर्ण) ३।६५
- कलश ४।३५ सुवर्ण—; २०।३ जल-
कला ३।५२; ४।९, १०१
- कशा ८।३९
- काञ्चन ६।५१ हंसचित्र
- काञ्चनभक्तिचित्र (सुवर्णमणित)
६।५६
- काञ्चनहंसचिह्न (अंशुक) ६।५९

- काज्ची ३।५४; १५; ४।३४ कनक-
 काठ १५।३० छेदना चीरना
 कान्तार १।७२; १०।३७
 काफिला (सार्थ) १४।१०५; २७।४९
 काफिलेका सौदागर (सार्थवाह)
 २५।२७
 काम-राग २३।३५-३८
 कामाश्रयघातिनी ४।१००
 कामाश्रयपण्डिता २।३२
 कारण्डव (पक्षी) ५।३३
 काल १८।४२
 काव्य २८।७४
 किङ्गिणी ५।३
 किला २२।३; २८।१७, ४२
 कुठार १४।१६
 कुड्य १२।८१
 कुण्ड (पात्र) ५।५१
 कुण्डल ३।१९, २१; ४।३९; ५।४१,
 ५३ रत-
 कुतूहलेन्द्रिय ५।३१
 कुञ्ज ३।१२
 कुरवक ४।४७
 कुररी (प्रनष्टपोता) ८।५१
 कुलहाड़ी २६।६७
 कूप १।२३; २।१२
 कूवर ३।६०
 कूर्म ७।१७
 कृतप्रतिष्ठा १२।११९
- कृताकृत (सुवर्ण) २।२
 कृतागस् (अपराधी) २।४२
 कृशन (सुवर्ण) २।३६
 कृष्ण (कृष्ण शत्रु) ५।६
 कृषि-थ्रम २।८
 कृष्णि ११।२०
 केयूर ९।१९; १०।४० सुवर्ण-
 केला १४।४८
 कैरातक (किरात) ३।१२
 कोल (वेर) १२।९६
 कोविद १२।१८; १४।१
 कोश-गृह १५।१४
 कोष १६।६४
 कोष-गृह २५।७१
 कौपीन ११।३७
 क्रन्ध्याद् (हिंसक) ११।३३
 क्रोध २३।४४-५३; २६।४९-५०
 क्वथित् (क्वथक) १४।१२
 क्षत्रकृत् ८।७८
 क्षत्रिय १३।९; २८।३० उन्मूलित
 क्षय (महल) ५।२६; ८।१६, १८
 क्षयी ११।५८
 क्षार १६।१७
 क्षेत्र १२।२०
 क्षेत्रज्ञ (आत्मा) १२।२०, ४१, ६४,
 ६९, ७०, ८०; १३।१०
 खट्टवाङ्ग १३।२१
 खर (गधा) १३।१९

- खलीन (लगाम) ५।३, ७२ सुवर्ण-
खान २५।७५ सोनेकी
खारा (जल) १६।८
खेल १३।३६ (बालकोंका)
गज ४।१०३ शल्यविद्व; १४।२४
पीडित ।
गज-भग्न ५।२१, ५८
गजराज १२।११६; २४।२३ नागा-
वलोकन
गजेन्द्र २।१४० छोड़ा, ६३ विनीत
हुआ
गतासु ३।५४ मृत; ५।६० शव
गति ६।१५, १०।३४
गदा १३।१८, ३७, ४८
गमनीयमण्डल ४।१००
गरुड़ २७।७९ विष्णुका वाहन
गस्त्मान् (गरुड़) १३।५४
गर्भ ९।६१
गवांपति २३।१४; २४।६२; २७।५४
गवाक्ष ८।१४-माला
गाय २४।५१ दुधार
गार्हस्थ्य ९।४७
गीत २८।५८
गुणवत्यस्का (उत्तमदूधवाली) २।५
गुप्तचर ११।१३
गुलफ (पाइ-ग्रन्थि) ८।५५
गृह-पक्षी ३।१५
गृह-पति १८।१
- गृहस्थ ९।१९, ४८; १६।११
गृहस्थ-जीवन २६।५०
गृहस्थ-धर्म ५।३३
गृहस्थ-वेश ८।१०
गो-अश्व १४।२३ पीडित
गोचर-भूमि २२।२७
गोप-योषित् ४।१४
गो-पुत्रक (बछड़ा) २।२२
गौ १।८४ दान; २।३६; ३।३४ विच-
लित; ८।२३ परित्यक्त; ९।२६
प्रनष्टवत्सा; १३।३३
ग्राम्य ७।१४ अ-
ग्राह ९।४१
घोड़ा २६।३३ कुमार्गामी; २७।१२
की यात्रा
घोणा (नाक) ७।५१, ५६
घोष ३।३४ वज्रका; ५।२५
चँचर १६।५२; २७।६३ सोनेसे मढ़ा
चकमे (कम् लिद्) ४।७२
चकाशे (काश् लिद्) १।२२; ५।५३
चक्र (-चिह्न) ६।५४, ८।५५
चक्रधर ७।३
चक्रवाक १।७१; ४।५०; ८।६०;
१३।१३
चक्राङ्क (चक्रचिह्न) १।६०
चक्षिता ८।१९
चन्दन २।२१; २७।६७ लाल, ७।
चन्दन-विहार २।२३

चन्दन-वृक्ष २४।४
 चमत्कार (देव ऋद्धि) १९।२९
 चमू (सेना) १३।७१
 चम्पक-पुष्प २२।३९
 चर (गुप्त चर) १।८२
 चर्माम्बर १३।२१
 चार सत्य २६।७७-७९
 चारागाह २०।२२
 चाष (पक्षी) १२।११८
 चिकित्सा १५।१०
 चिकित्सित (चिकित्सा शास्त्र) १।४३
 चिक्षिये (क्षी लिट्) ८।१
 चिता २७।७०-७२
 चित्रकथ ५।२
 चित्र-लिखित २२।२३
 चिन्तित १९।९
 चिर-निद्रा २५।५७
 चीर ७।५१
 चीर-खेल (चीर-वस्त्र) ७।३६
 चीराम्बर ११।१७
 चुक्षुभे (छुभ लिट्) १३।३३
 चूत ४।३५ (शाखा)
 चूत ४।४१-मञ्जरी, ४४, ४६-शाखा
 चौर (चोर) ८।३८रत्न-; ११।९, २६
 छत्र २७।६३
 जगत्-चक्षु (सूर्य) ६।१
 जग्मिवान् (गम् क्वसु) १२।२ उप-
 जग्मुः (हन् लिट्) ८।२८

जजूमिभरे (जृम्भ लिट्) ४।६; ५।५९;
 १३।३०
 जबे (ज्ञा लिट्) २।४१
 जज्वाल (ज्वल लिट्) १।२२ ४।२८
 जनता ३।३५
 जननी (मातृ वर्ग) २।३४
 जनौध (जन-समूह) १०।१०
 जन्म-सहस्र १४।३
 जन्म-स्रोत १२।२९
 जन्मान्त-कर १।४९
 जम्बू (वृक्ष) ५।८
 जलता हुआ घर १०।६२; १९।२६
 जलाञ्जलि ८।८०
 जलाशय २४।९
 जवी (वेगवान्) ५।६८
 जहात् (हा लिट्) ८।६६; १२।५८प्रे-
 जाज्वल्यमान ३।२३
 जाङ्गेसे ठिठुरा २४।७
 जातकर्म १।८२
 जाप्य ७।३३; ८।७२
 जाल (रेखा-) १।६०; ८।५५; १०।९,
 २।५३
 जाली (रेखा-जालसे युक्त) ६।५४
 जिगाय (जि लिट्) २।३४
 जिगीषन्ति (जि सन् लिट्) १।१।१२
 जिगीषु (जि सन् उ) १३।४
 जिधांसा (हन् सन् अ) १३।४८, ६६
 जिधांसु (हन् सन् उ) १३।२७

- जिघृक्षति (ग्रह् सन् लट्) ८।६४
 जिघृक्षु (ग्रह् सन् उ) १३।२७
 जिजीव (जीव् लिट्) ८।७९
 जिजीविषा (जीव् सन् अ) ८।९२
 जिजीविषु (जीव् सन् उ) ७।३८
 जिततमस्क १३।७२
 जिह्वेषे (हेष् लिट्) ८।४
 जिह्वियुः (ह लिट्) १०।६
 जुआ (दै० युग) २२।३३; २३।४
 जोतना (दै० कृषि) २६।२८
 ज्ञ १२।८०
 ज्ञानद्रम् १३।६५
 ज्योतिष २६।२८
 झंशावात् २६।९५
 तंत्र-मंत्र २६।२९
 तप्त्वुल १२।९६
 तताम (तम् लिट्) ८।३
 तन्द्रि-निद्रा ५।१५
 तपःक्षेत्र ७।३४
 तपोद १०।२
 तमस् १२।३३,३४; २६।१०-१२
 तरक्षु १३।५२
 तरु-मस्तक १३।२५
 तर्पक ११।५८
 तलवार २५।४७ पक्षवना
 तस्तम्भ (स्तम्भ लिट्) १३।३७
 तस्थुषी (स्था क्षु ख्याम्) ४।३६
 तामिस्त १२।३३, ३६
 ताक्षर्य (गरुड) ६।५
 तितीर्षु (व सन् उ) ९।५; ११।५४;
 १२।१३; १३।८
 तिल १२।९६
 तिलक-द्रुम ४।४६
 तीर्थ ७।३९, ४०
 तीर्थिक २१।२८
 तुरगावचर (अश्व-रक्षक) ५।६८
 तुरंगमानुग „ १।१६
 तुरंगावचर „ १।१
 तुहिन (बर्फीला) ५।८६
 तूफान २६।९२
 तूर्य २।२९
 तृष्णा १२।२३, ७३; १४।६०
 तेजोहर १३।२४
 तोरण ५।५२
 त्यागी १।३६; ११।४६
 त्रिक ५।७३
 त्रिदण्डी १७।२२, २६।१
 त्रिदिव १।६१, ७७; ५।२७; ११।५७
 त्रिपिष्ठप १।१।१०
 त्रिवर्ग १०।३०; १।१।५८
 त्रिविष्ठप १।४।१०; २०।५६
 त्रिशूल १३।२६
 त्रैविद्य १७।४१
 दंशधर्मा (साँप) २३।४८
 दधिरे (धा लिट्) ५।८१
 दध्यौ (ध्यै लिट्) ८।७०; १।४।९

दत्तदशूक (दश् यड् ऊक)	११।५२	देशिक ९।७४; १३।६२ सु—; २६।७४
दर्शन ३।७४		दैशिक १२।१३; १३।६२
दाक्षिण्य ४।६६ अ—, ६९—७१, ९२		दोषतो गन्तुं ८।४९
दान-फल १८।६७—७२		द्रुञ्ज (द्रुहूक) १३।५६
दायाद ६।२०		द्रुमाज (= द्रुमोत्पल) ५।३
दायाद्य ६।१९		द्विजत्व (—प्राप्ति) १।४४
दारवी (काष्ठ-निर्मित) १२।३		द्विप (पङ्क-मग्न) ६।२६; १२।५
दारु (काष्ठ) १४।१६ चीरना		बन्धन-मुक्त
दास्य (दासता) ११।४४		द्विपराज ८।१२
दिग्ध (विष-लिप्त) ५।१		द्विपेन्द्र २।३; ५।२३; ७।१९
दिव्यु (दश् सन् उ) १२।१३		द्विरद (हाथी) १३।१९
दिघक्षु (दह् सन् उ) १३।५०		द्विरद-रद (हाथी-दाँत) १।८६
दीपकर्मा (मणि) ६।१३		धर्म-चक्र १५।५४, ५५
दीप-वृक्ष (सुवर्ण—) ५।४४		धर्म-नदी १।७१
दीर्घजीवी ४।१८		धर्म-पीडा १।४०
दीर्घिका (जलाशय) ३।६४; ४।४९		धर्म-मत्सर ८।६३
दुद्रुबुः (द्रु लिट्) १३।५३ (वि—)		धर्मराज १।७५; २८।६४
दुन्दुभि १।२६; १४।८७; १५।६, ५८		धर्मसंभा २६।१०१ वैश्रवण-
दुरासद (अप्रतिहत) १।७४		धातु-सास्य (स्वास्थ्य) १०।२०;
दुर्गति ११।२१; १४।१०; १९।२८;		१२।३
	२०।५१	
दुर्भिक्ष २।१३		धात्री (धा इन् डीष्) १।५९
दुर्मनाः (उदास) ८।१		धिष्ण्य (भवन) ४।१०२; ८।४०;
दूत २८।१, ३४		९।२ स्थान
देवकोष्ठ (देवमन्दिर) ७।३३		धीरं (धीरे-धीरे) १०।४
देव-पूजन २२।१७		धुरा २३।७५ रथका
देवायतन २।१२		धुर्य (बैल) ५।६, ७।३
देशकाल ३।६२		ध्यान १।७७; ५।१०; १२।४९—६०;
		१२।१०५—६; २६।८९

ध्वजिनी (सेना) ५।७४
 नग (वृक्ष) ८।६
 नदी ५।४९; २।५।८१ प्रतिकूल धारा;
 २।७।१४ से सुवर्ण
 नदी-पङ्क्ख ६।२६
 नदी-रथ ९।१५
 नदी-वेग १।३।६
 ननर्त (नृत् लिट्) १।३।२६
 ननर्द (नद् लिट्) १।३।२६
 नमस्कार १।२।३०
 नवकर्मिक १।८।८६
 नवग्रह (धर्म-) ७।४।६; १।७।७
 नववत ३।६।५
 नाग ३।२ घरमें अवरुद्ध
 नागर ८।६, ८
 नामरूप १।४।६।८
 नाव १।४।७।५
 नास्तिक ६।३।१
 निदर्शन १।४।०; १।७।७
 निदर्शित ५।४।०
 निपात २।५।४
 निभृत ३।८ शिक्षित
 निमन्त्रयामास (निवेदन किया)
 ५।५।२
 निमित्त १।४।९, ५८
 नियन्ता (सारथि) ३।३।८, ५६
 नियमन (नियन्त्रण) ४।१।०३
 नियोग (आज्ञा) १।३।२७

निरच्जन (अज्ञन-रहित) ८।२।१
 निरम्बर (वस्त्र-हीन) १।३।२।१
 निरामय (निष्कण्ठक) १।१।५।७
 निरारम्भ ४।८; ६।५।२
 निरोध १।५।४।५
 निर्ग्रन्थ २।१।२।८
 निर्दोष (वाणी) ४।१।६
 निर्जिगिलुः (निर् गृ-गिल् लिट्)
 १।३।४।४
 निर्वन्धी (आग्रही) १।३।६।०
 निर्भुक्त (निचोड़ा गया) ४।४।७
 निर्मम ८।१; १।७।७
 निर्मिरे (निर् मा लिट्) ३।२।६
 निर्याण ५।७।८
 निर्वाण ५।२।५; २।४।४
 निर्वाण-प्राप्ति २।६।८।८
 निर्वापयितुं १।३।६।३
 निर्वाहक १।३।८
 निर्वाहयति ८।४।०
 निर्विशेष ३।३।६
 निर्वृता ५।२।४-२।५
 निर्वृति (सुख) १।२।१।०।४
 निर्दर्यपेक्ष (निरपेक्ष) ५।८।३
 निलिलियरे (नि ली लिट्) १।३।५।३
 निवृत्ति-धर्म ७।४।८
 निश्चय (सिद्धार्थका) ६।५।१;
 १।३।५।९
 निश्चिक्रमिषा (निस् क्रम् सन् अ)
 ५।४।६, ६।६

- | | |
|-------------------------------------|-----------------------------------|
| निश्चिकमिषु (निस् क्रम सन् उ) | पताका-दण्ड १७।२५ |
| पां३७ | पतिव्रता ६।३३ |
| निष्कास्य ६।५७ | पतिशोक ८।२६, ७० |
| निष्ठा (विनाश) ३।६। | पत्थर काटना १७।१४ |
| निष्पत्तपात (निस् पत् लिंग) १३।४६ | पत्थरोंकी वर्षा २३।७। |
| निष्पेषवत् १।१४ | पत्रलेख पा।५३ |
| निष्किय ७।४२ | पथ-प्रदर्शक २३।२७; २४।८; |
| निस्तीर्य (निः त् व्यप्) १०।३७ | २५।७।४; २६।७।४ |
| निस्तीर्ण (निः त् क्त) ६।४ | पथिक १९।८; २५।६।१ |
| निहादवत् (गम्भीर) ३।६० | पद्म १।४।३ |
| नीतिशास्त्र ४।६२ | पफाल (फल् लिंग) १३।४० |
| नीरजस्क पा।१।६; १३।७।२ | पयस्विनी १।८।४ |
| नूपुर ३।१५ | परचक्र २।१।५ |
| नृत्य २।३।० | परप्रत्यय ९।७।४ |
| नृत्योत्सव १।३।३ | परश्वध (कुठार) २।४।०; १३।३।९ |
| नृपस्य चक्षुः ९।७।२ | परापचार ७।४।९; ९।४।० |
| नैशा ६।४।६ | परिधि ५।८।२ |
| नैष्कम्य-रस २।७।२।१ | परिदेवित (शोक) ८।४।२ |
| नौका २।६।६।७, ९।२ तूफानसे प्रतिहत | परिधान २।३।३ |
| न्यग्रोध-वन १९।५।५ | परिपक्ष १।३।७।२ |
| पञ्चपर्वा १।२।३।३, ३।७ | परिपालयन् १।३।२।७ |
| पञ्चवर्गीय (भिञ्जु) १।६।२ | परिपालयित्वा १।।।३।० |
| पञ्चाचलाङ्क १।०।२ | परिवर्तमान १।।।९ |
| पञ्जर ४।४।४ सुवर्ण—; १।२।६।४ | परिवर्तितुं ८।६।७ |
| पटह २।६।१।०।४ | परिवादिनी (वीणा) ५।५।५ |
| पणव (वाद्य) ५।५।६ | परिविवर्जिषामि ५।।।२।८ |
| पतवार २।०।५।२ | परिशोषभागि १।६।६ |
| पताका २।४।५।५ | परीत (परि हक्त) ३।।।४।०; ५।।।७; |

- परीयुः (परि ह लिट्) १३।१८
 परैमि (परा ह लट्) ४।९९; ७।३१;
 ९।१४; १।१४
 परेहि (परा ह लोट्) १२।१७
 पर्येषण (जिज्ञासा) ३।४८
 पवन-पथ १।८०; १६।६५; ११।१३
 पस्पर्श (स्पृश् लिट्) ६।४
 पाँच पर्वतोंका नगर १९।१; २।१२;
 २८।५९
- पाटित ८।४६
 पाद्य (पाँव धोनेका जल) १५।२०
 पाद्य-अर्ध्य १।५२
 पायु (गुदा) १२।१९
 पारण (पूर्ति) ५।८५
 पारावत ८।२७
 पारिजात (वृक्ष) १।१२
 पारिप्लव ८।५१
 पारिहार्य (वलय) ५।५४ सुवर्ण
 पार्विण ५।७३; १४।२४
 पालकी (शिविका) २७।६४,
 ६८-६९
- पितृलोक १४।२७
 पित्तदाह १।१४०
 पिधाय ८।१४
 पिपासु (पा सन् ड) ८।८०
 पिप्रीषु (प्री सन् ड) ४।१७
 पिष्ठ (पुआ) १४।१३
 पीतल २५।४३ (से ठगना)
- पुंस्कोकिल ३।१
 पुत्री (पुतली) २।२२
 पुनः प्रसूति (पुनर्जन्म) ७।२३
 पुनर्भव (पुनर्जन्म) १।५५
 पुनर्भाव (पुनर्जन्म) ३।२५
 पुरुष १८।४७-५१
 पुरुषार्थ ४।६५; १०।३०; ११।५८-५९
 पुरोहित ८।८२
 पुष्करिणी (पोखर) २।१२
 पुष्पवर्ष १३।७२
 पुष्पवृष्टि १३।७३
 पूर्वजन्म १।४।२; २७।४२
 पूर्वतम १३।१०
 पूर्व वयस् ४।२१
 पृथग्जन ३।४; १।७८
 पृष्ठोदर १३।१९
 पेड़ १०।७५ से लाभ
 पैतृक १०।२५
 पोखर २।१।२२
 पोत (शावक) ८।५१
 प्रकृति ३।२८; १।५७; १२।१७, १६,
 २९, ७०
 प्रचक्षव (प्र चक्ष् लोट्) ८।८०
 प्रचस्खाल (प्र स्खल् लिट्) ६।६८
 प्रजश्चिरे (प्र जन् लिट्) २।९
 प्रजश्चिरे (प्र ज्ञा लिट्) ४।५
 प्रक्षा १।७।१; १२।५८
 प्रणेता (सारथि) ३।५८, ५९

- प्रतिज्ञा (सिद्धार्थकी) ९।७९
 प्रतिपत्ति-कर्म २।२४
 प्रतिपैदिरे (प्रति पद् लिट्) ८।१४
 प्रतिबुद्ध (ज्ञानी) १।२।२१, २९, ४०
 प्रतिभू ५।३४
 प्रतियातना (प्रतिमा) ५ ५८
 प्रतियोग (विरोध) ४।४१
 प्रतिरूप ४।६६
 प्रतिश्रुत्का (प्रतिध्वनि) ४।५१
 प्रतिसंहर ५।३०
 प्रतिसंहृत ४।१०२
 प्रतिस्वनुः (प्रति स्वन् लिट्)
 ०।१८
 प्रतीकार १।१।३६, ३९
 प्रतीच्छ ६।६२
 प्रतीप (प्रतिकूल) २।२८
 प्रतोद ९।१; १।४।२३
 प्रतोली ५।८२
 प्रत्यय (कारण) १।२।७१, ७२;
 १।४।६०
 प्रत्ययित (विश्वस्त) १।४७
 प्रत्यर्थी (शत्रु) ६।२२; १।०।३५
 प्रत्युज्जग्मुः (प्रति उत् गम् लिट्)
 ४।१
 प्रथम वयस् ५।३०
 प्रदध्यौ (प्रध्यै लिट्) ६।६८
 प्रदीप (ज्ञान-) १।३।६३
 प्रदुद्राव (प्रदु लिट्) १।३।७।
- प्रनष्टपोता ८।५१ कुररी
 प्रनष्टवत्सा ८।२४ महिषी; ९।२६ गो
 प्रपा (पनसाला) २।१२
 प्रमाद्यति (प्र मद् लट्) ३।६।
 प्रवयः ८।८२
 प्रविविक्षु (प्र विश् सन् उ) ९।५।
 प्रवेरित ८।५२, ७५
 प्रव्याजहार (प्र वि आ हृ लिट्)
 ३।५६
 प्रसवधर्मा १।२।७०
 प्रसुसुद्धुः (प्र सु लिट्) ७।६
 प्रस्ववण (निष्ठर) ८।२६; १।०।१।४
 प्रांशु (लम्बा) ७।५।
 प्राघ (शिखर) १।१।२८
 प्रातिमोक्ष २।६।२६, ३०
 प्राथमकल्पिक २।४९
 प्रार्थयन्ति २।१०
 प्रास (भाला) १।३।१।८
 प्रियप्रिय ३।५७
 प्रेत ८।८०—गति; १।४।२७, ४५
 प्रेष्य ३।१३; ४।५०
 प्रोक्षण १।२।३०
 प्रोथ (नाक) ५।७।३
 प्लव (नाव) १।२।९, १।३
 फलति १।३।५२
 फलस्थ ६।९
 फसल २।४।१।; २।५।५; २।६।३।२
 की रक्षा

- | | |
|--|---------------------------------------|
| वगला २७।५३ | भग्नमनोरथ ४।१०९ |
| बछड़ा २४।५१ परित्यक्त | भयावह १३।५५ |
| बढ़ता हुआ पानी २६।६५ | भविष्यद्वाणी २२।४ |
| बद्ध (बन्दी) ११।५३ | भस्मशारी ७।५१ |
| बन्धन (बन्दी) १।८२ | भाण्ड (अश्व-भाभरण) २।४; ३।८;
५।३ |
| बन्धु-शोक १।२८ | भाथी २५।१४ |
| बलाहक ६।४७ | भाव १।३८; १।१।४१; १२।२७ |
| बलि (दे० कर) २।४४ | भावितात्मा १।१। |
| बहुक्षीरदुह २।५ | भास्वर १२।५३ |
| बाँध २४।५३ दूटना; २६।६५; २७।५८ | भिक्षुवेष ५।१६; १६।१० |
| बाँस १।४।५७ काटना-चीरना | भीतभीत ४।२५ |
| बाघ २६।३६ | भीरु १।१।११; १।१।८ -चिह्न |
| बाज (श्येन) २७।५३; २८।१० | भुज्ज्व (भुज् लोट्) १।१७ |
| बालिश (मूर्ख) १२।५० | भूमि-कर (दे० बक्लि) २०।२। |
| विभाय (भी लिट्) १३।५५ | भृत्य २।४५; १०।१६ राज- |
| वीज १२।७२; १।५।४२; १।६।९३ | भैक्षाक १।०।२३; १।२।४६; १।३।१० |
| वीजधर्मा १२।७० | भोजन २६।३९ की मात्रा |
| बुझुक्षु (भुज् सन् उ) १।६।३ | मञ्च ७।१७; २३।६। का प्रभाव; |
| बुझुनिरे (भुज् लिट्) ४।६।१ | २६।४४ साँपका; २८।३५ साँपका |
| बैल २२।३३; २६।४१ बोझसे दबकर | मंत्रधर (मन्त्री) १।९, ५२ |
| बोधिसत्त्व २।५६; १।३०; १।०।१८;
१।२।८८ | मञ्चपरिग्रह १।४ |
| ब्रह्म १।२।६५ | मञ्चबद्ध (सर्प) १३।४४ |
| ब्रह्मचर्य १।२।४२, ४४ | मञ्चाधिकृत १।०।१ मन्त्री |
| ब्रह्मचारी (परम-) १।२।४२ | मख (यज्ञ) १।६।३; १।।।६।४ |
| ब्रह्मविद् (ब्रह्मज्ञानी) १।५० | मठ ७।४ |
| ब्रुवाण (ब्र॒ शान्त्व॑) ३।४।, ६।३ | मणि (मुकुट-) ६।१।३-१।४ |
| भग्नप्रतिक्ष १।४।४ | मणित्सरु ६।५।६ |

मणि-प्रदीप १।८६; १०।४०
 मण्डल २।३; ५।२३
 मद पिलाना २५।१८
 मध्य ३।५९
 मध्यस्थता २।६
 मनोज्वर ८।५०
 मनःस्वास्थ्य १०।२०
 मन्दभाग्य ८।६७
 मन्दारपुष्प १।१९
 मन्दारव फूल २७।६६
 ममार (मृलिट्) ८।७७
 मयूर ७।५; २३।३
 मयूर-नाद १०।१५
 मरुभूमि (कान्तार ?) २५।७४
 मल्ल (पहलवान) २८।१२
 महाधातु २७।७७
 महानाग २१।११
 महानौका २५।२१
 महाप्लव (महानौका) १।७०
 महाभिषक् १।३।६१
 महामोह १।२।३४-३५
 महाशनि (महावज्र) ३।३४
 महिषी ८।२४ प्रनष्ठवत्सा
 महौघ (महाबाह) ५।३।६४
 मांस-त्वग्-वाल-दन्त १।४।२२ के
 लिए पशुपक्षियोंका वध
 मातृघ्वसा २।१९
 मान्दारव फूल १।४।८९

मार्ग ३।९ की शोभा
 मार्गपति १।५।१०
 मार्ग-प्रनष्ठ १।७२
 मार्गसे भटका हुआ २।६।८
 मार्जार (विलाह) १।३।२३
 माला २।७।६१; २।८।५८
 मित्र २।८।५२; ४।६।४-लक्षण
 मीन १।३।१९
 मुञ्ज १।२।६।४
 मुमुक्षा (मोक्षाभिलाष) १।१।७
 मुमुक्षु (मोक्षाभिलाषी)५।१८;१।६,६६
 मुमुक्षु (छोडनेको इच्छुक)८।७।७;१।३।९
 मूर्धज ८।५।२
 मृग (सोनेका) २।२।२
 मृगचारी ७।५; २।३।२।४
 मृजा ८।२।१ सिंगार; ६।८; १।१।३।८
 मृतस्नान २।४।६।३
 मृत्युव्याधिजराधर्मा ४।८।९
 मृदंग २।३।०; ५।५।०; २।६।१।०।४
 मैत्री (मित्रता) १।१।३
 मैत्रीविहार १।३।४।२
 मैना २।१।३।०
 मोक्ष १।२।६।५
 मोक्ष-धर्म १।१।९, ४।८; १।३।९;
 १।४।९।६
 मोक्षय (मोक्ष लोट्) १।२।८
 मोक्षयन् (वि-) १।१।७।९
 मोक्षवादी (वि-) १।१।६।९

- | | |
|-----------------------------------|-------------------------------------|
| मोह १२।३३, ३४ | रथांग (चक्रवाक) ८।२९, ६० |
| यथोपपन्न (जो कुछ प्राप्त) १०।१४ | रशना ४।३३ |
| यथोपपन्नभैक्ष ५।१९ | रशिमधार (सारथि) ३।८ |
| यद्वच्छा ३।२८ | रसान्तर (रुचि-परिवर्तन) ३।५१ |
| याचितक ११।२२ | रहस्य ४।३१ |
| यात्री २७।४२ | राज-धर्म ९।४८; २०।१० |
| यान ९।९; ११।३८ | राज-पथ ३।५, १०, २५ |
| यियासन्ति (या सन् लट्) ७।५३ | राज-भाव १।१४७ |
| यियासा (या सन् अ) ५।६८ | राज-मार्ग ३।४-६, ५३ |
| यियासु (या सन् उ) ५।७९; | राज-शाखा १।४१ |
| ८।८०; १२।१३ | राज-हंस २६।९६ |
| युग (जुआ) ७।३; १०।१३; | राज्य १।१४४ |
| १९।४९ | राष्ट्र २।१५ |
| युग (युगल) १।१४८ वस्त्र- | रिंसा (रम् सन् अ) ४।७७ |
| युद्ध २८।२ | रिरक्षिष्ण (रक्ष् सन् शत्रु) २।५५ |
| योग १।४५; २।४५; १२।१०५ | रुग्न (ज्ञुकाया गया) ५।६२ |
| योगाचार २।६।७७; २६।४२ | रोगी १।६।४७ का जीवन; २७।४९ |
| योजन ५।६७ | लक्षण १।३४ सु-; ४।४; ७।५७; |
| योक्त् ८।२२ | २४।५० बत्तीस |
| योक्त्क ५।५५ | लक्ष्य (अति दुर्लभ) २५।६८, ६९ |
| रक्ताम्बर १३।२४ | लावक १२।११९ |
| रजस् २६।१०-१२ | लिखित (चित्रित) ८।२५ |
| रण-भूमि २६।६३ | लिलिहे (लिह् लिद्) ६।५३ |
| रातिकर्कशा २।३२ | लेखर्षभ (आनन्दमें आकर खोदने |
| रत्नावली २।२१ | वाला ऋषभ, हन्द्र) ७।८ |
| रथ २३।४९ पथ-अष्ट | लेलिहान १३।१३ |
| रथक (छोटा रथ) २।२१ | लोध्र-वन १०।१५ |
| रथ-प्रणेता (सारथि) ३।२९, ४४ | लोहित चन्दन १०।२४ |

- वंश-कर (वंश-प्रवर्तक) १४१
 वध-स्थल २५१८
 वधू ४१४ नव-
 वध्य २४२
 वन्य ६१६३
 वग्र १७१
 वयः प्रकर्ष (वृद्धावस्था) ३१३;
 ९४२; ११६२
 वयःस्थ (वृद्ध) ९४३
 वर ४१
 वराङ्गना ३१६, ६५; ५४२; ८२३
 वराह १३१९
 वर्णस्थानावरा ४१८
 वर्य १३७; ७१३७; १०१३
 वलय (कनक-) ५१८१
 वल्गु ४१२९, ३९; ५१६३
 वल्मीकि ७१५
 ववाशिरे (वाश् लिट्) १२१२१
 ववृधे (वृध् लिट्) २१२०
 वषट्कार (आहुति) १२३०
 वस्तिकोश (मूत्राशय-भण्डकोश)
 ११६०
 वस्त्र १६१८, १७ साफ करना
 वाजिभृत् (अश्वरक्षक) ६१६६
 वातयान ३१२०
 वातायन ३१८, १९, २१; १९४३
 वाताहता (नौः) १२१
 वामन ३१२
- वायस १३४४
 वायु-मार्ग १८०
 वारण ८७२ विचलित
 वारमुख्या (वेश्या) ३४२; ४१७
 वासयन्ति (वस् णिच् लट्) १२४२
 वास-वृक्ष ६१४६
 वास-वृक्ष (नि-) २०४७; २६५९
 वासिता (हथिनी) ४१२७
 चिकित्प (प्रकार) ७१४
 विकार १२१७, १९, ७०
 विकृष्ट ५१४
 विक्रिया ३१२८
 विग्रहवान् (मूर्त्ति) ४१४
 विघ्न-कातर ३१६५
 विचक्षण (चतुर) ८१३५
 विचित्रित ११६१
 विचिकित्सा (संशय) ५१५
 विचित्र १३१२
 विचुक्रोश (वि क्रुश् लिट्) ६१६६
 विजिधे (वि जि लिट्) २१३४
 विजुगुप्त् (वि गुप् सन्) ५११२, १३
 विजुघूर्ण (वि घूर्ण् लिट्) ५१५५
 विज्ञान १४१७०
 विटंक (कपोतपालिका) ८१३७
 वितान १११७; २७१६२
 वितानोपहिता ११८
 विदधे (वि धा लिट्) ३४०; ५१३९
 विदष्ट १०१४०

- विदिद्वेष (वि द्विष् लिट्) ५।१५
 विद्या (-ग्रहण) २।२४
 विधवा ८।३६
 विधेय १।७९; १३।१३
 विनय २५।३८
 विनिन्ये (वि नि लिट्) २।४१
 विनिश्चवसुः (वि नि श्वस् लिट्)
 ४।६
 विन्ध्यकोष्ठ ७।५४
 विपाटयिष्यति १।७४
 विपुस्फूर्जं (वि स्फुर्ज् लिट्)
 १३।२६
 विप्रकृत (प्रपीडित) ९।६९
 विप्रत्यय १२।२४, २५
 विप्लव (उपद्रव) १।४९
 विवभौ (वि भा लिट्) ५।४९
 विमान (राज-प्रासाद) २।२९
 विमानवत् (विमानयुक्त) ३।६४
 वियत् ३।२०
 विरुद्धाव ८।५१
 विलंघमान १।१२८
 विवक्षा (वृ सन् अ) ४।६३;
 १०।२२
 विवत्सा (वस् सन् अ) ७।४२,
 ४८
 विवर्धयित्वा १।१३०
 विवृत (खुला) ५।६१, ७०
 विव्यथे (व्यथ् लिट्) ४।५४;
 १३।३६
- विशेष १२।५३, ५५, ६०, ६२,
 ७४, ८४
 विशेषगामी ७।२५
 विश्राम-भूमि १४।४७; २५।६१-६२
 विश्राम-स्थल १५।३५; २७।४२
 विश्लेष (वियोग) ६।१७, ४९
 विष १।४१; २३।६१ साँपका
 विषफला (लता) १।२।६
 विषय (राज्य) १।८२; १०।२५
 विष्टब्ध १।१९
 विष्वक् (चारो ओर) १३।२९
 विसिस्मियाते (वि स्म लिट्)
 ६।६४
 विसिस्मये (वि स्म लिट्) ५।२१;
 १०।३
 विहङ्गम ६।२ आश्रमके
 विहार-भूमि ३।६२
 विहार-यात्रा ३।३
 वीणा ५।४८ रुक्मपत्रचित्रा
 वीतराग ४।११
 वृक्ष २५।१९ चीरना, २२ काटना;
 २६।६७ काटना
 वृद्धिभागी (वृद्धिगामी) १।३३
 वृष १३।२६
 वृषी (आसन) १२।३
 वेणु (वंशी) ५।४९
 वेद १।४२; २।३७
 वेदक १६।१०

- वेदना १४।६३, ६४
 वेशवधू (वेश्या) ४।१६
 वेश्या २२।४६
 वेष्टन १३।२४; २३।६ शिरो०
 वैद्युर्य (मणि) १।१७; ५।९
 वैद्य २३।५५; २५।७८; २६।७३;
 २७।४९
 व्यक्त १२।२२, ४०
 व्यजन १६।५२
 व्यत्यस्य (वि अति अस् ल्यप्)
 ३।५३
 व्यभिचेरतुः (वि अभि चर् लिट्)
 २।१३
 व्यसन ९।४१
 व्यसनी ६।३४
 व्यसु (शव) ४।१७
 व्याघ्र १३।१९
 व्याजहुः (वि आ ह लिट्) ४।७
 व्याध ६।६०, ६२, ६३; ११।६२
 व्याधिजराविनाशधर्मा ५।१२
 व्यापाद (द्वेष) १७।३४
 व्यूढानीक (सैन्य-समूह) १०।२७
 व्यूह (समूह) ३।१२
 व्यूह-रचना २८।५
 व्रत १।७।१
 व्रती २।१०; ८।५८; १२।५१
 शंकु (बर्ढी) १३।३५
 शंख २८।११
- शंखोज्ज्वलमुजा १२।१।१०
 शञ्चु-व्यूह २६।६३
 शनकैः (धीरे-धीरे) ५।७
 शमविहार १२।१
 शयेत् ४।५९
 शरण (घर) ५।३७ जलता हुआ;
 १।४७ प्रदीप
 शरद्य १०।३८
 शरीर-पीडा ७।२६
 शरीर संदेह-कर २।९
 शरीरी १२।७९
 शाल (त्रिशूल) १३।१८
 शालय ४।१०३
 शाखामृग २६।३७
 शालभञ्जिका ५।५२
 शालवृक्ष २६।९८
 शास्त्र १२।१५
 शिफ १३।६५
 शिर-दर्द १४।५४
 शिला लुढ़काई २।१।३९
 शिव (कल्याण) १।३०; १।१६९
 शिविका १।८६; २।७।६० सुवर्ण-
 खचित
 शिश्ये (शी लिट्) ४।१०३; ५।५६
 शिष्य १२।१० की परीक्षा, २।
 शीतक्रिया (शीतोपचार) १।१।४०
 शील १।७।१; २।२६; १।१।६६;
 १।२।४६; २।३।१९, २।७;
 २।६।३।१-३।२

- | | |
|---|---------------------------------------|
| शीलवान् २३।२०, २२, २३ | संप्लब ४।५७ |
| शीलवत १४।५९; १७।३।१ | संयोजन ११।१९; १७।४० |
| शुक्ल (वस्त्र) २।४९; ६।६२-६३ | संररज्जे (सं रञ्ज्. लिट्.) २।३।४; |
| शुश्रूषा (श्रु सन् उ) १२।८४ | ५।१५ |
| शृंग (सुवर्ण-मणिदत) १।८४ | संवदति ८।३।२ |
| शोक २।५।६-७ | संविवभाज (सं वि भज्. लिट्.) २।३।३ |
| शोचते ४।६।१ | संविविजे (सं विज्. लिट्.) ३।३।४ |
| शौचाधिकृत ३।४।९ | संवीत (आच्छादित) ४।४।९; ६।६।५ |
| अपण (पाक) ७।१।६ | संवृत ५।८।२; १।१।५।४ |
| श्रुत-ग्रह ९।४ | संस्थान (आकृति) ४।४।२ |
| श्रुति (अनुश्रुति) ४।७।३; ९।४।८ | संहत (इड) ४।२।९ |
| ओणी-रथ ३।१।६ | संहित ४।८।३; १।१।८ |
| शिलध्यति ६।१।० | सङ्ग्राहक (सारथि) ३।२।७ |
| इलेष (संयोग, मिलन) ६।१।६ | सङ्घ २।८।६।० |
| संकीर्ण धर्म ७।४।२ | सङ्घमें भेद २।१।३।८ |
| संख्या १।२।७।७ | सचिव ८।८।२ |
| संचुक्षुभिरे (सं क्षुभ्. लिट्.) १।३।२।९ | सत्त्व १।२।१।७, २।३ |
| संचुक्षुभे (सं क्षुभ्. लिट्.) २।४; ३।५।८; १।०।९ | सदौषध ८।७।६ |
| संजहृषे (सं हृष्. लिट्.) ५।२।१ | सन्मित्र २।८।५।१ |
| संज्ञासंज्ञ १।२।८।६ | सपत्न (शत्रु) १।१।३।३; १।३।५।५ |
| संज्ञासंज्ञित्व १।२।८।५ | समर ५।७।५; ८।७।५ |
| संज्ञिता १।२।८।७ | समागम ६।४।६, ४।८ |
| संज्ञी १।२।२।०, ८।६ | समाधि १।७।१; २।६।६।४ |
| संदेह १।२।२।४, २।७ | समापत्ति २।६।९।० |
| संपात ३।४ | समुत्पपात (सम् उत् पत् लिट्.) ५।२।० |
| संप्रतिपत्स्यते (सं प्रति पद् लिट्.) ७।५।५ | समुद्र १।४।४ सीमा-निर्धारण |
| | समुद्रवस्त्रा १।।।१।२ |

- समेयिवान् (समृद्ध क्षमा) ५।२०
 सर्ग (सृष्टि) १।६३
 सर्प १।१२४ कुद्ध उग्र; २।५।७० को काटना
 सर्वभाव ४।९३
 सलिलाञ्जलि १।६४
 सचारी १।६।५०; १।८।७८
 सस्वजे (स्वञ्जलि) ४।३०
 ससञ्जे २।३४
 सस्मार (स्मृति) १।४।२
 सस्य २।८
 सहधर्मचारिणी ८।६।१
 सहीया १।०।२६
 साँप १।६।३३ भिक्षा-पात्र में; २।६।३६
 साँपवाला घर १।९।२५
 सापेक्ष १।८।१
 सानुकोश (दयावान्) ६।४।१
 सारथि २।३।४९
 सारमेय (कुत्ता) १।१।२५
 सारवत्ता १।७८
 सार्थ १।३।६२
 सालवृक्ष २।५।५५
 सिंह १।।।१७; १।३।१९, ३३, ५२;
 २।७।९; २।८।३७
 सितसितपुण्ण १।८।६
 सिद्धान्त १।२।१६
 सिन्दुवार २।५।१६
 सिन्दुवारक ४।४।९(तीरपर उत्पन्न)
- सिन्धु (नदी) २।१
 सिधिज्जिते ८।२६
 सिस्तक्षु (सूज सन् ड) २।५।०
 उद्, ५१
 सीर (हल) ५।४
 सुगंध २।७।६।१
 सुगन्धि २।८।५।८
 सुगमा २।।।३।०
 सुत-शोक ८।७।४
 सुनार २।५।४।५ सुवर्ण-परीक्षा
 सुवर्ण-रथ ३।८
 सुवर्ण-राशि २।७।१।४
 सुवर्ण-सूत्र ५।५।५
 सुवर्ण-स्तम्भ २।७।१।०
 सुवर्ण-हार १।८।४।१
 सुहृदव्रुत ८।३।५
 सूची १।४।२।८ छिन्न
 सूत (सारथि) ३।३।२, ३।७
 सूत्र २।५।३।८
 सूना (वधस्थल) १।।।३।१
 सूनृत (सत्य-प्रिय) ७।५।०
 सूर्यकान्तमणि १।६।९।२
 सेजे ४।८।०
 सेठ १।४।१।०।१, १।०।५
 सेतु १।३।६
 सेनापति २।७।४।९
 सोत्सुक ३।।।६
 सोने का घड़ा २।७।७।६

सोम २।३७
 सौगत्य १६।५
 सौमुख्य १२।१२
 स्तम्भ (लोहेका) १४।१२
 स्तूप २।५४-५८, ६४-६६
 स्तोत्र २।०।५८
 श्वी-संसर्ग ४।७९
 स्पर्श १४।६५; १६।९९
 स्मृति २।६।६३
 स्वचक्र २।१५
 स्वप्न १।४
 स्वभाव १।५८-५९; १८।३०-४१
 स्वभावतः १।१२
 स्वाभाविक १।५८, ६९
 स्वः (= आवां) ८।४३
 स्ववयः (मित्र) १०।२२

स्वस्तिकाङ्क्ष ६।५४
 स्वागत १२।२; १७।२७
 हंरिण ६।२ आश्रमके
 हृष्य (जाम्बूनद) १।४।१ प्रदीप
 हल ५।५
 हव्य (-अधिकृत) १०।१ पुरोहित
 हस्तसारः १।६५
 हस्ती (सुवर्ण-निर्मित) २।२२
 हाटक (सुवर्ण) ५।५१
 हाथी १४।१०८ नागावलोकन;
 २।६।३७ मतवाला, ५९ कीचड़में
 हिरण्यमय ३।८; ८।५८
 हिरण्यवर्ष (सुवर्ण-वृष्टि) १।१।१३
 हीन ३।५९
 हृदय-बन्धन ४।६८
 हेषते ८।१९, ४०
 होमदुह् (गौ) ७।६

शुद्धि-पत्र

सर्ग इलोक पाद शुद्ध

- १।१० क ऊरोर्यथौर्वस्य
- १।४५ घ ०स्तेष्वबला
- २।१२ ग चक्रः
- २।५५ ख पुत्रान्
- ३।५ घ चक्रः
- ३।१८ घ वातायनेष्व०
- ३।३१ ख परिसृपमुव्याम्
- ३।३२ ख सूतमिदं
- ३।५३ ख स्वलंकृते
- ४।६ क तस्य
- ४।३२ ग कुरुष्वेति
- ४।४१ ग पुण्यं
- ४।४४ कूज रहा
- ४।७५ ग विबुधकर्माणं
- ४।७६ क पुरा
- ४।७७ ख रिंसया
- ४।७७ घ वसिष्ठो०
- ४।९१ ख क्षयः
- ४।१०० पाठि० योग्य
- ५।२ ग घ शमेष्वुर्नर०
- ५।७ ख तस्मै
- ५।२९ घ वाष्पकण्ठः
- ५।३८ ख धर्माय

सर्ग इलोक पाद शुद्ध

- ५।४१ क ०चुम्बिता०
- ५।४८ ग दयितामपि
- ५।५४ क अपराः
- ५।५४ घ ०स्तपनीय०
- ५।६० ख ०वाससो विसंज्ञाः
- ५।६२ घ ०पुष्करस्य
- ५।६६ ख समुद्रभूव
- ५।६८ क तुरगावचरं
- ५।६८ ख छन्दकमित्थ०
- ५।७२ घ वराश्वं
- ५।७९ ग ०द्युतिर्वपुष्मान्
- ५।८१ क भूषितप्रकोष्ठैः
- ५।८२ ग वजति
- ६।४ ग छन्दकं
- ६।१० पिताकी
- ६।११ क ख संक्षेपात्कृतं
- ६।११ संप्राप्तो०
- ६।३२ ख मातरम्
- ६।३५ ग नार्हसि
- ६।३५ घ गतिर्मम
- ७।१५ ग केचिद्भुजङ्गैः
- ७।२६ क शरीरपीडा
- ७।२९ क पुण्यहेतुः

सर्ग इलोक पाद शुद्ध

७।४२	घ यावद्रुचितो०
७।५८	राजाका
८।७	ख ०व्वाष्ट्य०
८।११	ग जहः
८।२३	ग विषण्णवक्त्रा०
८।३७	प्रासाद०
८।४०	घ ०धमोऽभवत्
८।४१	घ चाभविष्यन्मम
८।४२	ख वाष्प
८।४३	ग स्वः
८।४८	ग तदधृतं
८।६१	घ परिभोक्तुमिच्छति
९।४	ग वेत्तु
९।१७	क तदभुद्धक्षव
९।२७	सनाथा
९।३१	क पितॄणां
९।३७	घ तत्रभवानवोचत्
१०।३१	घ लोकानपि

सर्ग इलोक पाद शुद्ध

१।१३३	(= समर्पित) कर
१।१६२	ग ०स्तुदन्
१।१६३	घ विनिवृत्तिरेव
१।१६७	क पुरुषस्य
१।२।३३	(= अन्धियों) की
१।२।४३	क श्रुत्वा
१।२।४५	ख विस्पष्टार्थं
१।२।४५	घ ०रकरोत्
१।२।९६	ग ०संसारारां
१।२।९९	मांस
१।३।१८	घ ०द्रुमप्रास०
१।३।२१	ख ०सिद्ध्यर्थ०
१।३।३५	बर्ढीके
१।३।३९	ग तस्थुर्नभस्येव
१।३।४४	ख द्रमेभ्यः
१।३।४९	ग बधाम
पृष्ठ २०३ काञ्चन०	
पृष्ठ २०४ कथित (कथ०क्त)	

✓



102.1855

Walt
S. H. K.

CENTRAL ARCHAEOLOGICAL LIBRARY,
NEW DELHI
Issue Record.

Catalogue No. Sa8K/Asv/Cha-4848-~~15~~

Author— Asvaghosa.

Title— Buddhacarita.

(~~82~~ 2 parts) P-1

Borrower No.	Date of Issue	Date of Return
--------------	---------------	----------------

"A book that is shut is"

CENTRAL ARCHAEOLOGICAL
GOVT. OF INDIA